Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत-संचयन

सुभद्रा चौधरी

नय
सी-५

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation Chennai

प्रस्तुत पुस्तक डॉ० सुभद्रा चौधरी के २८ लेखों का संग्रह है जिसमें संगीत शिक्षण, संगीत व अन्य विषयों के अंत:संबंध पर आधारित, संगीत की पारिभाषिक शब्दावली, निबद्ध-अनिबद्ध, आनन्दानुभूति और शोध जैसे विषयों पर प्रामाणिक तथा छात्रों, शिक्षकों और जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सामग्री दी गई है।

संगीत के विश्वविद्यालयस्तरीय अध्ययन-अध्यापन में छात्रों और शिक्षकों द्वारा आधार और सहायक सामग्री की जो कमी महसूस की जा रही है, यह पुस्तक उसकी आंशिक पूर्ति करेगी, ऐसा हमें विश्वास है।

लेखिका की संगीत-क्रिया की सघन शिक्षा, संगीतशास्त्र और संबद्ध विषयों के गहन अध्ययन व चिन्तन, विषय को सरल और रुचिजनक रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता तथा व्यापक दृष्टिकोण का परिचय देने वाली यह पुस्तक पाठकों के लिए प्रस्तुत करने में हमें अत्यन्त हर्ष है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदरणीया प्रेमबहनजी को

सादर

सुभद्रा
१४.३.६०

10.5

अ ९३/३४
आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत-संचयन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत-संचयन

(संगीत और संबद्ध विषयों पर लेखों का संग्रह)

आम्नाय-प्रकाशन,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

सुभद्रा चौधरी

कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

प्रकाशक : कृष्णा ब्रदर्स
महात्मा गांधी मार्ग
अजमेर-३०५००१ (राजस्थान)

© सुभद्रा चौधरी

प्रथम संस्करण : १९८९

मूल्य : १४० रुपये मात्र

मुद्रक : तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

आवरण सज्जा : प्रकाश आर्टिस्ट, अजमेर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आम्नाय-ग्रन्थालय,
सरस्वनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

इस देह के बीजरूप,

भारतीय जीवन-मूल्यों की ओर

उन्मुख करने वाले

और

अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक

कर्तव्य के प्रति

जागरूकता की प्रेरणा देने वाले

दिवंगत पिता

श्री० रामनारायण चौधरी

को

समर्पित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आशीर्वचन

"वाणी-स्तुति"

अक्षरेति अभिधानी, आकाशस्वरूपिणी ।
अनुरणनोद्भाविनी, ऐंकारगायिका ॥
स्वरविग्रहधारिणी, वर्णालङ्कारिणी ।
तानवनविहारिणी, संगीतकलाश्रया ॥
गीतरूपरंजिनी, कालकलानंदिनी ।
रागरसप्रवाहिनी, श्रवणसौख्यसरिता ।
शब्दशक्तिचारिणी, सर्व-अर्थसाधिनी ।
अमृत-आराधिनी, मंत्रमयीमातृका ॥
गौरीशिवसङ्गिनी, परमभावरंगिनी ।
ब्रह्मांडनिनादिनी, वाणी जगदम्बिका ॥

बहन सुभद्रा चौधरी लिखित 'संगीत-संचयन' के लिए
साशीर्वाद

सद्भावभावित
बलवन्तराय भट्ट

ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी,
वि० सं० २०४६,
गुरुवार,
१५ जून १९८९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्राक्कथन

अपने जीवन के लगभग २० वर्ष विभिन्न स्तरों के छात्रों को संगीत और संगीतशास्त्र का शिक्षण-अध्यापन करते हुए मुझे यह अनुभव हुआ कि विश्वविद्यालयों के संगीत विभागों और संगीत की अन्य शिक्षण संस्थाओं में, संगीत की क्रिया की विधिवत् शिक्षा की व्यवस्था होने के बावजूद, संगीत-शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के प्रति सही दृष्टिकोण का विकास अभी तक नहीं हो पाया है। संगीतशास्त्र के अध्यापन की क्रमबद्ध और उचित व्यवस्था न होने के कारण संगीत के सिद्धान्त-पक्ष की न्यूनतम स्तर की पृष्ठभूमि भी छात्र में नहीं बन पाती। उसे या तो प्रामाणिक सामग्री मिलती नहीं या ऐसे स्तर की होती है जिसे आवश्यक पृष्ठभूमि के अभाव में वह ग्रहण नहीं कर पाता और इस कारण संगीत की उच्चशिक्षा के समय गूढ़ तथ्यों को समझने में वह समर्थ नहीं हो पाता।

दूसरी ओर शास्त्र के नाम पर छात्रों के मन में यह आतंक छाया रहता है कि वह कोई अत्यन्त कठिन अथवा दुरूह वस्तु है अथवा कोई 'मरी हुई' वस्तु है जिसका जीवित यानी वर्तमान संगीत से कोई सम्बन्ध नहीं है। अध्ययन के प्रति अपेक्षित रुचि न होने और आवश्यक सामग्री प्राप्त न होने के कारण शिक्षक बन्धु भी ग़लत धारणाओं को दूर नहीं कर पाते।

छात्रों में आवश्यक पृष्ठभूमि बने, वे अध्ययन में प्रवृत्त हों, संगीत के चिन्तनपक्ष के प्रति उनमें रुचि पैदा हो, ऊपर उल्लिखित भ्रमों और शंकाओं का निराकरण हो—इसी दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक में लेखों का संकलन किया गया है। जिन लेखों को संगृहीत किया गया है, उनमें विषय से संबद्ध संपूर्ण या विद्वत् स्तर की सामग्री प्रस्तुत करना लक्ष्य नहीं है। फिर भी सामग्री की प्रामाणिकता का पूरा ध्यान रखा गया है।

संप्रदायों के उच्छेद के कारण संगीतशास्त्र की गुरुमुख से पठन-पाठन की परम्परा समाप्त हो जाने से लक्ष्य (क्रिया) और लक्षण (सिद्धान्त) में जो खाई पैदा हुई उसे दूर करने की दिशा में और प्राचीन सिद्धान्तों को आज की क्रिया के साथ व आज की क्रिया को प्राचीन सिद्धान्तों से जोड़ते हुए यथा-संभव सरल भाषा में और रुचिजनक ढंग से विषय को प्रस्तुत करने की भी लेखों में कोशिश की गई है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक में कुल २८ लेख संग्रहीत हैं। इनमें से क्रमांक ८, ९, १२, १५, १६, १७, १८, १९, २४, २५ और २८ के लेख 'संगीत' में अपने मूल या पूर्व रूप में अथवा शीर्षक-भेद से प्रकाशित हुए थे। क्रमांक ६ का लेख भातखंडे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ से प्रकाशित 'ध्रुवा' में, क्रमांक १० का संगीत एवं नाट्य संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और भारतीय दर्शन परिषद् द्वारा संयुक्त रूप से प्रकाशित पत्रिका में, क्रमांक ११ का 'पं० विष्णुकृष्ण जोशी अभिनन्दन ग्रंथ' में, क्रमांक २१ का शीर्षक-भेद से 'हलवासिया स्मृति ग्रंथ' में, क्रमांक २६ का 'संगीत कला-विहार' में और क्रमांक २७ का लेख संगीत विभाग, भोपाल विश्वविद्यालय की सेमिनार-पुस्तक में छपा था। यद्यपि इनमें से अनेक लेखों के विषय को सरल, सुग्राह्य और विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुरूप बनाने तथा पूर्व-प्रकाशन के बाद किए गए अपने अध्ययन और विचारों का समावेश करने के लिए इतने ज्यादा परिवर्तन, परिवर्धन किये गए हैं कि उनका मूल कलेवर ही बदल गया है। फिर भी इन लेखों के पूर्व-प्रकाशकों का साभार उल्लेख करना अपना कर्तव्य समझती हूँ। कुछ लेख पर्चों (research papers) के रूप में विभिन्न विचार-गोष्ठियों में प्रस्तुत हुए किन्तु अप्रकाशित थे। छात्रों के लिए उपयोगी होने के कारण उन्हें भी इस संग्रह में सम्मिलित किया गया है।

पाठक को कहीं-कहीं किसी पूर्वलेख की किसी बात की किसी अन्य लेख में पुनरावृत्ति दिखाई देगी; जैसे, संगीत-शिक्षण या निबद्ध-अनिबद्ध से सम्बन्धित लेखों में। इसका कारण यह है कि उनके विषय परस्पर किसी न किसी दृष्टि से संबद्ध हैं। विषय की स्पष्टता और स्वरूप के विश्लेषण के लिए यह पुनरावृत्ति जरूरी है।

प्रस्तुत संचयन में प्रकाशित लेख यद्यपि प्रकीर्ण हैं लेकिन क्रम और विषय की संबद्धता की दृष्टि से उन्हें ८ वर्गों में रखा गया है। प्रतीकात्मक रूप से स, रि, ग, म, प, ध, नि—संगीत के इन ७ मूल स्वरों और सप्तक के पूरक तार 'स' के आधार पर ८ वर्ग बनाए गए हैं।

शास्त्रीय संगीत और संगीतशास्त्र की विधिवत् शिक्षा का आरंभ पूज्य गुरुदेव स्व० पं० ओम्कारनाथ ठाकुर के द्वारा होने के कारण गुरुवंदना के रूप में सर्वप्रथम उनसे संबंधित दो लेख रखे गए हैं। गुरु ही शिक्षण का आधार होता है और संगीत में षड्ज ही आधार स्वर है इसलिए ये लेख षड्जरूप (स) वर्ग में है। इसके तुरन्त बाद 'संगीत-शिक्षण' शीर्षक के अन्त-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

र्गत ५ लेख हैं जिनमें संगीतशिक्षा के विभिन्न पक्षों के अलावा संगीत के चिंतन पक्ष से संबंधित पाश्चात्य विषय 'म्यूज़िकॉलोजी' की शिक्षा संबंधी लेख का भी समावेश है जिसके द्वारा अन्त:सम्बन्ध पर आधारित (interdisciplinary) अध्ययन के भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण का चंचु-प्रवेश हुआ है।

भारतीय परंपरा में विभिन्न विद्याओं के शास्त्रों का विचार परस्पर संबद्ध रूप में हुआ है, विच्छिन्न रह कर नहीं। इसी दृष्टि से 'संगीत और संबद्ध' विषय शीर्षक से तीसरे वर्ग में संगीत, नाट्य, काव्य, व्याकरण, दर्शन, छन्द आदि से संबद्ध ५ लेख दिए गए हैं। इनमें से अन्तिम लेख में पाश्चात्य 'म्यूज़िकॉलोजी' और भारतीय 'संगीतशास्त्र' की धारणा पर विशेष रूप से, किन्तु संक्षेप में, प्रकाश डाला गया है। अन्त:संबंधों की इस चर्चा के बाद संगीतशास्त्र के पारिभाषिक विषयों से संबंधित तीन लेख चौथे वर्ग में रखे गए हैं। इनमें से एक केवल पारिभाषिक संज्ञाओं से संबद्ध है, दूसरा तंत्रीवाद्यों की भरतोक्त पारिभाषिक शब्दावली को आज की वादन क्रिया से जोड़ने का प्रयत्न है और तीसरा लेख १७ वीं सदी तक का संगीत-लिपि का इतिहास प्रस्तुत करता है।

भारतीय संगीत की प्रमुख रूप से दो स्वरूपगत विशेषताएँ हैं—एक उसका पूर्वरचित यानी निबद्ध रूप और दूसरा तत्काल-स्फूर्त यानी अनिबद्ध रूप। इनसे संबंधित ५ लेख पाँचवें वर्ग में 'निबद्ध-अनिबद्ध' शीर्षक के अन्तर्गत दिए गए हैं। संगीत के छात्रों के लिए ये विशेष उपयोगी हैं।

आनन्दानुभूति का विश्लेषण भारतीय परंपरा में विचार का एक प्रमुख विषय रहा है यद्यपि उसे पश्चिम की तरह 'एँस्थॅटिक्स' के रूप में एक स्वतंत्र शास्त्र का दर्जा नहीं दिया गया। ६ठे वर्ग में आनंदबोध-संबंधी विभिन्न पक्षों पर ४ लेख हैं जो छात्रों और संगीत के जिज्ञासुओं के लिए भी रुचिकारक और उपयोगी हैं।

अन्य विषयों की तरह संगीत में भी शोध का आज विशेष महत्त्व है। इसलिए सातवें वर्ग में शोध-संबंधी तीन भिन्न पक्षों पर तीन लेख दिए गए हैं। इनमें से एक सामान्य रूप से शोध के विभिन्न पक्षों को समेटता है। दूसरा संगीत और साहित्य से संबद्ध शोध की समस्याओं पर प्रकाश डालता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है और तीसरे में संगीत तथा शिल्प संबंधी शोधकार्य के विभिन्न पक्षों को उभारा गया है।

तार 'स' का प्रयोग होने पर ही जैसे सप्तक में और संगीताभिव्यक्ति में पूर्णता आती है उसी प्रकार संगीत और उससे संबद्ध विषयों से परिचय भी तभी पूर्ण होगा जब संगीतशास्त्र में परिपूर्णता लाने वाले प्रमुख ग्रंथ 'संगीतरत्नाकर' की निरूपण-पद्धति का कुछ परिचय हो। इस दृष्टि से प्रस्तुत संकलन में तार 'स' के रूप में शाङ्र्गदेव और उनके टीकाकारों के मंगलाचरण और उपसंहार पर अन्त में एक लेख रखा गया है। छात्र इस पर विशेष ध्यान देंगे, ताकि अपनी परंपरा से वे परिचित हो सकें, ऐसी आशा है।

एक भ्रान्ति की ओर ध्यान दिलाना अपना कर्तव्य समझती हूँ। आज-कल प्रायः संगीत की शिक्षा संस्थाओं में 'संगीतशास्त्र' और 'थियरी' में यह अन्तर किया जाता है कि संगीतशास्त्र केवल ग्रन्थोक्त सिद्धान्तों से संबद्ध है और थियरी वर्तमान लक्ष्य से। जैसे, ग्राम-मूर्च्छना आदि संगीत-शास्त्र में और ध्रुपद, ख़्याल आदि थियरी के क्षेत्र के अन्तर्गत समझे जाते हैं। वास्तव में यह अन्तर समीचीन नहीं है। संगीत पर भाषा के माध्यम से जो भी चिन्तन या अभिव्यक्ति निबद्ध रूप में होती है वह सब संगीतशास्त्र में अन्तर्भुक्त है। 'संगीत-संचयन' में दोनों प्रकार के लेख हैं किन्तु भारतीय चिन्तन-परंपरा के अनुसार इसकी पूरी सामग्री संगीतशास्त्र के अन्तर्गत ही आती है।

विश्व में सर्वाधिक प्राचीन और सबसे अधिक सुदृढ़ तथा पुष्ट चिन्तन-परम्परा के प्रति छात्र आकर्षित हों इसके लिए कुछ लेखों में शास्त्रीय धारणाओं का संक्षिप्त निरूपण करके यह गुंजाइश रखी गई है कि वे स्वयं ग्रंथों को देखें और यथासंभव उनका अध्ययन करें। विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रमों के विषयों पर और सामान्य जानकारी बढ़ाने से संबंधित विषयों पर भी काफ़ी सामग्री इस पुस्तक में है। सामग्री स्वयं खोज कर निकालने और स्वयं अध्ययन-चिन्तन करने के लिए भी पाठकों को इस पुस्तक से सहायता मिलेगी। हाँ 'पका-पकाया' और 'परोसा' हुआ भोजन प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों को ज़रूर कुछ निराशा हो सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बहुत थोड़े समय में मुद्रण होने के कारण पुस्तक में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। यद्यपि शुद्धिपत्र बनाया गया है लेकिन वह बहुत भारी-भरकम न हो जाय इस दृष्टि से उन्हीं अशुद्धियों को उसमें सम्मिलित किया गया है जो बिल्कुल आवश्यक हैं। शेष को सुधी पाठक स्वयं सही कर लेंगे, ऐसी आशा करती हूँ।

विशेष परिस्थितिवश संदर्भ ग्रन्थ-सूची में कुछ पुस्तकों का विवरण नहीं दिया जा सका, इसका मुझे खेद है।

गुरु-तुल्य गुरु-बन्धु, शुभचिन्तक और 'प्रणव' परिवार में 'भैयाजी'—इस आत्मीय संबोधन से संबोधित पं० बलवन्तराय भट्ट छात्रों को ध्यान में रख कर लिखने की मुझे सलाह देते रहे हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन में मुझे उनकी सलाह से भी बल मिला है। संपूर्ण जगत् का व्यवहार अक्षर (वर्ण) के द्वारा ही होता है। इसलिए अक्षर से आरंभ होने वाली जो "वाणी-स्तुति" इस पुस्तक के लिए उन्होंने आशीर्वचन के रूप में दी है वह, वर्णरूपा और नादरूपा, वाणी के इन दो भेदों में से मेरी वर्णरूपा कृति के लिए सर्वथा सार्थक है। इसलिए 'जगदम्बा वाणी' को और 'भैयाजी' को अपना प्रणाम निवेदित करती हूँ।

इस संकलन के संबंध में उपयोगी सुझाव देने के लिये अपने छात्र और अब सहयोगी शिक्षक डॉ० श्री० अनिल बिहारी ब्योहार को मैं हृदय से आशीर्वाद और उत्तरोत्तर उत्कर्ष के लिए शुभकामनाएँ देती हूँ।

पुस्तक की प्रेस कॉपी बनाने में शोध छात्राओं कु० गुलशन सक्सेना, चेतना ज्योतिषी, सुनीता द्विवेदी, पुष्पा भट्ट और के० प्रेमलता ने तथा प्रूफ़-रीडिंग में डॉ० श्री० आदिनाथ उपाध्याय और उनके पुत्रद्वय—चि० चेतन और चि० प्रतीक तथा सुश्री गीतसुधा भट्ट ने सहायता की। इन सभी को जीवन में उत्कर्ष और सफलता के लिए हार्दिक आशीर्वाद देती हूँ। इनके अतिरिक्त प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जिन्होंने सहयोग दिया उन सबके लिए अन्तःकरण से शुभेच्छाएँ व्यक्त करती हूँ।

केवल एक महीने के अल्प समय में इस पुस्तक के बढ़िया मुद्रण के लिए तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। सुरुचिपूर्ण आवरण-सज्जा के लिए प्रकाश आर्टिस्ट, अजमेर और प्रकाशन का पूरा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आर्थिक भार उठा कर यह पुस्तक प्रकाशित करने के लिए विशेष रूप से कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर धन्यवाद के अधिकारी हैं। इस प्रकाशन संस्थान के प्राणस्वरूप श्री ओम् प्रकाश सिंगोदिया ने यह पुस्तक जल्दी तैयार करने के लिए बार-बार याद दिला कर मुझे सजग बनाए रखा जिसके फलस्वरूप अपने पूज्य पिता के निधन जैसे आघात और विषम परिस्थितियों में भी मैं यह पुस्तक तैयार कर सकी, इसके लिए उन्हें धन्यवाद दिए बिना कृतज्ञता-ज्ञापन अधूरा रहेगा। मुझे आशा और विश्वास है कि जिज्ञासु पाठक, विशेष रूप से छात्र वर्ग, 'संगीत-संचयन' का लाभ उठाकर हम सभी के परिश्रम को सार्थक बनाएँगे।

सुभद्रा चौधरी

ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी,
वि० सं० २०४६,
गुरुवार,
१५ जून १९८९

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिप्यंतरण के चिह्न

देवनागरी	रोमन	देवनागरी	रोमन
अ	a	ट्	ṭ
आ	ā	ठ्	ṭh
इ	i	ड्	ḍ
ई	ī	ढ्	ḍh
उ	u	ण्	ṇ
ऊ	ū	त्	t
ऋ	ṛ	थ्	th
लृ	ḷ	द्	d
ए	e	ध्	dh
ऐ	ai	न्	n
ओ	o	प्	p
औ	au	फ्	ph
ं अनुस्वार	ṃ	ब्	b
: विसर्ग	ḥ	भ्	bha
क्	k	म्	m
ख्	kh	य्	y
ग्	g	र्	r
घ्	gh	ल्	l
ङ्	ṅ	व्	v
च्	c	श्	ś
छ्	ch	ष्	ṣ
ज्	j	स्	s
झ्	jh	ह्	h
ञ	ñ		

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीतलिपि के चिन्ह

ग़	मन्द्रस्थान के लिये नीचे आड़ी रेखा
गं	तारस्थान के लिये ऊपर खड़ी रेखा
ग्, म्	विकृत (कोमल, तीव्र) के लिये हलन्त
पम	कण या स्पर्श के लिये ऊपर स्वर
नि प	मींड, स्वर के ऊपर उल्टा ब्रेकेट
ग । म ।	मात्रा-अवधि के लिये छोटी खड़ी रेखाएँ
म । धृ |	ताल-विभाग के लिये ऊपर से नीचे खड़ी रेखा
सां | - नि् | ला | ऽ . |	स्वर को लम्बाने के लिए (–) आड़ी रेखा, शब्द का दीर्घ उच्चारण हो लेकिन स्वर न बदले तब ऽ ; जब स्वर बदले तब .
गमप	स्वरों के द्रुत गति से उच्चारण के लिये नीचे ब्रेकेट .
×	सम
०	ख़ाली
३, ५, १३ आदि	ताल में किसी ताली का स्थान और उसकी मात्रा-संख्या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उद्धरण–संकेत

अभि०, Abhi.	अभिनवभारती
अष्टा०	अष्टाध्यायी
कल्लि०	कल्लिनाथ
काव्य०	काव्यप्रकाश
दत्ति०	दत्तिलम्
ना० शा०, N. S.	नाट्यशास्त्र
ना० शि०	नारदीया-शिक्षा
NCPA	National Centre for Performing Arts
पाणि० शि०	पाणिनीय-शिक्षा
प्रणव०	प्रणवभारती
बृह०	बृहद्देशी
भा० ल०	भावरंगलहरी
मान०	मानसोल्लास
रा० वि०	रागविबोध
विश्वा०	विश्वावसु
शार्ङ्ग०	शार्ङ्गदेव
संगी०	संगीताञ्जलि
सं० पा०	संगीतपारिजात
सं० र०, S. R.	संगीतरत्नाकर
सं० स० सा०	संगीतसमयसार
सिंह०	सिंहभूपाल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संदर्भग्रंथ-सूची

१. अनूपसंगीतांकुश, भावभट्ट-कृत, सवाई मानसिंह पुस्तकालय, जयपुर, पांडुलिपि संख्या ७५६४, पृ० १३१।

२. अमरकोष, रामाश्रमी व्याख्या सहित, अमरसिंह-कृत, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, वि० सं० २०३९।

३. चतुर्दण्डिप्रकाशिका, व्यंकटमखी-कृत, सं० ऍस्० सुब्रह्मण्य शास्त्री, म्यूज़िक ऍकेडमी, मद्रास, १९३४।

४. दत्तिलम्, दत्तिल-कृत, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९६०।

५. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन-कृत, अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका सहित, अ० आ० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

६. नाट्यशास्त्र, चार खण्ड, भरत-कृत, अभिनवगुप्त-रचित अभिनवभारती व्याख्या सहित, ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ोदा, १९५६, १९३४, १९५४, १९६४।

७. नाट्यशास्त्र, भरत-कृत, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९२९।

८. नारदीया-शिक्षा, नारद-कृत, टीका० शोभाकर भट्ट, पीतांबर पीठ, संस्कृत परिषद्, दतिया (म० प्र०), प्रथम संस्करण।

९. पाणिनीय-शिक्षा, पाणिनि-कृत, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ ऑफ़िस, वाराणसी, १९७२।

१०. प्रणवभारती, पं० ओम्कारनाथ ठाकुर-रचित, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

११. बृहद्देशी, मतंग-कृत, सं० के० साम्बशिव शास्त्री, त्रावनकोर संस्कृत सीरीज़, १९२८।

१२. भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, सुभद्रा चौधरी, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, १९८४।

१३. भावरंगलहरी, भाग २, पं० बलवन्तराय भट्ट-विरचित, वाराणसी, १९७४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१४. मानसिंह और मानकुतूहल, राजा मानसिंह-रचित, अ० हरिहरनिवास द्विवेदी, विद्यामंदिर प्रकाशन, मुरार, ग्वालियर, १९५४।

१५. मानसोल्लास, भाग ३, सोमेश्वरभूप-कृत, ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६१।

१६. रागतत्त्वविबोध, श्रीनिवास-कृत, ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा।

१७. राधागोविन्दसंगीतसार, प्रतापसिंह देव-कृत, सं० बलवंत त्र्यम्बक सहस्र-बुद्धे, पूना गायन समाज, पूना, १९१०।

१८. संगीताञ्जलि, भाग ३, पं० ओम्कारनाथ ठाकुर, १९५५।

१९. संगीतपारिजात, अहोबल-कृत, सरस्वती प्रेस, कलकत्ता, १८८४।

२०. संगीतरत्नाकर, चार खण्ड, शार्ङ्गदेव-विरचित, आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, १९४३, १९५९, १९५१, १९५३।

२१. सद्रागचन्द्रोदय, पुंडरीक विट्ठल-कृत, सं० भालचन्द्र शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९१२।

२२. संगीतसमयसार, पार्श्वदेव-कृत, सं० आचार्य बृहस्पति, श्री कुन्द कुन्द भारती, दिल्ली, १९७७।

२३. श्रृंगार-युग में संगीत-काव्य, डॉ० हेम भटनागर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

२४. हिन्दी के कृष्णभक्ति-कालीन साहित्य में संगीत, डॉ० उषा गुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, सं० २०१६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शुद्धिपत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
१३	अंतिम पंक्ति	leran	learn
१६	६	योयग्ता	योग्यता
१७	नीचे से छठी	विछिन्न	विच्छिन्न
२३	अंतिम पंक्ति	systhem	system
२७	६	निधारण	निर्धारण
३३	१३	प्राठ्यक्रम	पाठ्यक्रम
३९	१५	प्रस्तुतिकरण	प्रस्तुतीकरण (अन्यत्र भी इसी प्रकार पढ़ें)
५६	१४	'संगीतरत्नाकर' के बाद	'संगीतरत्नाकर' तथा बाद
५९	९	वाक	वाक्
६९	अन्तिम पंक्ति में जोड़ें		तथा पाणि० शि०, १।५२
७२	३	'वर्णं' (पहला वाला)	'वर्ण्'
७८	८	षडज	षड्ज
९३	२०	Arithmatic	Arithmetic
११०	नीचे से तीसरी	श्रति	श्रुति
१२८	नीचे से चौथी	बृत्ति	वृत्ति
१४०	१८	ं।	।
१५५	४	भवेत्	भवेत्
,,	५	···कैकान्था	···कैकान्या
१८७	१३	'रैंगना'	'रेंगना'
२२२	७	प्रकार	प्रकार
२७०	नीचे से दूसरी	वह	यह
३००	नीचे से छठी	यस्मात्	यस्माद्
३०३	१९	ऐसी ही	ऐसे ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन क—च

लिप्यंतरण के चिन्ह छ

संगीतलिपि के चिन्ह ज

उद्धरण-संकेत झ

संदर्भग्रंथ-सूची ट—ठ

शुद्धिपत्र ड

(स) गुरुदेव पं० ओम्कारनाथ ठाकुर

१. एक विलक्षण व्यक्तित्व १—६

२. The Tone Poet ७—१४

(रि) संगीत-शिक्षण

३. वर्तमान संगीत शिक्षण-प्रणाली का मूल्यांकन १५—२०

४. Problems of Formal Music Education in India Today २१—२५

५. विश्वविद्यालयीन संगीतशिक्षा की स्थिति और आवश्यकताओं की रूपरेखा २६—३१

६. विश्वविद्यालय-स्तरीय संगीत-शिक्षा में शास्त्रपक्ष का स्थान ३२—३६

७. 'म्यूज़िकॉलोजी' के शिक्षण की पद्धति ३७—४५

(ग) संगीत और संबद्ध विषय

८. गांधर्व, नाट्य और संगीत ४६—५८

९. संगीत और काव्य ५९—६४

१०. भारतीय संगीत की अवधारणाएँ—भाषा-सम्बन्धी चिन्तन तथा अर्थबोध और रसानुभूति की प्रक्रिया के आलोक में ६५—८३

११. भारतीय संगीत में छन्द का स्वरूप ८४—९१

१२. 'म्यूज़िकॉलोजी' और 'संगीतशास्त्र' के क्षेत्र की रूपरेखा ९२—१०८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(म) पारिभाषिक शब्द और संगीतलिपि

१३. बहुल प्रयोग के कुछ प्राचीन शब्द — १०९—१२०
१४. तंत्रीवाद्यों की वादनशैली संबंधी कुछ शास्त्रोक्त पारिभाषिक शब्द — १२१—१३३
१५. भारतीय संगीत-लिपि का इतिहास (भरत-काल से १७ वीं शताब्दी तक) — १३४—१४३

(प) निबद्ध-अनिबद्ध

१६. 'अनिबद्ध' अथवा 'आलप्ति' की पृष्ठभूमि और स्वरूप — १४४—१६४
१७. ध्रुवपद या ध्रुपद का उद्भव, विकास और वर्तमान रूप — १६५—१७५
१८. ख्याल के निबद्ध और अनिबद्ध का विश्लेषण — १७६—१८८
१९. ख्याल-संबंधी कुछ विचारणीय तथ्य — १८९—१९८
२०. उत्तर-भारतीय संगीत के वर्तमान प्रबंधों की रचना — १९९—२१२

(ध) आनंदबोध-सम्बन्धी पक्ष

२१. वाचिक अभिव्यक्ति का प्राण—'काकु' — २१३—२२६
२२. काव्य और संगीत में 'ध्वनि' — २२७—२३१
२३. संगीत द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति का स्वरूप — २३२—२४६
२४. संगीत में 'सिद्धि' — २४७—२५८

(नि) शोध

२५. भारतीय संगीत में शोध के विभिन्न पहलू — २५९—२७१
२६. सूर-काव्य के संगीत-पक्ष के विश्लेषण का दिशासूचन — २७२—२८९
२७. शिल्प में संगीत-विषयक अभिव्यक्ति के अध्ययन की संभावनाएँ — २९०—२९९

(सं) २८. शार्ङ्गदेव और उनके टीकाकारों के मंगलाचरण, आत्मपरिचय और उपसंहार — ३००—३११

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक विलक्षण व्यक्तित्व

सन् १९५३ में जब मैं अजमेर में इन्टरमीजिएट में पढ़ती थी तब पूज्य पं० ओम्कारनाथ ठाकुर से मेरा पहला अप्रत्यक्ष परिचय हुआ। एक दिन अपनी एक सखी के यहाँ मैंने उनके दो रिकॉर्ड सुने—देशकार का 'झाँझरिया झनके' और नीलांबरी का 'मितवा बालमवा'। देशकार की गड़गड़ाती तानों ने मुझे विस्मय से जड़कर दिया और उसके तुरन्त बाद नीलांबरी सुनकर कई दिन तक मन पर उसके प्रभाव की गूंज बनी रही। चित्त की उदात्त वृत्तियों को उभारने की संगीत की शक्ति का यह पहला अनुभव था। इससे पहले मैंने न कभी उनका नाम सुना था और न उनका संगीत ही सुना था। उस दिन उनसे संगीत सीखने की अभिलाषा उत्पन्न हुई।

किसी मासिक पत्रिका में उन्हीं दिनों उनके जीवन की वह घटना पढ़ी जिसमें उन्होंने लाहौर के चिड़ियाघर में क्रुद्ध सिंह पर काफ़ी की स्वरावली का प्रयोग करके उसे शान्त करके वश में किया था। बचपन में बैजू बावरा, तानसेन आदि गायकों के जीवन में घटित जिन संगीत-सम्बन्धी चमत्कारपूर्ण घटनाओं को कहानियों के रूप में सुना था उनकी यहाँ पुनरावृत्ति देखी। सच्चे संगीत में छिपी शक्ति की अनुभूति का यह दूसरा अवसर था।

अगले वर्ष जुलाई में बी० ए० की शिक्षा प्राप्त करने के लिये बनारस आने पर मालूम हुआ कि वे बनारस में ही रहते हैं तथा हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संगीत महाविद्यालय में संगीत-शिक्षा देते हैं तो मेरी खुशी का पार नहीं था। मैंने निश्चय किया कि संगीत उन्हीं से सीखूंगी। पहले दिन उनके दर्शन करने पर उनकी भव्य आकृति और व्यक्तित्व से तो मैं प्रभावित हुई ही, उनके स्नेहपूर्ण व्यवहार से पितृस्नेह का आभास भी हुआ, यद्यपि हम लोग उन्हें 'गुरुजी' ही कहते थे।

संगीत महाविद्यालय के स्तर के अनुसार मुझे द्वितीय वर्ष में ही प्रवेश मिलना चाहिए था, लेकिन शायद मेरी परिश्रमशीलता नम्रता आदि से प्रसन्न होकर ही पूज्य गुरुजी ने मुझे कण्ठ संगीत के तृतीय वर्ष में प्रवेश दिला दिया। शुरू-शुरू में जो कठिनाई मुझे होती थी, उसके कारण विद्यालय छोड़ देने का विचार उन्हें बता देने का हर रोज सोचती थी, लेकिन न जाने उनके भव्य और सौम्य व्यक्तित्व में क्या अद्भुत आकर्षण था कि उनके सामने आने पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहने की हिम्मत ही नहीं होती थी। उन्होंने मेरे मन को भाँप लिया था (यह मुझे कई वर्षों के बाद उन्होंने बताया), इसलिए कक्षा में आते ही ऐसे शब्दों में उत्साह दिलाते कि छोड़ने का विचार तिरोहित हो जाता था। कुछ समय बाद विद्यालय छोड़ने का विचार ही मुझे छोड़ देना पड़ा। उनकी सूक्ष्म दृष्टि और समस्या के समाधान के उनके ढंग अनोखे ही थे।

संगीत-शिक्षा के पहले दिन ही संगीत की उनकी कठिन गुरु-परम्परा, अनूठी शिक्षा पद्धति, असाधारण धैर्य और परिश्रमशीलता का भी अनुभव हुआ और उसी दिन गाँधीजी की प्रार्थना में गाये जाने वाले श्लोक 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः' को याद करके मन ही मन उन्हें प्रणाम करके गुरु-रूप में स्वीकार कर अपने को धन्य समझा। जब उन्होंने विलावल का 'दैया कहाँ गइलो व्रिज के बसैया' ख्याल सिखाना शुरू किया तो बड़ी कठिनाई हुई। कई दिन तक लगातार सिखाने पर भी छोटे-छोटे 'खटके' हम लोगों के गले से नहीं निकलते थे, लेकिन अत्यधिक परिश्रम के कारण उनके चेहरे से पसीने की धारा बहने लगती थी फिर भी वे बार-बार समझाते थे, प्यार से सिखाते थे और थोड़ा-सा ठीक गा लेने पर शाबाशी देकर उत्साह बढ़ाते थे। शिक्षकों द्वारा विद्यार्थियों को छोटी-छोटी भूलों पर डाँटते हुए देख-सुनकर अक्सर मुझे उनके असाधारण धैर्य और परिश्रम की याद हो आती है। विद्यार्थियों के प्रति धैर्य और परिश्रम का पाठ मुझे उन्हीं से मिला।

मनुष्य-स्वभाव का, स्वाभावानुसारी गति का उनका अध्ययन बड़ा सूक्ष्म था। व्यक्ति की चाल से ही वे स्वभाव के बारे में बता देते थे। तृतीय वर्ष में मेरी एक सहपाठिनी (जो इलाहाबाद, रेडियो की गायिका थीं) जब जाती थीं तो वे ध्यान से उनकी चाल देखते थे। तीन-चार दिन बाद कहने लगे, "...का कंठ अच्छा है, लेकिन उसकी चाल बता रही है कि वह स्थिर प्रकृति की नहीं हैं। टिकेगी नहीं।" उनका कथन अक्षरशः सत्य निकला, जब मेरी उस मित्र ने कुछ ही दिनों बाद संगीत सीखना छोड़ दिया।

सेवाग्राम आश्रम में रहकर गाँधीजी से जो समय की पाबन्दी, नियमितता, अनुशासन, स्वच्छता, व्यवस्था सीखी उसका पोषण गुरुजी के व्यक्तित्व से हुआ। महाविद्यालय का प्रत्येक कार्य नियत समय पर होता था। घड़ी की टकोर के साथ नित्य की प्रार्थना शुरू कर देना उनकी खास आदत थी। वे स्वयं सदा समय पर आते थे और इसी कारण अध्यापक, विद्यार्थी, कर्मचारी सभी समय का पूरा ध्यान रखते थे। विशेष अवसरों पर मुख्य अतिथि के आने में देर होने पर भी उनके कार्यक्रम समय से शुरू होते थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

छात्रों के उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि हर चेष्टा में मर्यादा और अनुशासन के पालन पर उनका बड़ा ध्यान रहता था। मर्यादा-भंग होने पर कभी-कभी उन्हें बड़ा उग्र क्रोध भी आता था। एक बार उन्होंने एक पद को स्वरबद्ध करके लाने के लिए छात्रों को कहा। अगले दिन एक छात्र ने किसी अन्य पद की स्वर-योजना में ही उस पद को गाकर सुना दिया। गुरुजी द्वारा इसे अनुचित कहने पर उसने मर्यादा का उल्लंघन करके उन्हें जवाब दे दिया। इस पर उन्हें इतना क्रोध आया कि सभी के सामने उसे बहुत डाँटा। उस दिन उनके उग्र रूप का भी दर्शन हुआ।

स्वच्छता और व्यवस्था तो घर में और विद्यालय में हर जगह, हर समय, प्रत्येक कार्य में दिखाई देती थी। फ़र्श, फ़र्नीचर, पुस्तक, दर्वाज़े, खिड़कियों पर ज़रा भी धूल न रहना, चादरों का कोना बिल्कुल ठीक रहना, तह लगाए कपड़ों में एक भी सलवट न होना, स्वच्छता का मापदण्ड था। एक बार अपनी मसहरी की ऐसी ही तह लगी देखकर वे मुझ पर बड़े प्रसन्न हुए थे। पत्रों, पासंलों आदि पर सुन्दर अक्षरों में अच्छे ढंग से पता लिखने या न लिखने, प्रत्येक काम को सही तरीक़े से करने या न करने में वे करने वाले की व्यवस्थितता को भाँप लेते थे। उनके निकट रहने के कारण इन दोनों गुणों का अनुभव तो हम लोगों को नित्य ही होता था।

उपर्युक्त बातें उनके सामान्य व्यक्तित्व का अंग थीं। लेकिन उनके कलाकार व्यक्तित्व के बारे में कुछ कहे बिना उनके स्वरूप का सही दर्शन नहीं होगा। १९५३ से १९६७ तक के १४ वर्षों के निकट सम्पर्क में हुए अपने अनुभव के आधार पर उस सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है।

कला और कलाकार के सम्मान की हानि का अनुभव होने पर उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचती थी। ऐसे अवसर पर कभी-कभी उनका क्रोध प्रकट हो जाता था जिसे उनके आलोचक अहंकार समझकर उनकी तीव्र आलोचना किया करते थे लेकिन संगीत और संगीतकार के बारे में फैली हुई हेय भावना को कला के उत्कृष्ट और शुद्ध स्वरूप के द्वारा दूर करके संगीतज्ञ को समाज में प्रतिष्ठा दिलाना, अत्यन्त विकट और परस्पर विरोधी परिस्थितियों में से गुज़रकर कला को चरम विकसित अवस्था तक ले जाना और विशेष रूप से जीवन के दो बड़े सुखों, जीवन-संगिनी और सन्तान का नियति के हाथों असमय छिन जाना—इन विविध संघर्षों के फलस्वरूप यदि स्वभाव में उग्रता आई, तो वह भी उसी प्रकार सह्य होनी चाहिए जैसे सन्तान का पालन-पोषण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करनेवाली माता के उग्र स्वभाव को सन्तान सहन कर लेती है। सामान्य स्थिति में उनके स्वभाव में बच्चे की सरलता और निश्छलता थी।

स्वरों के अमूर्त माध्यम से हृदय की उच्च भावनाओं की जैसी सजीव प्रतिमा वे खड़ी करते थे उससे उनके सभी श्रोता अच्छी तरह परिचित हैं। शिशु का रोना, मचलना, रूठना, गिर-गिर कर उठना, मनचाही वस्तु न मिलने पर निराश होना और अन्त में मिल जाने पर प्रसन्नता से खिल उठना—बाल चेष्टाओं के इन सूक्ष्म भेदों का बड़ा स्पष्ट दर्शन उनके द्वारा प्रयुक्त दुर्गा की स्वरावली में होता था। मक्खन चुराकर खा जाने के बाद मक्खन लगे मुँह से 'मैया' को यह सफ़ाई देना कि 'मैं नहीं माखन खायो' इतने बड़े सच को झुठलाकर अपनी सफ़ाई द्वारा मैया को विश्वास दिलाने जैसा असम्भव कार्य सूरदास जी के बाद उनके जैसे भक्त हृदय के अतिरिक्त और कौन कर सकता था? अपनी सन्तान न होते हुए भी बाल चेष्टाओं का जैसा सूक्ष्म अनुभव उन्होंने किया था वह आश्चर्यजनक था। वे कहा भी करते थे "शायद उन चेष्टाओं का अन्तर्दृष्टि से साक्षात्कार कराने के लिए ही प्रभु ने हमें सन्तान देकर भी उसका मुख देखने से पहले ही उसे छीन लिया।"

भाषा में 'काकु' यानी स्वरभेद को ही वे मुख्य रूप से अभिव्यक्ति का कारण मानते थे, इसीलिए अक्सर कहा करते थे "स्वर के बिना शब्द पंगु है। लेकिन शब्द के बिना केवल स्वर के माध्यम से भी भाव प्रकट किया जा सकता है।" इसका विलक्षण अनुभव तब हुआ जब अमेरिका के प्रसिद्ध 'वेंस्ट मिन्स्टर कॉयर-ग्रुप' के बनारस आगमन पर उन्होंने अपना प्रिय भजन 'रे दिन कैसे कटिहैं' गाया। उस समय भारतीय भाषा को न समझने वाले उन विदेशी कलाकारों के नेत्र भी स्वरों में 'अन्तर चीर' कर रखने का अनुभव करके सजल थे और इस स्वरभीने स्वागत पर धन्यवाद देते समय उनके सहृदय "डाइरेक्टर" का कण्ठ भी अवरुद्ध हो गया था।

पक्षाघात जैसी भयङ्कर व्याधि में जकड़े होने के कारण शिष्यों से अपने प्रिय रागों में प्रिय भजनों को सुनने पर स्वयं न गा सकने की उनकी बेबसी देखकर सहसा उनके उस स्वरूप का स्मरण हो आता था जब वे 'वन्दे-मातरम्' गाते समय पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी भारतमाता की बेबसी और दुर्बलता को 'माँ तुमि अबले' में व्यक्त करके 'बाहु दे माँ तुमि शक्ति' में स्वरों के माध्यम से, अपने कण्ठ की सिंह गर्जना से उसके शक्तिमय स्वरूप का बोध कराकर अन्त में जयघोष करके माता की वन्दना किया करते थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लौकिक प्रेम के प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक प्रेम की सूफ़ी सन्त परम्परा में उनका स्व-निर्मित पद 'जिया को मिलने की आस' पद और गेय का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसे गाते-गाते एक बार उन्होंने सम्पूर्ण वातावरण को ऐसा करुणा-मय बना दिया था कि सभी के नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। उनसे यह पूछने पर कि वे महफ़िलों में उस पद को क्यों नहीं गाते उन्होंने उत्तर दिया "सारी सभा को इतना रुलाना भला नहीं लगता।" इसी कारण उस पद को वे महफ़िलों में नहीं गाते थे।

स्वरों पर उनका ऐसा अधिकार था कि परस्पर-विरोधी भावों को भी जब चाहें एक साथ अभिव्यक्त कर सकते थे। लय के विभिन्न प्रयोग करके जहाँ वे वैचित्र्य उत्पन्न करने की क्षमता रखते थे वहाँ द्रुत गति की विशिष्ट तानों का प्रयोग करके बादलों की रिमझिम तथा अत्यन्त द्रुत लय की गमकयुक्त तानों का प्रयोग करके कभी मेघ की गर्जना और कभी बिजली की कड़क का अनुभव कराने में भी सिद्ध थे। ध्वनि में बल या आघात से विभिन्न भावों को व्यक्त करना उनके लिए मामूली बात थी और आयुभेद को तो अपने कण्ठ द्वारा वे अक्सर प्रदर्शित किया करते थे। ध्वनि की सभी विशेषताओं पर उनका विलक्षण प्रभुत्व था। वे संगीत की ऐसी दुर्लभ विभूति थे जो अनेक सदियों में कभी एक बार जन्म लेती है।

१९६५ के मई महीने में पक्षाघात से पीड़ित होने पर ही संगीत जगत् से तो उनका सम्बन्ध विच्छेद हो गया था लेकिन २९ दिसम्बर १९६७ को उनका इस संसार से पूरी तरह सम्बन्ध छूट गया। 'जोगी' की पुकार पर अनेक सभाओं में सहस्रों लोगों को जाने से रोक देने वाला कलाकार 'जोगी' की ही भाँति असंख्य श्रद्धालुओं, स्नेहियों, संगीतप्रेमियों, शिष्यवृन्द और भक्त हृदयों को, सम्पूर्ण संगीत जगत् की पुकार को अनसुनी करके चला गया! नादब्रह्म का उपासक असंख्य हृदयों में उसके स्फुलिंग प्रज्वलित करके स्वयं नाद में लीन हो गया!!

उनका व्यक्तित्व सामान्य रूप से परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले गुणों, धर्मों और भावों का विलक्षण संगम था। उनके कण्ठ में, कला में, संगीत में हिमालय का अचल गांभीर्य और सागर की अतल गहराई; सूर्य का प्रचण्ड तेज और चन्द्रमा की शीतल चाँदनी; उषा की जागृति और संध्या का विषाद; प्राची दिशा की कमनीयता तथा विकास और पश्चिम दिशा का अवसाद; वसन्त का उल्लास और वर्षा का भीना सूनापन; उमड़-घुमड़कर घिरते-गरजते मेघों का गर्जन और रिमझिम बरसती फुहारों की सिहरन; नदी की कलकल करती मन्थरता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और झरने का उद्दाम वेग; रात्रि की नीरव शान्ति और दिन की मुखरता; बिजली की कड़क और लहरों का इठलाना; मिलन की अकुलाहट और वियोग की निराशा; पुरुष का बल और स्त्री की कोमलता; शैशव की मचलन और यौवन का उत्साह था। उनमें भक्त का हृदय, कलाकार की कला, कवि की प्रतिभा, भावुक की भावप्रवणता, शिक्षक का धैर्य, मार्गान्वेषी का साहस, 'मिशनरी' की लगन, साधक की साधना, तपस्वी का तप, गुरु का चारित्र्य-बल, सत्यान्वेषी की सजगता, बालक की निश्छलता, युवा का उत्साह, वृद्ध की अनुभव-परिपक्वता थी। उनमें साहित्य, संगीत और कला का त्रिवेणी संगम था; रस-भाव, छन्द-अलंकार तथा भाषा-पद की मर्मज्ञता थी। कैसे कहा जा सकता है कि उनके भीतर का कलाकार श्रेष्ठ था या व्यक्ति? सभी कुछ तो अनुपम था, अद्वितीय था, विलक्षण था—कलाकारत्व भी, मनुष्यत्व भी, गुण भी, दोष भी। वे संगीतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे, संवेदनशील कलाकार और उत्तम प्रकृति के मनुष्य थे और मानव देह में गन्धर्व थे।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

THE TONE POET

A most luminous star on the horizon of Indian music, Pandit Omkarnath Thakur, acquired his corporeal form on 24th June, 1897 at the Jahāj Grām in Bhādaraṇa Tahsīl (present District Cambay) of former Baroda State. Despite a poverty-striken childhood, caused by family strifes, his life is a legend of miraculous acts and events exhibiting physical strength, valour, brilliance, self-confidence, self-respect, sense of discipline and duty, devotion towards parents, achievements in yoga-sādhanā and his sādhanā and siddhi in music. Since it is not possible to describe his multifarious talents, a brief account of only his accomplishment in music can be given here.

Panditji started his training in music under the great saint musician Late Pandit Vishnu Digambar Paluskar at the age of 13 years and completed it within a short period of 6 years. Although he had imbibed almost all the characteristics of his Guru's style, he, later enriched his style by incorporating characteristics from the styles of other musicians. In his music there was a perfect blending of the three components of music-'svara', 'laya', and 'pada'.

He was primarily a khyāl-singer but could perform Dhrupad and Thumri also with equal skill and proficiency. However the erotic nature of Thumri did not agree with his 'sāttvika-prakṛti' and therefore he did not like to perform it.

According to Sanskrit grammer the word 'Rāgā' means 'that which colours'. In Indian music melodies with particular characteristics are called Ragas because they colour the mind of the listener with their own colour just as a piece of cloth is coloured when dipped in a particular dye. Panditji was adept in being able to colour the minds of his audience with the emotional colour of Ragas like Todi, Jogi, Nilambari, Gauri, Bhairavi, Bageshri, Malkaunsa etc. In a way this unique characteristic of Indian music reached at climax in hi.m

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Pandit Omkarnath Thakur established a standard of correctness and purity of Ragas in Hindustani music. Just as minute change in a line may completely alter the figure or expression in a drawing, similarly, slight variations in the rendering of musical notes or changes in register, rhythm or intonation—'kaku'—can alter the character of a Raga in Hindustani music. He had a very clear conception of this and had demonstrated it with perfect clarity. It is no exaggeration to say that he had a vision of the 'Svara-deha' (tonal body) and 'Bhāva-deha' (emotional body) of Hindustani Ragas. He could thus express through the Ragas various emotions like pathos, anger, delight etc., manliness and womanliness, changes in the nature of man and woman arising out of the difference in age and temperament and the states of union and seperation, the various stages in the human life like infancy, adolescence, youth etc., the subtle and fine shades of emotions which succeed one another in the rendering of a particular Raga. All this he conveyed through the tonal medium without resorting to any help of words.

Abhinavagupta, the commentator of the 'Nāṭyaśāstra', while giving the lakṣaṇa of Svara states—

शब्दस्वभावां चित्तवृत्तिं मध्यस्थतारूपस्वास्थ्यावस्थापरित्याजनेनोपताप-
यन्तो हृद्यतातिशयवशात् स्वतामाक्षिपन्तः स्वाभिधानं कुर्वंत स्वरा इत्युक्ताः ।[1]

that 'svara' is that which releases the mind from its 'nirvikāra' state, melts it and due to its melodiousness imposes itself on the mind so intensely that the mind is completely absorbed in svara. Panditji had known the secret of this lakṣaṇa. The svaras used by him conveyed something which had to be experienced and which defied expression through words.

'Ālāpa', Ālapana' and 'Ālapti' are the core of Indian music and they express the total personality of a Raga. The primary meaning of all these words is 'to say'. In Indian music, particularly in Hindustani music, through Ālāpa, some-

1. N. S., Abhi., ch. 28, pp. 10-11.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

thing is 'said' or 'expressed' which is nothing but emotion. Panditji, through elaborate Ālāpa of a Raga, used to carry the minds of his listeners to a level which is described, in Indian Philosophy and Rasaśāstra, as 'Tadrūpatā' (formal correspondence) and 'Tanmayatā' (complete identification).

Verbal expression is of two kinds—1. that which is done through words and 2. that which is done only through svaras Such musicians are rare who can express emotions through svaras without employing words. Panditji had full command over the latter and he could express whatever and whenever he desired. A 'dhīra' and 'gambhīra' prince of twenty-five through Raga Darbari, a 'mugdhā nāyikā' of sixteen through Asavari, an 'uddhata' man through Hindola, a 'khaṇḍitā nāyikā' through Sohani, a woman in seperation waiting and preparing for union through Bageshri, a 'kāmātur' woman with all her airs and graces through Khamaj, an infant moving on all fours, stepping forward and stopping, falling and getting up and sulking through Durga, a tired labourer returning home with slow pace at sun-set through Purvi, intolerable and intense feeling of seperation through Todi, disappointment arising out of long seperation through Jogi, loss of all hopes of union and the consequent feeling of 'nirveda' through Gauri—he could thus express all these situations and feelings through svaras with such accomplishment that while listening to the performance a visual image would be created in the mind of the listener. Due to this unique characteristic of his style he gained a high position among musicians.

His voice comprised of almost all the qualities, described in Śāstra, such as 'madhuratā' (melodiousness), 'ślakṣṇatā' (continuity), 'loca' (flexibility combined with tenderness), 'anudhvani' (resonance), 'gambhīratā' (profundity), 'rañjakatā' (colouring), 'komalatā' (softness), 'ghanatā' (density and volume), 'tristhānavyāpti' (effortless moving in the three registers) etc., and he acquired miraculous control over breath through practice. In his youth he could sustain a single note

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Pandit Omkarnath Thakur established a standard of correctness and purity of Ragas in Hindustani music. Just as minute change in a line may completely alter the figure or expression in a drawing, similarly, slight variations in the rendering of musical notes or changes in register, rhythm or intonation—'kaku'—can alter the character of a Raga in Hindustani music. He had a very clear conception of this and had demonstrated it with perfect clarity. It is no exaggeration to say that he had a vision of the 'Svara-deha' (tonal body) and 'Bhāva-deha' (emotional body) of Hindustani Ragas. He could thus express through the Ragas various emotions like pathos, anger, delight etc., manliness and womanliness, changes in the nature of man and woman arising out of the difference in age and temperament and the states of union and seperation, the various stages in the human life like infancy, adolescence, youth etc., the subtle and fine shades of emotions which succeed one another in the rendering of a particular Raga. All this he conveyed through the tonal medium without resorting to any help of words.

Abhinavagupta, the commentator of the 'Nāṭyaśāstra', while giving the lakṣaṇa of Svara states—

शब्दस्वभावं चित्तवृत्ति मध्यस्थतारूपस्वास्थ्यावस्थापरित्याजनेनोपतापयन्तो हृद्यतातिशयवशात् स्वतामाक्षिपन्तः स्वाभिधानं कुर्वंत स्वरा इत्युक्ताः ।[1]

that 'svara' is that which releases the mind from its 'nirvikāra' state, melts it and due to its melodiousness imposes itself on the mind so intensely that the mind is completely absorbed in svara. Panditji had known the secret of this lakṣaṇa. The svaras used by him conveyed something which had to be experienced and which defied expression through words.

'Ālāpa', Ālapana' and 'Ālapti' are the core of Indian music and they express the total personality of a Raga. The primary meaning of all these words is 'to say'. In Indian music, particularly in Hindustani music, through Ālāpa, some-

1. N. S., Abhi., ch. 28, pp. 10-11.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

thing is 'said' or 'expressed' which is nothing but emotion. Panditji, through elaborate Ālāpa of a Raga, used to carry the minds of his listeners to a level which is described, in Indian Philosophy and Rasaśāstra, as 'Tadrūpatā' (formal correspondence) and 'Tanmayatā' (complete identification).

Verbal expression is of two kinds—1. that which is done through words and 2. that which is done only through svaras Such musicians are rare who can express emotions through svaras without employing words. Panditji had full command over the latter and he could express whatever and whenever he desired. A 'dhīra' and 'gambhīra' prince of twenty-five through Raga Darbari, a 'mugdhā nāyikā' of sixteen through Asavari, an 'uddhata' man through Hindola, a 'khaṇḍitā nāyikā' through Sohani, a woman in seperation waiting and preparing for union through Bageshri, a 'kāmātur' woman with all her airs and graces through Khamaj, an infant moving on all fours, stepping forward and stopping, falling and getting up and sulking through Durga, a tired labourer returning home with slow pace at sun-set through Purvi, intolerable and intense feeling of seperation through Todi, disappointment arising out of long seperation through Jogi, loss of all hopes of union and the consequent feeling of 'nirveda' through Gauri—he could thus express all these situations and feelings through svaras with such accomplishment that while listening to the performance a visual image would be created in the mind of the listener. Due to this unique characteristic of his style he gained a high position among musicians.

His voice comprised of almost all the qualities, described in Śāstra, such as 'madhuratā' (melodiousness), 'ślakṣṇatā' (continuity), 'loca' (flexibility combined with tenderness), 'anudhvani' (resonance), 'gambhīraṭā' (profundity), 'rañjakatā' (colouring), 'komalatā' (softness), 'ghanatā' (density and volume), 'tristhānavyāpti' (effortless moving in the three registers) etc., and he acquired miraculous control over breath through practice. In his youth he could sustain a single note

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

for more than 2 minutes. The listners in Europe had compared his voice to that of Caruso, the Italian singer, a voice which was considered never to be heard again. It is a fact that Panditji's audience consisted of laymen and musicians and even in his performances of classical music he captivated the hearts of all alike. The credit of much of it goes to his voice. Saṅgītaratnākara states :—

> रागाभिव्यक्तिशक्तत्वमनभ्यासेऽपि यद्ध्वनेः ।
> तच्छारीरमिति प्रोक्तं शरीरेण सहोद्भवात् ।।२।।[2]

that the quality of voice due to which Raga is fully expressed even without practice, is born with 'Śarīra' (body) and hence it is called 'Śārīra' (inborn good voice). Panditji was blessed with 'Suśārīra' and through practice he made it, to quote the words of Saṅgītaratnākara, 'āyatta' (under one's control).

His style was a beautiful blending of the main characteristics of important gharānās of Khyal-singing. His style contained correctness of notes, ālāpa, boltān, simple and curved tāns, gamakadār (tāns with forceful strokes of other notes on the main notes) and 'dānedār' tans (tāns in which each note is very clear), clarity of notes even in tāns with intricate pattern and rhythm, variety of 'tihāyīs' (a part of the composition or svara-phrase employed thrice), clear and correct pronunciation of words and a balance of the three qualities of sound, viz., pitch, intensity and timbre. He made his style more expressive and emotional by giving 'kāku' (intonation) its due place. The technical and emotional aspects of music were equally balanced in his style.

On the one hand he created the image of a Rāga using just a few notes while on the other he, sometimes, elaborated a Rāga with Ālāpa for two hours or more with ever-changing svara-patterns and emotions and thereby making the audience completely absorbed in music. The climax of 'bhāva' and

---

2. S. R., 3/82.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'ānanda' could be experienced in his rendering of devotional songs which blended the classical and non-classical styles. The audience was swept away in the stream of devotion and music. Through his imagination he enriched his Guru's style of rendering devotional songs. Even a single devotional song from among 'jogī mata jā', 'maiyā mori main nahīn mākhana khāyo', 're dina kaise kaṭi hain' 'chadariyā rāmanāma rasabhīnī', 'kanhaiyā nāva karo morī pāra' sung by him is sufficient to immortalize his music. On several occassions his songs brought tears of joy among thousands of his listeners.

Pandit Omkarnathji had developed a characteristic style of singing 'Vande Mātaram' in which notes employed by him gave life to each word and manifested the 'svarūpa' of the mother and created a unique atmosphere of patriotism. Reacting to his first performance of this song at the Calcutta session of the All India Congress Committee the public and the press expressed that had Bankimachandra been alive he would have showered affection on him.

Music is said to be a universal language. The universal character lies in its capacity to express bhāvas even without employing words and if words are there music becomes a medium of expressing emotions and their fine shades attached with the primary meaning of the words. Panditji proved the presence of this characteristic in Indian music. This was possible for him for he knew well what notes convey what bhāva. He had full command over notes. There were many occassions in India and abroad when he performed before the audience consisting of foreign composers, performers, musicians and other listeners. Though they did not understand the meaning of the words, their experience corresponded to the meaning of the text of the song and the emotions expressed by Panditji.

In the field of operas two experiments are monumental. One of them was the music composed for the selected pieces from the original text of the epic, 'Kāmāyanī' of Jayashankara Prasad, the noted Hindi poet and writer. The other was a

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

unique and even more difficult experiment than the previous one. For this, he took selected pieces from a prose drama- 'Kāmanā'—(by the same author) and composed it in the form of an opera. Both these were staged by the students of the Music College in Banaras Hindu University. The litterateures and literary critics, commenting on the first said that only after hearing this musical rendering they could fully experience the real meaning of 'Kāmāyanī'. The meanings and emotions which could not be expressed through the words were now made manifest by the music employed by Panditji and the acting inspired by that music. The delightful and thrilling experience of the 'triveṇī-saṅgama' of 'svara' (music), 'śabda' (literature) and 'abhinaya' (acting) in these operas is remembered by the connoisseurs of music, literature and drama even today.

The compositions of Panditji in various forms such as khyal, dhrupad, dhamar etc., under the pen-name of 'Praṇavarang', prove him as a 'Vāggeyakāra' (poet composer) par excellence. The secret of his excellence as a composer lies in the fact that he possessed almost all the qualities of a Vāggeyakāra described in Indian musical treatises.

The experiments conducted by him on plants, animals and human beings to investigate and examine the phychological effect and the therapeutical value of Raga reveals the researcher in him. By employing the notes of Kafi he pacified an extremely fierce lion, newly brought into Lahore Zoo. He not only succeeded in calming it but in the end the eyes of the animal showed signs of love and it tried to stroke him gently with its claws. By singing a specific form of Hindustani Bhairavi to plants in Sir Jagadishchandra Basu's laboratory he succeeded in making the plant look very cheerful and thereby helped it in its growth. By rendering the ālāpa of Puriya (employing Komala Dhaivata) in Mandra and Madhya registers, with two tambūrās tuned to Śuddha Gāndhāra and Śudha Niṣāda respectively he successfully treated many patients suffering from in-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

somnia and through Devagiri Bilavala and Gauda-Saranga cured those suffering from low blood pressure.

He was the first Indian musician to represent India at an International Music Conference. In 1933 he attended the Conference at Florence and impressed large audiences in Europe with his music. Through his concerts in India, Nepal, Afghanistan and Europe he earned name, fame and wealth but used to attribute the credit to his Guru.

In North India it was the time when music was considered to be an occupation of low kind, musicians were treated with contempt in the society and children belonging to respectable families were not allowed to take training in music. Panditji's Guru, Pt. Vishnu Digambar Paluskar, had dedicated his life to this sacred cause of elevating musicians to a respectable position in the society. Panditji's life shows that he had also dedicated himself to the same cause although his way of carrying out the work was of a different nature. Sometimes his firm and sharp attitude, self-respect and straightforward nature were taken to be failures and some even considered him to be an egoist. But it should be remembered that the strong attitude adopted by him on several occassions was not for personal reasons but for the cause for which his Guru and he himself had struggled.

He was conferred many titles and special honours in India and abroad by various institutions and persons but he considered the love, affection and appreciation showered on him by his audiences as the greatest honour. He expressed his acceptance of this honour by infusing more life into his music. His performances were listened to with rapt attention, a feature very rare in Indian concerts.

As a good teacher his talents are well-known among his students and people closely connected with him. He was proficient in teaching intricate, difficult and fine musical phrases in such a simple manner that the students could leran them

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

without much difficulty. He had evolved a new systematic and easy method of teaching which proved to be very successfull. Music training has been imparted accordingly in the Music College started and run under his Principalship (now the Faculty of Performing Arts) of the Banaras Hindu University. This was the first Music College started in an Indian University which is a living monument of Panditji that has produced good musicians, teachers and researchers.

The musicological sections of 'Saṅgītañjali', series prepared as text books for practical music, and 'Praṇava-bhāratī' bear testimony to his musicological studies.

The writer of this article had the good fortune of being his student and getting training in vocal music from him for more than 5 years, of being closely associated with him, of receiving fatherly love and affection from him, of listening to many of his concerts and having direct experience of his musical accomplishments, of assisting him in many of his publications and of perceiving personally many rare qualities in him. Hence it will not be out of place to mention here the most luminous aspect of his music.

The highest aim of music is described as 'sādhanā' of 'bhukti' (enjoyment) and 'mukti' (liberation). The practical aspect of 'bhukti' is enjoyment of 'ānanda' and of 'mukti' is that of liberation from 'rāga-dveṣa'. Panditji had been in a state of 'bhukti' and 'mukti' during many of his performances in the sense that he experienced bliss and was free from pleasures and pains during those moments. He carried the minds of the audience to a level where the distinction between 'sva' and 'para' disappears, where the awareness of one's existence is completely lost, where the stage of complete 'tāṭasthya' (detachment) and 'tādātmya' (identification) is achieved, where the 'sāttvika-bhāvas' such as 'aśru' (tears), 'pulaka' (thrill), 'svarabheda' (changes in voice due to emotions) etc. appear, where the wordly experiences of pleasure and pain disappear and perfect bliss pervades—a stage of 'vigalitavedyāntaraśūnyatā'.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्तमान संगीत शिक्षण-प्रणाली का मूल्यांकन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के फलस्वरूप भारतीय समाज आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों में परिवर्तनों के दौर से गुज़रा। राष्ट्रनिर्माण की दृष्टि से नये-नये प्रयोग होते रहे। किन्तु जहाँ एक ओर विज्ञान और तकनीकी शिक्षा में प्रयोगों की बाढ़ सी रही वहीं दुर्भाग्य से संगीत का क्षेत्र लगभग क्रियाशून्य रहा। इस अकर्मण्यता के कारण शिक्षा के क्षेत्र में संगीत का अभी भी वह स्थान नहीं बन पाया है जो अन्य विषय काफ़ी पहले ही बना चुके हैं। फिर भी भूतकाल में हम क्या कर पाये, वर्तमान में क्या कर रहे हैं और भविष्य के लिये क्या आवश्यकताएँ और अपेक्षाएँ हैं इस पर विचार करने की जो शुरुआत कुछ समय से हुई है वह सक्रियता की सूचक है और यह आशा की जा सकती है कि इससे संगीत के क्षेत्र में अधिक जागरूकता और क्रियाशीलता आयेगी।

भारत में संगीत की शिक्षा-प्रणाली प्रमुख रूप से दो प्रकार की रही है—एक व्यक्तिगत पद्धति जिसे गुरुकुल पद्धति के रूप में जाना जाता है और दूसरी संस्थागत पद्धति। प्रायः १९वीं सदी के अन्त तक संगीत शिक्षा गुरु-शिष्य परम्परा से ही दी जाती रही, यद्यपि संस्थागत शिक्षण की शुरुआत लगभग १८८० ई० के आस-पास जामनगर के पं० आदित्यराम, बड़ोदा में मौलाबख्श और कलकत्ता में सुरेन्द्र मोहन टैगोर के द्वारा हो चुकी थी। वास्तव में संगीत की शिक्षा-संस्थाओं के युग का सूत्रपात पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर तथा कुछ आगे चलकर पं० विष्णु नारायण भातखंडे के द्वारा हुआ और इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप २५-३० वर्षों में ही पूरे उत्तर भारत में संगीत की शिक्षा-संस्थाओं का जाल बिछ गया।

वर्तमान पद्धति की पूर्वपीठिका के रूप में संक्षेप में गुरुकुल पद्धति पर दृष्टि डाल लेना अप्रासंगिक न होगा। इस परम्परा में संगीत की प्रतिभा, योग्यता और लगन से युक्त तथा कलाकार बनने का लक्ष्य रखने वाले व्यक्ति संगीत की शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरु के प्रति श्रद्धा रखकर परिश्रम और साधना करते थे, दिन-रात संगीत के वातावरण में रहने से संगीत के संस्कार पुष्ट होते थे और पर्याप्त मार्गदर्शन मिलता था। इस पद्धति में आधुनिक अर्थ में विशेष पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, परीक्षा प्रणाली, विशेष साधन और सुविधाएँ तथा उपाधि आदि में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से कुछ नहीं था फिर भी अन्त में व्यक्ति कलाकार बनकर निकलता था। किन्तु आगे चलकर विकसित 'घराना' पद्धति में इसका दूसरा पक्ष भी था। प्रायः व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाता था तथा कलाकार एकांगी रह जाता था। समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप में जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनका विकास न हो पाने से वह समाज से कटा रहता था। व्यक्ति की योग्यता और रुचि होने पर भी कभी-कभी वह गुरु की व्यक्तिगत रुचि, राग-द्वेष और मनमौजीपन का शिकार बनकर संगीत की शिक्षा से वंचित रह जाता था। इन कारणों से संगीत अन्य विषयों के स्तर का नहीं माना जाता था और संगीतज्ञ को समाज में सम्मान प्राप्त नहीं था।

संगीत का सस्थागत शिक्षण दो प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से होता है— एक तो केवल संगीत की शिक्षा देने वाली और दूसरी अन्य विषयों के साथ संगीत की शिक्षा देने वाली संस्थाएँ। इनमें से प्रथम में संगीत विद्यालय और विश्वविद्यालयों के संगीत विभाग आते हैं और दूसरे वर्ग में सामान्य विद्यालय तथा महाविद्यालय जिनमें दूसरे विषयों के साथ-साथ संगीत की शिक्षा भी दी जाती है। दोनों का क्षेत्र भिन्न होते हुए भी ये सभी किसी न किसी प्रकार एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं।

संगीत शिक्षा को गुरुकुल पद्धति के स्थान पर संस्था के माध्यम से देने के मुख्य प्रयोजन ये हैं—(१) अन्य विषयों के समकक्ष लाना, (२) अनियमितता और मनमौजीपन को दूर करना (३) यथासम्भव अधिक सुलभ बनाना और (४) समाज में संगीतज्ञ को पुनः सम्मान दिलाना। वास्तव में गुरुकुल पद्धति की कमियों को दूर करना ही संस्थागत संगीत शिक्षण के जन्म का मूल कारण रहा है। संस्थाओं ने इन प्रयोजनों को पूरा करने में काफ़ी हद तक सफलता पाई यद्यपि अनेक नई समस्याएँ उभरकर सामने आई हैं जिन पर आगे विचार किया जायगा।

संगीत शिक्षा के चार पक्ष हैं—(१) लक्ष्य का निर्धारण, (२) विद्यार्थी में संस्कार परीक्षण, (३) उचित शिक्षा पद्धति और (४) योग्य शिक्षक। संगीत शिक्षा के दो लक्ष्य अथवा प्रयोजन हो सकते हैं—१. संगीत के प्रति समझदारी पैदा करना और २. संगीत की व्यावसायिक शिक्षा देना। ये दोनों परस्पर भिन्न हैं और भिन्न प्रकार की योग्यता तथा शिक्षण की अपेक्षा रखते हैं। इनमें से प्रथम क्षेत्र में संगीत के संस्कार डालना, संगीत का आनन्द उठाने की क्षमता पैदा करना और तदनुकूल आवश्यक जानकारी देना आता है। दूसरे में पाँच

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मुख्य क्षेत्र हो सकते हैं—(१) सामूहिक संगीत में प्रयोग की क्षमता पैदा करना, (२) एकल गायन अथवा वादन की योग्यता पैदा करना, (३) अच्छे संगीत शिक्षक बनाना (४) अनुसंधानकर्ता तैयार करना (५) संगीत के विवेकयुक्त श्रवण और समीक्षा की योग्यता पैदा करना। इनमें से प्रथम दो का सम्बन्ध संगीत क्रिया से, तीसरे का शिक्षण से, चौथे का क्रिया की भित्ति पर आधारित शास्त्र के अध्ययन से तथा पाँचवें का सम्बन्ध संगीत क्रिया और शास्त्र के ज्ञान से है। इनके अनुसार अथवा बालकों में संस्कार डालने के लक्ष्य से अथवा प्रौढ़ों में संगीत की समझदारी पैदा करने की दृष्टि से लक्ष्य के आधार पर संगीत शिक्षण के लिए संस्कार का परीक्षण भी ज़रूरी है। संगीत की सामान्य शिक्षा के लिये किसी विशेष प्रकार के संस्कार की आवश्यकता नहीं किन्तु विशेष शिक्षा के लिये स्वर और लय की पकड़ मौलिक योग्यता है। इसके अभाव में संगीत की शिक्षा देने का अर्थ संगीत की आत्मा का हनन तथा समय और शक्ति का अपव्यय है। अभी तक अधिकांश संस्थाएँ इस ओर जागरूक नहीं हैं।

शिक्षा पद्धति के मुख्य तीन घटक हैं—पाठ्यक्रम, पाठ्यसामग्री और मूल्यांकन। अभी तक लक्ष्य का ही निर्धारण नहीं हुआ है इसलिये इस प्रकार के पाठ्यक्रम भी नहीं हैं। केवल एकल गायन-वादन के पाठ्यक्रम बने हुए हैं। गान-वादन परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ और मर्यादाएँ हैं। इसलिये आवश्यकतानुसार दोनों के पाठ्यक्रमों में भेद की सम्भावना को ध्यान में रखना ज़रूरी है। पद्धतियों, घरानों और परम्पराओं की विशेषताओं को सम्भालते हुए तथा उनकी कट्टरता और संकुचित दायरों से निकलकर देश, काल, व्यक्ति और लक्ष्य-सापेक्ष पाठ्यक्रमों का निर्धारण सबसे पहली ज़रूरत है।

विभिन्न स्तर के विद्यार्थियों के लिये पाठ्यसामग्री का तो अभाव हो है। जो पुस्तकें या सामग्री उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश या तो विद्वानों के स्तर की हैं या अप्रामाणिक। इसलिये शिक्षकों और छात्रों के सामने सामग्री जुटाने की समस्या बनी रहती है। इसलिये पाठ्यपुस्तकों का निर्माण भी प्राथमिक आवश्यकता है।

अभी मूल्यांकन के लिये परीक्षा का जो ढांचा है उसमें शिक्षा और परीक्षा एक दूसरे से बिल्कुल विच्छिन्न हैं, परीक्षा भय और आतंक की वस्तु है तथा शिक्षणकाल की प्रगति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसमें भी परिवर्तन अपेक्षित है।

गुरुकुल पद्धति में यद्यपि पाठ्यक्रम, पाठ्यसामग्री और मूल्यांकन के लिये कोई निर्धारित क्रम, बंधन अथवा नियम नहीं रहता था फिर भी गुरु और शिष्य

२

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की व्यक्तिगत शक्ति, योग्यता और रुचि के भेद के अनुसार इन तीनों का समावेश किसी न किसी रूप में होता ही था।

संस्थागत संगीत शिक्षण की सफलता अथवा असफलता अधिकांशतः शिक्षक पर निर्भर है क्योंकि वही इस कार्यक्रम की धुरी है। इसलिए उसका बड़ा उत्तर-दायित्व है। इस दृष्टि से शिक्षकों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। अभी तक इस दिशा में कार्य शून्य है। संगीत शिक्षकों को अत्यन्त विषम परिस्थितियों में कार्य करना पड़ता है इस कारण वे अपने कार्य के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाते। किन्तु परिस्थितियों का सहारा लेकर कर्तव्यविमुखता, व्यक्तिगत रागद्वेष आदि दोषों को ढकने का प्रयत्न किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

संगीत की व्यावसायिक शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों की हम अभी चर्चा कर चुके हैं। इनके कुछ पहलुओं पर भी विचार कर लें।

(१) सामूहिक संगीत क्रिया में प्रयोग की क्षमता पैदा करने की शुरुआत स्कूलों के प्रारम्भिक पाठ्यक्रमों यानी नर्सरी स्कूलों, शिशु विहारों, प्राइमरी स्कूलों से होनी चाहिए। अभी तक ऐसे पाठ्यक्रम नहीं बने हैं। बच्चों की रुचि के अनुकूल गीतों की रचना, जिनमें सरल स्वर और लय का संयोग हो, इस दिशा में पहला प्रयत्न होना चाहिए। इस प्रक्रिया को धीरे-धीरे कुछ तकनीकी बनाते हुए गायन के साथ वादन की क्षमता विकसित की जा सकती है। यह क्रम हायर सैकिंडरी स्तर तक कुछ अधिक तकनीकी विशेषताओं के साथ जारी रखा जा सकता है। इसके बाद विश्वविद्यालयों के संगीत विभागों में समूह-गान व वादन के पाठ्यक्रम उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

(२) एकल गायन-वादन से सम्बद्ध जो पाठ्यक्रम संगीत शिक्षण की विभिन्न संस्थाओं में चल रहे हैं, उनकी अनेक समस्याएँ हैं। जैसे—राग, ताल, गीत आदि की संख्या पर अधिक बल होने के कारण अपर्याप्त और सीमित समय में पाठ्यक्रम पूरा करना पड़ता है। इस कारण व्यक्तिगत रुचि, योग्यता, क्षमता की उपेक्षा हो जाती है, सर्जनाशक्ति को विकास का पूरा अवसर नहीं मिलता, अनेक शिक्षकों से सीखने के कारण अपनी शैली का निर्माण नहीं हो पाता और उच्चतम शिक्षा पूरी कर लेने पर भी एकल गायन या वादन कर सकने की क्षमता पैदा नहीं हो पाती। इसके लिये यह आवश्यक है कि नियम तथा निर्धारित क्रम को लचीला रखा जाय। शिक्षक और छात्र की व्यक्तिगत रुचि और क्षमता के अनुसार निर्धारित पाठ्यक्रम में परिवर्तन करने की छूट हो। अपनी शैली के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विकास के लिये छात्र को उसके अनुकूल शिक्षक से सीखने की सुविधा उपलब्ध हो। साथ ही प्रतिभासम्पन्न छात्रों को ऐसे गायक-वादकों से सम्बद्ध होने का अवसर मिल सके जो उन्हें व्यावसायिक संगीतज्ञ बनने की शिक्षा दें तो उत्तम होगा।

(३) संगीत शिक्षा को जन-सुलभ बनाने के प्रयत्न के फलस्वरूप विद्यार्थियों की संख्या के अनुपात में योग्य शिक्षकों की भारी कमी अनुभव की जा रही है। किन्तु शिक्षकों को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता की ओर अभी तक ध्यान भी आकर्षित नहीं हुआ है। वास्तव में इसे प्राथमिकता के आधार पर किया जाना चाहिए।

(४) संगीत में अनुसन्धान के क्षेत्र में अभी तक बहुत कम कार्य हुआ है। फुटकर रूप से जो कुछ हुआ है वह कार्य की विशालता को देखते हुए नगण्य ही है। संगीतशास्त्र में अध्ययन और अनुसन्धान परस्पर सम्बद्ध और एक-दूसरे के पूरक हैं और इनके लिये विशेष प्रकार की योग्यता, पूर्वपीठिका और पाठ्यक्रम की आवश्यकता है।

(५) विवेकयुक्त श्रवण और समीक्षा के लिये अभी कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं हुए हैं, किन्तु इस दिशा में सागर में एक बूंद के समान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्विवर्षीय पाठ्यक्रम की चर्चा की जा सकती है। श्रवण और समीक्षा के क्षेत्र में पाठ्यक्रम बनाने व लागू करने का कार्य विश्वविद्यालयों के संगीत विभाग कर सकते हैं।

संस्थागत शिक्षण पद्धति में उपर्युक्त सभी धाराओं का केन्द्र-बिन्दु शिक्षक ही है। किन्तु इस सम्बन्ध में एक मूलभूत भ्रांति की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। प्रायः यह समझा जाता है कि एक अच्छा कलाकार अनिवार्यतः अच्छा संगीत-शिक्षक भी होता है। यह धारणा उतनी ही भ्रांतिपूर्ण है, जितनी यह कि अच्छा विद्वान् सफल शिक्षक भी होता है। एकल प्रयोग, स्वाध्याय तथा अध्यापन भिन्न प्रवृत्ति, योग्यता और क्षमता की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छा कलाकार या शास्त्रज्ञ अच्छा शिक्षक भी हो। इस धारणा का कारण सम्भवतः यह है कि अपने-अपने उद्देश्यों के बारे में स्पष्टता नहीं है— न व्यक्ति में और न संस्थाओं में। संगीत विद्यालय जो कार्य कर सकते हैं उसे विश्वविद्यालय का संगीत-विभाग नहीं कर सकता तथा संगीत विभाग के कार्य की अपेक्षा संगीत विद्यालय से नहीं रखी जा सकती। दूसरी ओर व्यक्ति जो कार्य कर सकता है वह संस्थाएँ नहीं कर सकतीं। इन सभी की अपनी सीमाएँ व विशेषताएँ हैं। किन्तु सीमाओं को ध्यान में रखते हुए तथा विशेषताओं का लाभ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उठाते हुए सबके सम्मिलित प्रयास से एक उपयोगी व्यवस्था का निर्माण करना सम्भव है।

यों तो संगीत शिक्षण की विभिन्न धाराओं में से प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं इसलिये हरेक पर विस्तृत विचार अपेक्षित है, किन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति-प्रधान प्रयोगात्मक कला होने के कारण संगीत में एकल गायक तथा वादक का विशेष स्थान है। संस्थाएँ कलाकारों का निर्माण नहीं कर सकतीं, यह आम धारणा है। इसमें सत्य का जो अंश है, उसे देखते हुए एकल गायन और वादन की शिक्षा में विशेष सावधानी और सुधार की आवश्यकता है। छात्रों की क्षमता का परीक्षण करके अनुकूल धारा में शिक्षण दिया जाय, छात्र के गुण-धर्म तथा रुचि के अनुकूल शिक्षक के पास सीखने की सुविधा प्रदान की जाय, गुरुकुल पद्धति की विशेषताओं का समावेश किया जाय, यानी विद्यार्थी को निरन्तर संगीत का वातावरण दिया जाय तथा शिक्षण और अभ्यास के लिये प्रतिदिन पर्याप्त समय व मार्गदर्शन मिले ऐसी व्यवस्था की जाय, निर्धारित पाठ्यक्रम को पत्थर की लकीर न बनाया जाय और छात्र की संवेदना तथा सर्जना-शक्ति के विकास को केन्द्र-बिन्दु मानकर आवश्यकतानुसार संख्या की अपेक्षा गुणवत्ता पर बल दिया जाय तो यह आशा की जा सकती है कि संस्थागत संगीत शिक्षण के द्वारा भी कलाकारों का निर्माण हो सकेगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

PROBLEMS OF FORMAL MUSIC EDUCATION IN INDIA TODAY

Although the institutionalised education in music started in India in the last quarter of the 19th century, the clear pattern emerged in mid 20th century. In fact in northern India the limitations and whimsicalities of the then existing 'gharānā' system and several social-political factors gave rise to a new system of music education and the pattern was basically adopted from the European system.

The basic aspects of education are—(1) determination of aims, (2) testing the basic aptitude in the student and (3) proper teaching system. The latter two are dependent on the former. Neither the aims have been clearly determined nor has full awareness developed towards testing aptitude, evolving proper system of teaching and producing equipped teachers.

The primary aim of music is the experience of 'ānanda' or bliss which can be achieved by imparting such music education which provides an opportunity to the student to develop either his sensitivity towards music or his talent, capacity and ability in music and thereby enable him to experience 'ānanda' through listening to or performing music. Hence there can, generally, be two aims of music education—(1) to create an understanding of music by providing general music education and (2) to produce professionals. Both these require different types of aptitude and training.

There can be five main channels in the latter, viz., (1) to produce solo performers, (2) to develop the capacity of group activity in music, (3) to produce good teachers, (4) to provide a firm background for future research and (5) to facilitate discerning listening and music criticism. If a sincere effort is made in these directions many avenues can be found out for various musical activities.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Eligibility and teaching method depend on the aims. In fact the basic aptitude must be tested at the initial stage. As regards eligibility for specialised music education in different streams specific tests can be prescribed at the desired levels.

The main limbs of any system of education, whether formal or informal, are—1. the student, 2. the teacher and 3. the teaching method. The desired result can be achieved only by proper harmony among these.

The teaching system comprises of three main components, viz., (a) syllabus, (b) text books and other material and (c) evaluation. As the aims of music education have not yet been determined clearly, neither proper syllabi nor teaching material and text books have been framed or prepared. What courses could be offered at what levels have yet to be determined. Priority must be given to frame the syllabi in accordance with the specific aims of different channels of music education combining the characteristics of systems, styles and traditions.

The existing hackneyed method of evaluation in which training and evaluation are isolated and examination is an object of fear, is totally unsuitable for a performing art like music. The system of a single examination at the end of a term should be replaced by a continuous process of evaluation on the basis of progress throughout the year. Another noticeable flaw in the present evaluation system is the indulgence in giving prolific marks which encourages the student to be more optimistic than industrious. This has resulted in the falling of standards more and more and necessitates revolutionary changes in the system of evaluation. But success of such a system will depend on the sincerity, honesty and impartiality of the teacher.

The teacher is the pivot of the institutionalised system because the succes or failure depends on him. Hence he requires special attention. The orientation of the existing teachers and the training of the future music teachers is an

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

indispensable condition without which it is absolutely impossible to impart music education. Provisi on of such a training is immediately required. Since the aims and various areas of music education have not at all been determined, the need for suitable music education has not been realised nor has provision been made for appropriate training of teachers, yet the problem is where to begin. Whether the priority be given to make arrangement for appropriate education after selection of various areas or to produce capable teachers ? In fact, two-pronged attack is required. Priority will, however, have to be given to the teachers because, having made the selection of students for various areas, the immediate need of teachers still remains.

With an exception of the Banaras Hindu University, university departments of music and other schools and colleges are running courses that are meant only for solo performers. It is high time to come out of the illusion that everybody trained in music could become a solo-performer. On the other hand they can contribute in other areas of music. If the aforesaid areas of music are also given serious thought and other courses are introduced it can yield good results.

It is worth mentioning that the Gurukul system did not have specific syllabi, teaching and study material, examination system, facilities and equipments and degrees in the modern sense but these were, more or less, in built in that system and were taken care of according to the capacity and capability of the 'guru' and the 'śiṣya' and the student emerged as an accomplished performer. Inspite of all the facilities being available in the current system, institutions are unable normally to produce performers, good teachers, music critics or scholars equipped for research in music. The reason is that neither the aptitude of the student is properly tested nor do they get education in the specific area. Those who have the capability of becoming performers do not get the atmosphere and training which is a characteristic of the other systhem.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

As an art music, Indian music has a distinctive character, nature and form. Besides being a highly developed art, it also has a long and well-established musicological tradition. Each of these two require specialised training. But music, primarily being a practical art, the studies in musicology need a firm background of practical music. In fact theory and practice should go together inter-linked and supplementing each other. In view of the hopeless level of current education of classical music it is necessary to establish a minimum standard of theory and practice. Practice oriented and musicology courses should run at the post-graduate level. A total change is required in the system of practical training and the details could be worked out.

Study of Samskrit and other languages, in which the source material is available, has not been accepted as an essential part of music education. This attitude has given rise to many problems in musicological studies and research.

Another problem being faced with great concern by the pioneers of music education is that formal and informal education had never been as apart from each other as is today. That is to say that a person imbibed much more by participation even before the formal training started, i.e., even before going to the 'gurukul'. Though much expansion is there and the human being is imbibing also yet the fact is that the process of participation has either stopped or is fast disappearing. Whatever participation is there, is disco oriented, totally incompatible to the Indian culture. This aspect requires immediate and serious attention.

In a nut shell, sincere efforts are still wanting in all aspects of the education system, whether testing the students' aptitude and eligibility or the training and orientation of the teachers; be it determining the aims of music education or framing various courses or even in preparing syllabus, text books and other material or the evaluation system.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

To suit the conditions and requirements or the modern age an integrated system, based on the characteristics of 'gurukul' and 'gharānā' is required which, while encompassing the new developments of the teaching system, would permit new experiments in music and also encourage reconstruction of various forms and instruments as described in the textual tradition. A wave of awakening seems to prevail in the whole country and the need of an appropriate system of music education is being direly felt and considered, but no specific plan is still in sight. It is suggested that training the prospect performers should be entrusted to institutions like Academies to which performing musicians are attached. Academic education and research be conducted by the music departments of universities and the task of preparing required background for these be the responsibility of other institutions such as schools and colleges. However it is worthwhile to give the suggestions, mentioned in this paper, an honest trial, at least at the university level by a band of devoted patriots.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्वविद्यालयीन संगीतशिक्षा की स्थिति और आवश्यकताओं की रूपरेखा

सामान्य रूप से संगीत शिक्षा के दो प्रयोजन होते हैं—१. संगीत के प्रति समझदारी पैदा करना और २. व्यावसायिक संगीतज्ञ बनाना। अमेरिकन म्यूज़िकॉलोजिस्ट मॅन्फ़्रेड बुकॉफ़्ज़र ने इन्हें 'संगीत के लिए शिक्षा (education for music) और 'संगीत की शिक्षा (education in music) कहा है।

संगीत का मूल प्रयोजन आनन्दानुभूति है और इसे संगीत की ऐसी शिक्षा देकर प्राप्त किया जा सकता है जो छात्र को उसकी संगीत की प्रतिभा, क्षमता और योग्यता को अथवा संवेदनशीलता को विकसित करने का अवसर प्रदान करे और इस प्रकार स्वयं गा-बजाकर अथवा संगीत के श्रवण के द्वारा आनन्दानुभूति करने के योग्य बनाए।

कला के रूप में भारतीय संगीत का एक विशिष्ट स्वरूप, प्रकृति और आकार-प्रकार है तथा एक अति विकसित कला होने के साथ-साथ इसकी एक दीर्घ और सुदृढ़ शास्त्र परंपरा भी है। इन दोनों के लिये विशेष प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक है किन्तु क्रियाप्रधान कला होने के कारण संगीत-संबंधो अध्ययन के लिए भी संगीतक्रिया की मज़बूत पृष्ठभूमि अनिवार्य शर्त है। वास्तव में क्रिया और सिद्धान्त सहयोगी और परस्पर पूरक हैं इसलिए साथ-साथ चलने चाहिएँ।

भारतीय संगीत गुरुकुल पद्धति के द्वारा विकसित, पल्लवित और समृद्ध हुआ। आगे चलकर घराना पद्धति की सीमाओं और मनमौजीपन तथा अनेक सामाजिक-राजनैतिक कारणों ने संगीत की संस्थागत शिक्षण-पद्धति को विकसित होने का अवसर दिया। वर्तमान काल की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप अब एक ऐसी सुसंगठित पद्धति को ज़रूरत है जो गुरुकुल और घराने की विशेषताओं पर आधारित हो, जो शिक्षण-संबंधी नये विकास को समेटती हो, जो नये प्रयोगों की छूट दे और जो शास्त्रीय परम्परा की लुप्त विधाओं की पुनर्रचना (reconstruction) को प्रोत्साहित करे।

संस्थागत शिक्षण के मुख्य चार अंग हैं—छात्र, शिक्षक, शिक्षण-पद्धति और मूल्यांकन। इन चारों में समन्वय के द्वारा ही वांछित फल प्राप्त हो सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

छात्र में संगीत सीखने की क्षमता और शिक्षक में शिक्षा देने की योग्यता होनी चाहिए, शिक्षा देने की पद्धति सही और उचित होनी चाहिए तथा छात्र का मूल्यांकन सही ढंग से होना चाहिए।

क्षमता और पद्धति प्रयोजन के निर्धारण से सीधे जुड़ी हैं। संगीत में क्षमता का निधारण शुरू में कहे गये दो प्रयोजनों के आधार पर किया जा सकता है। जिनमें संगीत के दो मूल तत्त्वों—स्वर और लय—के संस्कार हों उन्हें संगीत की शिक्षा दी जा सकती है। जिनमें ये संस्कार न हों और फलतः जो संगीत नहीं सीख सकते, उनकी श्रवण-संवेदना को विकसित करके उन्हें संगीत का आनन्द उठाने के योग्य बनाया जा सकता है। छात्र में संगीत सीखने की क्षमता की परख करने के लिए निश्चित परीक्षण किए जा सकते हैं।

वास्तव में मूल संस्कार का परीक्षण प्रारंभिक स्तर पर ही हो जाना चाहिए। किन्तु वर्तमान प्रणाली के अन्तर्गत विश्वविद्यालयों में बी० ए० अथवा समकक्ष स्तर पर प्रायः ऐसे छात्र आते हैं जिन्हें संगीत की कोई पूर्व शिक्षा नहीं होती। इसलिए इस स्तर पर भी यह परीक्षण करना ज़रूरी है।

संगीत शिक्षकों का प्रशिक्षण ऐसी अनिवार्य आवश्यकता है जिस पर वर्तमान संगीत शिक्षा प्रणाली की सफलता निर्भर है। इसलिए प्रशिक्षण की व्यवस्था करना तुरन्त ज़रूरी है। संगीत शिक्षा के लक्ष्य और विभिन्न क्षेत्रों का अभी तक निर्धारण न होने से न तो उपयुक्त शिक्षा पद्धति की आवश्यकता ही गंभीरता से महसूस की गई है और न शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए कोई व्यवस्था या प्रावधान हो सका है। कहाँ से शुरू किया जाय, यह सबसे बड़ी समस्या है। विभिन्न क्षेत्रों का चुनाव करके सही शिक्षा की उचित व्यवस्था को प्राथमिकता दी जाय या योग्य शिक्षकों के निर्माण को? वास्तव में दोहरे प्रयत्न की ज़रूरत है। फिर भी शिक्षक को प्राथमिकता देनी होगी क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों के लिए छात्रों का चुनाव कर लेने पर तुरन्त शिक्षकों की आवश्यकता होगी।

अभी ऐसे शिक्षकों की ज़रूरत है जो योग्य, लचीले, सर्जनशील, जिज्ञासा वृत्ति से युक्त और खुले विचार वाले हों; जिनमें विभिन्न संगीत पद्धतियों के ज्ञान की उत्सुकता हो, जो निरन्तर सीखने की वृत्ति रखते हों; जिनमें अन्य कलाओं और विषयों का इतना ज्ञान हो जिससे वे उनके साथ संगीत को जोड़ सकें और जो नये विचारों को ग्रहण करने और उपयोग करने के लिए तत्पर हों। उनकी दृष्टि न केवल छात्र को परीक्षा पास करा देने की हो बल्कि पर्याप्त ज्ञान और संगीत का अनुभव प्राप्त कराने की भी हो। विभिन्न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्तरों के छात्रों की कठिनाइयों और सामर्थ्य को पहचानने तथा उनसे निपटने की क्षमता भी उनमें होनी चाहिए।

अगर वर्तमान शिक्षकों का प्रशिक्षण किया जाय तो समस्या के हल की अच्छी शुरुआत होगी। इस कार्यक्रम को लगातार जारी रखा जाय तो कुछ ही वर्षों में सभी मौजूदा शिक्षक प्रशिक्षित किये जा सकते हैं।

छात्र में सामर्थ्य हो और अच्छे शिक्षक भी उपलब्ध हों तो भी अगर उचित रीति से संगीत की शिक्षा न दी जाय तो सफलता की आशा नहीं की जा सकती। अच्छी पद्धति वह है जो अपने लक्ष्यों को पूरा कर सके। इधर कुछ वर्षों में जागृति की एक लहर पूरे भारत में आई है और संगीत शिक्षा की एक उपयुक्त पद्धति की आवश्यकता विचार का विषय बनी है लेकिन कोई अन्तिम योजना अभी सामने नहीं आई है।

शास्त्रीय संगीत की शिक्षा के वर्तमान निराशाजनक स्तर को ध्यान में रखते हुए क्रिया और सिद्धान्त का एक न्यूनतम स्तर स्थापित करना जरूरी है। क्रिया की शिक्षा सिद्धान्त से सम्बद्ध और सुनिश्चित प्रणाली से होनी चाहिए तथा शास्त्र की शिक्षा क्रिया पर आधारित होनी चाहिए। इनकी शिक्षा देने का कार्य ऐसे शिक्षकों के द्वारा होना चाहिए जिनका अपने पक्ष पर पूरा अधिकार तथा दूसरे का भी पर्याप्त ज्ञान अथवा अभ्यास हो।

संगीत शिक्षा की पद्धति में निम्नलिखित बातों का समावेश होना चाहिए—

१. स्नातक स्तर तक की शिक्षा क्रिया की ओर उन्मुख होनी चाहिए जिससे क्रिया की मज़बूत नींव डालने पर बल के साथ-साथ शास्त्र पक्ष की संतुलित शिक्षा भी दी जाय।

२. स्नातकोत्तर स्तर पर क्रिया और म्यूज़िकॉलोजी के पाठ्यक्रम चलाए जाने चाहिएँ। क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम में क्रिया की गहन शिक्षा के साथ शास्त्र का भी सन्तुलन हो। दूसरी धारा में म्यूज़िकॉलोजी की प्रधानता रख कर क्रियात्मक शिक्षा भी इतनी अवश्य हो कि छात्रों में भावी अनुसन्धान के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि और संगीत-समीक्षा की क्षमता विकसित हो सके।

३. क्रियात्मक पाठ्यक्रमों का विभिन्न स्तरों के अनुरूप क्रिया व सिद्धान्त के क्रमबद्ध और सन्तुलित पाठ्यक्रमों के रूप में पुनर्गठन होना चाहिए।

४. क्रिया की शिक्षा में सुधार लाने के लिए यहाँ कुछ व्यावहारिक सुझाव दिए जा रहे हैं :—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(१) संगीत के संस्कार से सम्पन्न और सीखने में रुचि रखने वाले छात्रों को ही संगीत की शिक्षा दी जाय। इसके बिना छात्र और शिक्षक के समय और शक्ति के अपव्यय को रोका नहीं जा सकता।

(२) कुछ मूल बातों पर शुरू से बल दिया जाना चाहिए; जैसे—अपना वाद्य स्वयं मिलाना, कंठ स्वर संस्कार, सही अंगुलि-सञ्चालन की शिक्षा आदि।

(३) दृश्य के बजाय श्रव्य आधार पर शिक्षा दी जानी चाहिए अर्थात् संगीत-लिपि और लिपिबद्ध संगीत के स्थान पर सुन कर सीखने की आदत डाली जाय। इससे श्रवण क्षमता, प्रतिमिति (imagination) और अनुभूति का विकास होगा जो संगीत सीखने के लिए ज़रूरी है। इससे स्वर की धारणा और अनुभूति अधिक अच्छी होगी और आगे चल कर बन्दिशों और रागों को सुन कर 'उठा' लेने की क्षमता भी इसके द्वारा विकसित होगी।

(४) पाठ्यक्रम बनाते समय इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर राग-तय किए जायें कि बड़े अन्तरालों के कारण औडव राग कण्ठ में अधिक सरलता से और जल्दी उठाए जा सकते हैं। इसलिए गायन की शिक्षा की शुरुआत शुद्ध स्वर वाले औडव रागों से करके धीरे-धीरे विकृत स्वरवाले तथा षाडव और सम्पूर्ण राग लिए जाने चाहिएँ। वादन में स्थिति इससे भिन्न होती है इसलिए उसमें तदनुकूल पाठ्यक्रम बनाया जाना चाहिए।

(५) निरर्थक कवायद से बचना चाहिए और सरगम तथा लक्षण गीत जैसी रचनाओं के बजाय ध्रुपद, धमार या अन्य बन्दिशें सिखाई जायें ताकि शुरू से छात्र के पास प्रत्येक राग में २-३ बन्दिशें हो जायें। यह उसे अधिक बन्दिशों का संग्रह करने की ओर प्रेरित करेगा।

(६) प्रारम्भिक स्तर पर सुरुचिपूर्ण शब्द वाली रचनाएँ सिखाई जायें।

(७) राग में स्वतन्त्र रूप से 'बढ़त' करने की क्षमता का विकास करने पर शुरू से ध्यान दिया जाना चाहिए।

(८) किसी बन्दिश को सुन कर तत्काल लिपिबद्ध करने और लिपिबद्ध रचना को तुरन्त गा-बजा सकने की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। यह कान की तैयारी में सहायक होगी।

(९) छात्र को किसी विशेष क्षेत्र में प्रतिभा, रुचि और क्षमता को खोजने और सर्जनात्मक शक्ति का विकास करने की दिशा में शुरू से प्रोत्साहित किया जाय। उदाहरण के लिए, छात्र को अपनी रुचि के अनुसार गीत या गत बनाने या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आलाप-तान-सरगम आदि बनाने अथवा संगीत सम्बन्धी किसी विषय पर लिखने के लिए प्रेरित किया जाय।

(१०) हर राग में अनेक रचनाएँ सीखने पर बल दिया जाय ताकि छात्र स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने में सक्षम बने।

५. क्रियाप्रधान पाठ्यक्रम के शास्त्रपक्ष में भी निम्न परिवर्तन अपेक्षित हैं—

(१) क्रिया सम्बन्धी शब्दों को मौखिक रूप से समझाना छात्र से अपेक्षित होना चाहिए।

(२) भावी अनुसन्धान की मूल आवश्यकता का बीज डालने की दृष्टि से प्रत्येक स्तर पर संगीत के सिद्धान्तों और पारिभाषिक शब्दावली का क्रमबद्ध परिचय दिया जाना चालिए।

(३) मौखिक और लिखित अभिव्यक्ति तथा अध्यापन क्षमता का विकास करने का अवसर देने की दृष्टि से छात्रों को बोल कर समझाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

६. प्रत्येक स्तर पर प्रवेश से पहले योग्यता और क्षमता का परीक्षण किया जाना चाहिए क्योंकि पिछली परीक्षा पास कर लेना अथवा एक निश्चित प्रतिशत में अंक प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है।

७. संगीत के सभी छात्रों के लिए संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य किया जाना चाहिए ताकि अप्रामाणिक सामग्री के स्थान पर मूल सामग्री के आधार पर अध्ययन करने की क्षमता विकसित हो।

८. संगीतशास्त्र के अध्यापन का कार्य सभी स्तरों पर इस विषय के निष्णात शिक्षकों द्वारा किया जाना चाहिए।

९. संगीत की अनुसन्धान-पद्धति से अच्छी तरह परिचय कराने के लिए एँम्० फ़िल्० अनिवार्य किया जाना चाहिए।

१०. स्नातकोत्तर स्तर पर छात्र को संगीत सिखाने व अध्यापन करने का अभ्यास अथवा अनुभव कराया जाना चाहिए और इसे छात्र के मूल्यांकन में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

११. शिक्षक के मार्गदर्शन में श्रवण के द्वारा संगीत-समीक्षा की क्षमता का विकास किया जाना चाहिए।

१२. अपेक्षित स्तर और एकरूपता लाने की दृष्टि से स्नातकोत्तर स्तर पर विश्वविद्यालयों के संगीत विभागों और सम्बद्ध महाविद्यालयों में शिक्षण के आदान-प्रदान की व्यवस्था होनी चाहिए।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्तमान मूल्यांकन प्रणाली का एक बड़ा दोष छात्रों को अंक देने में अत्यधिक उदारता बरतने की प्रवृत्ति है जिससे उनमें परिश्रम करने की प्रवृत्ति समाप्त होती है। स्तर में अधिकाधिक गिरावट भी इसका परिणाम है। इसके लिए मूल्यांकन पद्धति में आमूल परिवर्तन की जरूरत है। निम्न सुझाव इस दिशा में सहायक होंगे—

१. सत्र के अन्त में एक फ़ाइनल परीक्षा के स्थान पर पूरे वर्ष की निरन्तर प्रगति के आधार पर सतत मूल्यांकन पद्धति लागू की जाय। यह छात्रों को निरन्तर अभ्यास, अध्ययन और स्वस्थ स्पर्धा के प्रति प्रेरित करेगी जो किसी भी कला अथवा विद्या में निपुणता और पूर्णता की अनिवार्य शर्त है।

२. मूल्यांकन में सँशनल, समीक्षा और अध्यापन को भी सम्मिलित किया जाय।

३. अपने वाद्य को मिलाना, सही अंगुलि-सञ्चालन और कण्ठ से ध्वनि-उत्पादन तथा श्रव्य क्षमताओं जैसी मौलिक बातें भी मूल्यांकन का अंग होनी चाहिएँ।

४. त्रैमासिक परीक्षाएँ भी ली जायँ और इनमें प्राप्त अंक पूर्ण योग में जोड़े जायँ। यह निरन्तर सीखने-सिखाने-मूल्यांकन की पद्धति को मज़बूत करेगा।

५. मूल्यांकन में एकरूपता लाने के लिए किसी स्तर के सभी छात्रों की परीक्षा के लिए परीक्षक वही हों।

६. शास्त्र पक्ष की परीक्षा के लिए शास्त्र के विशेषज्ञ ही परीक्षक नियुक्त किए जायँ।

७. स्नातकोत्तर स्तर पर क्रियात्मक परीक्षा या तो विश्वविद्यालय के मुख्यालय में ही सञ्चालित हों अथवा 'वायवा' विभिन्न केन्द्रों में हो और उसी के परीक्षकों के सम्मुख मञ्च प्रदर्शन की परीक्षा को रिकॉर्ड करके मुख्यालय में भेजा जाय तथा वहाँ सब केन्द्रों के छात्रों का एक साथ मूल्यांकन हो। केन्द्र में परीक्षा के समय होने वाली अनियमितताओं को रोकने और मूल्यांकन में समानता और स्तर की दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी होगा।

यद्यपि यह सही है कि वर्तमान शिक्षा पद्धति में अनेकविध समस्याएँ हैं लेकिन अपनी सीमाओं में भी इन सुझाओं को लागू करना उपयोगी होगा। जागरूक व समर्पित भाव से काम करने वाले व्यक्तियों के द्वारा विश्वविद्यालय स्तर पर इन सुझावों पर अमल की शुरूआत करना उचित और अवसरप्राप्त है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्वविद्यालय-स्तरीय संगीत-शिक्षा में शास्त्र का स्थान

संसार की विभिन्न संगीत पद्धतियों में भारतीय संगीत उन प्राचीनतम पद्धतियों में से एक है जिसके लक्ष्य और लक्षण की परम्परा अत्यन्त दीर्घ, सुदृढ़ और काफ़ी हद तक सुसंबद्ध है। लक्षण परम्परा जो 'संगीतशास्त्र' के नाम से जानी जाती रही है उसका इतिहास कम से कम ढाई हज़ार वर्ष प्राचीन है।

जिस प्रकार संगीत-क्रिया के सीखने-सिखाने को गुरु-शिष्य परम्परा रही है उसी प्रकार शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की भी भारत में परम्परा थी जिसका उल्लेख 'सम्प्रदाय' के रूप में शास्त्र-ग्रन्थों में होता आया है। राजनैतिक कारणों से सम्प्रदायगत आचार्यों को अपने मूल-स्थानों को छोड़कर इधर-उधर आश्रय खोजना पड़ा। इस संक्रमणकाल में सम्प्रदाय बिखर गये, टूट गये और शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा का उच्छेद हुआ। फलतः शास्त्र के रहस्य संगीतज्ञों के लिये रहस्य ही बने रह गये, लक्ष्य और लक्षण के सम्बन्ध का विच्छेद हुआ और 'संगीतरत्नाकर' के टीकाकार कल्लिनाथ से लेकर अधिकांश ग्रन्थकार लक्ष्य और लक्षण के विरोध के परिहार की बात करने लगे। लेकिन प्राचीन सिद्धान्त स्पष्ट न होने तथा अन्य कारणों से वे परिहार नहीं कर सके। १९वीं २०वीं शताब्दियों में शास्त्र को समझने-समझाने के प्रयत्न व्यापक स्तर पर शुरू हुए जिनमें भारतीय और विदेशी दोनों प्रकार के जिज्ञासु थे। लेकिन शास्त्र के अध्ययन में गुरु-शिष्य परम्परा के उच्छेद, संस्कृत भाषा के समुचित ज्ञान के अभाव, भारतीय संगीत के क्रियापक्ष के अल्पज्ञान, शास्त्र के गूढ़ सिद्धान्तों को समझने के लिये तटस्थ दृष्टिकोण के अभाव अथवा शास्त्र-प्रतिपादन की भारतीय दार्शनिक-वैज्ञानिक शैली से अपरिचय के कारण वे प्रयत्न पूरी तरह सफल न हो सके किन्तु पिछले लगभग ३० वर्षों में कुछ ऐसे व्यक्तियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप स्थिति बदली है जो उपर्युक्त स्थितियों से ग्रस्त नहीं थे। इस कारण काफ़ी हद तक प्राचीन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण सम्भव हो सका है और अब यह आशा की जा सकती है कि शास्त्र के 'सम्प्रदाय' को पुनर्जीवित किया जा सकेगा।

भारत में शिक्षा संस्थाओं के माध्यम से संगीत की शिक्षा का प्रारम्भ अधिकतम १२५ वर्ष पुराना माना जा सकता है। विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत संगीत विभागों की स्थापना और निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार निश्चित समय में संगीत के शिक्षण व परीक्षा-प्रणाली के द्वारा मूल्यांकन का प्रारम्भ तो अधिक से अधिक ४० वर्ष पूर्व हुआ ऐसा कहा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारत में संगीत शिक्षा के प्रयोजन अथवा लक्ष्य का अभी तक निर्धारण नहीं हुआ है और निष्प्रयोजन संगीत शिक्षा दी जा रही है। संगीत शिक्षा के दो प्रमुख प्रयोजन हो सकते हैं—१. संगीत के सामान्य संस्कार डालकर रुचि का परिष्कार करना और २. संगीत के विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञ तैयार करना। इसमें से दूसरे प्रयोजन में चार मुख्य क्षेत्र हो सकते हैं—१. सामूहिक संगीत क्रिया में प्रयोग की क्षमता पैदा करना २. एकल गायन अथवा वादन की योग्यता पैदा करना ३. संगीत के विवेकयुक्त श्रवण और समीक्षा करने की योग्यता पैदा करना और ४. अच्छे संगीत शिक्षक व अनुसन्धानकर्ता तैयार करना। इनमें से प्रथम दो का सम्बधः संगीत क्रिया से, तीसरे का संगीत क्रिया व शास्त्र-पक्ष के ज्ञान से और चौथे का क्रिया के अभ्यास व ज्ञान की भित्ति पर आधारित शास्त्र के अध्ययन के साथ है।

संगीत के शास्त्र की शिक्षा दो प्रकार की हो सकती है—१. क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम में सहायक अंग के रूप में और २. शास्त्र-प्रधान प्राठ्यक्रम में प्रधान अंग के रूप में। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत शास्त्र की शिक्षा का प्रयोजन विद्यार्थियों को संगीत के मूलभूत सिद्धान्तों से परिचित कराना, सिद्धान्तों के आधार पर वैज्ञानिक और तर्कसंगत ढंग से तथा समझ-बूझकर संगीत क्रिया कर सकने की क्षमता पैदा करना और संगीत की क्रिया को सामान्य रूप से समझने तथा समझा सकने की योग्यता पैदा करना होना चाहिये। संगीत के विद्यालयों और महाविद्यालयों में, हाईस्कूलों हायर सेकेण्डरी स्कूलों तथा बी० ए० के पाठ्यक्रमों में और विश्वविद्यालयों के संगीत विभागों में प्रायः क्रियाप्रधान पाठ्यक्रम के अनुसार संगीत शिक्षा की व्यवस्था रहती है। इस प्रकार के पाठ्य-क्रमों में शास्त्र का अंश बहुत थोड़ा रहता है और वह भी स्तर के अनुकूल, व्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं होता। इसके विपरीत कभी-कभी बहुत भारी, अस्पष्ट अथवा असम्बद्ध विषय रख दिये जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि पाठ्यक्रम का निर्माण ऐसे व्यक्ति करते हैं जो शास्त्र से अछूते अथवा अल्प परि-चित होते हैं। इस कारण विषय के क्रम, महत्त्व अथवा स्तर के अनुरूप विषय का समावेश करने की आवश्यकता से अनभिज्ञ होते हैं।

किसी भी क्रियात्मक विद्या अथवा कला का सैद्धान्तिक पक्ष अनिवार्यतः उसकी क्रिया पर अवलंबित अथवा उससे सम्बद्ध होता है। इसलिये सिद्धान्त अथवा शास्त्र की शिक्षा के लिये क्रिया की मज़बूत नींव का होना अनिवार्य आवश्यकता है। विश्वविद्यालयीन शिक्षा के अन्तर्गत अन्य विषयों के समान स्तर पर ही संगीत शिक्षा को लाने, संगीत शिक्षा में से मनमानेपन को दूर करने तथा संगीत के विवेकपूर्ण श्रवण और समीक्षा की योग्यता पैदा करने के लिए

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शास्त्रप्रधान पाठ्यक्रम की आवश्यकता काफ़ी समय से अनुभव की जाती रही है। इस पाठ्यक्रम का प्रयोजन क्रिया व शास्त्र पक्ष के सन्तुलित ज्ञान से सम्पन्न शिक्षक तथा भारतीय संगीतशास्त्र के क्षेत्र में अच्छे अनुसन्धानकर्ता तैयार करना भी है। इस प्रकार के पाठ्यक्रम सभी विश्वविद्यालयों में अभी स्थान नहीं पा सके हैं। केवल बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के म्यूज़िकॉलोजी विभाग में एम्० ए० स्तर पर २१ वर्षों तक चला और इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के म्यूज़िकॉलोजी विभाग में बी० ए० स्तर पर कुछ वर्षों तक चलाया गया। इन दोनों विभागों के कार्यों का मूल्याकन करने का यहाँ अवसर नहीं है किन्तु प्रस्तुत पंक्तियों की लेखिका को इनमें से प्रथम विभाग से म्यूज़िकॉलोजी विषय में विशेष योग्यतापूर्वक देश में सर्वप्रथम विशेष अध्ययन (specialization) करने का अवसर प्राप्त हुआ और दूसरे विभाग को प्रारम्भ करने और चलाने की ज़िम्मेदारी रही है। इसलिये इन विभागों की विशेषताओं और मर्यादाओं को समझने तथा संगीत-शिक्षा में शास्त्र पक्ष पर कुछ विचार करने का अवसर अवश्य मिला हैं। अतः कुछ विचार प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। किन्तु विषय व स्थान की मर्यादा को ध्यान में रखते हुए मुख्यतः विश्वविद्यालय-स्तरीय संगीत शिक्षा में ही शास्त्र के स्थान से इसका सम्बन्ध होगा।

क्रिया प्रधान पाठ्यक्रम में बी० ए० और एँम्० ए० के स्तर को ध्यान में रखते हुए शास्त्र-शिक्षा के दो भाग किये जा सकते हैं जिनमें से एक क्रिया से सम्बन्धित और दूसरा सिद्धान्त से सम्बन्धित हो। उदाहरण के लिये एँम्० ए० स्तर पर जिन रागों, तालों, गीत-प्रकारों, वाद्यों आदि की शिक्षा देनी हो उनके लक्षण आदि तथा उनसे सम्बद्ध विषयों का परिचय रागों में किये जाने वाले मुक्त विस्तार (improvisation) के प्रकारों (आलाप, बोल-तान, सरगम, बोलबाँट, तान आदि) का अध्ययन; रागों का तुलनात्मक परिचय; गीतों (ख्याल, तराना, टप्पा आदि) के लक्षण आदि तथा दूसरे भाग में भारतीय संगीत के मूल सिद्धान्तों, प्राचीन शास्त्रोक्त धारणाओं तथा शास्त्रग्रन्थों का परिचय; क्रियात्मक संगीत के विषयों का ऐतिहासिक परिचय (रागों, तालों, गीत प्रकारों, वाद्यों, आलाप आदि के विकास का इतिहास); प्रमुख संगीतज्ञों का परिचय; भारतीय संगीत के इतिहास का परिचय आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

शास्त्रप्रधान पाठ्यक्रम की आवश्यकता और प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए यह विशेष अध्ययन का विषय ही हो सकता है। विश्वविद्यालयीन शिक्षा के अंगभूत विषय ४ प्रकार के हैं—(१) विशुद्ध विज्ञान (pure sciences) जो किसी गोचर घटना से सम्बन्धित होते हैं और प्रधानतः प्रयोगशाला पद्धति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(laboratory experiment) पर निर्भर होते हैं; जैसे—भौतिक-विज्ञान, रसायन-विज्ञान आदि। (२) सामाजिक विज्ञान (social sciences) जो समाज की मूल इकाई के रूप में मनुष्य और उसके व्यक्तिगत तथा सामाजिक व्यवहार से सम्बद्ध होते हैं; जैसे—मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि। (३) भाषाएँ और (४) ललित कलाएँ—जो चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित होती हैं और किसी हद तक विशुद्ध विज्ञान में तथा किसी हद तक सामाजिक विज्ञान में रखी जा सकने के बावजूद ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में विशेष स्थान रखती हैं। संगीत उनमें से सबसे सूक्ष्म और ऐसी कला है जिसका भौतिक पक्ष होते हुए भी उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति पूरी तरह व्यक्तिनिष्ठ है। इसलिये अन्य वर्गों के विषयों के ढंग या स्तर पर इसका अध्ययन सम्भव नहीं। इसके लिये क्रियात्मक संगीत का अच्छा अभ्यास, पर्याप्त रूप से विकसित सांगीतिक संवेदनशीलता और एक निश्चित स्तर का मानसिक और बौद्धिक विकास अपेक्षित है जो बी० ए० स्तर के अध्ययन और संगीत के अभ्यास के बाद ही प्राप्त हो सकते हैं। इसे केवल भारतीय संगीत से सम्बन्धित शास्त्रप्रधान विषय नहीं बनाया जा सकता क्योंकि संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये ऐसे अनेक विषयों और दृष्टिकोणों को सम्मिलित किया जाना आवश्यक है, जो मूलतः पाश्चात्य हैं और जिनके लिये ऊपर बताई गई अर्हता छात्र में होनी चाहिए। इसलिये इस विषय को बी० ए० स्तर पर नहीं बल्कि एँम्० ए० स्तर पर ही रखना उचित होगा। किन्तु जिन विद्यार्थियो की रुचि, योग्यता और क्षमता इस विषय के अनुकूल हो और जो एँम्० ए० स्तर पर इसका अध्ययन करना चाहें उनके लिये बी० ए० के अंतिम वर्ष में दो ऑनर्स पेपर रखे जा सकते हैं, जिनमें इस विषय का परिचय करा कर पूर्वपीठिका तैयार की जा सके। इस विषय की प्रेरणा अमेरिका से ली गई है जहाँ 'म्यूजिकॉलोजी' के नाम से क्रियात्मक संगीत से भिन्न इस विषय की शिक्षा दी जाती है। इस संदर्भ में इस विषय के जन्मदाता मॅन्फ्रेड बुकॉफ़्जर द्वारा दी गई इस चेतावनी की ओर ध्यान देना उचित होगा कि म्यूजिकॉलोजी के लक्ष्य की प्राप्ति के खतरों को ध्यान में रखते हुए इस विषय की शिक्षा एँम्० ए० स्तर पर ही दी जानी चाहिए, बी० ए० स्तर पर नहीं।

संगीत शिक्षा में इस विषय का महत्त्व विशेष रूप से संगीत के शिक्षक और अनुसंधानकर्त्ता की दृष्टि से है। संस्थागत शिक्षण के लिये अनुकूल और योग्य शिक्षकों की तथा अनुसंधानकर्ताओं की अभी भारी कमी है। अनुसंधान का बड़ा विस्तृत क्षेत्र अभी अछूता पड़ा है। इन दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए इस विषय के पाठ्यक्रम का गठन इस प्रकार से करना होगा जिससे अनुकूल व्यक्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तैयार किये जा सकें। अभी इस विषय का विशेष अध्ययन किये हुए शिक्षक प्राप्त न होने के कारण इसके अन्तर्गत आने वाले सब विषयों का विस्तृत अध्ययन सम्भव नहीं है किन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों का अधिक और कम महत्त्व के विषयों का सामान्य परिचय भी कराया जा सके तो लक्ष्य की प्राप्ति की ओर सही क़दम उठा, यह कहा जा सकता है। प्रारम्भ में विषय के स्तर को उच्च बनाये रखने का पूरा प्रयत्न होना चाहिए। यदि इस विषय में रुचि और योग्यता रखने वाले छात्रों को ही प्रवेश दिया जाय तो स्तर को बनाए रखना बहुत कठिन नहीं होगा।

इस विषय में निम्न पक्षों को सम्मिलित किया जाना चाहिए—'म्यूज़िकॉलोजी' और 'संगीतशास्त्र' के तत्त्व और सम्बद्ध विषय, सांगीतिक ध्वनिविज्ञान, भारतीय दर्शन, सौंदर्यशास्त्र, भारतीय भाषाएँ, सांगीतिक मनोविज्ञान, भारतीय संगीत व संगीतशास्त्र का इतिहास, सांगीतिक लिपि, शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन, उत्तरभारतीय, कर्णाटक और पाश्चात्य संगीत के सामान्य सिद्धान्त, प्राच्यसंगीत और सांगीतिक वाद्य, संगीतशास्त्र के किसी ग्रन्थ का विशेष अध्ययन आदि। इनके अतिरिक्त संगीतक्रिया, संगीत कार्यक्रम की समीक्षा और अध्यापन का अभ्यास भी कराया जाना चाहिए ताकि क्रियात्मक संगीत का अभ्यास रहे और समीक्षा करने तथा अध्यापन करने का अनुभव व अभ्यास हो सके।

संगीतशास्त्र भारतीय संस्कृति की ऐसी अनुपम देन है जिसकी लावारिस सन्तान की तरह अब तक उपेक्षा होती रही है। अब इसके पुनरुत्थान के लिए सजग होकर पूरी शक्ति और ईमानदारी के साथ प्रयत्न करने का समय आ गया है। इसके लिए पाश्चात्य 'म्यूज़िकॉलोजी' के उपयोगी व सम्बद्ध विषयों का भी यदि भारतीय संगीत सम्बन्धी विषयों के साथ गठबन्धन कर लिया जाय तो भारतीय संगीत के सिद्धान्त पक्ष को वर्तमान आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप बनाया जा सकता है। संगीत की विशेष शिक्षा पर केन्द्रित सभी संस्थाओं, विशेष रूप से विश्वविद्यालयों के संगीत विभागों का यह कर्तव्य है कि वे उक्त विषय के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था करें। भारतीय संस्कृति में विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती को 'वीणा-पुस्तक-धारिणी' के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है। वीणा कला की उपासना और पुस्तक उसके वैज्ञानिक अध्ययन की सूचक है। संगीत की शिक्षण संस्थाएँ सरस्वती के अधूरे चित्र—'वीणा-धारिणी' को संगीत-कला के विज्ञान से युक्त करके वास्तव में 'वीणा-पुस्तक-धारिणी' बनाकर उस खण्डित प्रतिमा को पूर्णता प्रदान करें, यह अपेक्षित है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'म्यूज़िकॉलोजी' के शिक्षण की पद्धति

भारत में जिस प्रकार संगीत की दीर्घ और अति विकसित पद्धति रही है उसी प्रकार उसके सिद्धान्त पक्ष की भी अत्यन्त प्राचीन और सुदृढ़ परम्परा रही है तथा न केवल क्रिया के शिक्षण की बल्कि शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की भी विशिष्ट पद्धति रही है। क्रिया का शिक्षण तो प्रकारान्तर से होता रहा किन्तु शास्त्र-सम्बन्धी यह पद्धति मध्ययुग में खण्डित हुई और कालान्तर से लगभग लुप्त हो गई।

किसी विषय और उसके अध्यापन की पद्धति में वही सम्बन्ध होता है जो साध्य और साधन में। साध्य के अनुरूप ही साधन का निर्धारण किया जाता है इसलिए 'म्यूज़िकॉलोजी' के अध्यापन की पद्धति पर विचार करने के लिए पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि 'म्यूज़िकॉलोजी' क्या है।

अंग्रेज़ी शब्द 'म्यूज़िकॉलोजी' का अर्थ है 'म्यूज़िक' सम्बन्धी वैज्ञानिक अध्ययन। पाश्चात्य म्यूज़िक में गीत और वाद्य का ही ग्रहण होता है, नृत्य का नहीं। इसलिए पश्चिम में मुख्य रूप से इन दो विधाओं से सम्बन्धित अध्ययन म्यूज़िकॉलोजी का क्षेत्र माना जाता रहा है। 'म्यूज़िक' को प्रायः 'संगीत' का पर्याय मान लिया जाता है किन्तु भारतीय परम्परा में गीत, वाद्य और नृत्य— तीनों ही संगीत के अंग होने के कारण संगीत सम्बन्धी अध्ययन में नृत्य भी सम्मिलित रहा है। इस दृष्टि से भारतीय सन्दर्भ में म्यूज़िकॉलोजी का अर्थ इन तीनों विधाओं से सम्बद्ध अध्ययन कहा जा सकता है।

संगीत के अध्ययन से सम्बद्ध हमारा सुपरिचित शब्द है 'संगीतशास्त्र।' म्यूज़िकॉलोजी और संगीतशास्त्र पर्याय तो नहीं लेकिन किसी हद तक समकक्ष कहे जा सकते हैं। इन दोनों के अन्तर की विशेष चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है लेकिन इतना समझ लेना जरूरी है कि दोनों में दृष्टिकोण और क्षेत्र का बड़ा अन्तर है। प्रचलित पाश्चात्य चिन्तन धारा में म्यूज़िकॉलोजी के अन्तर्गत पहले संगीत के अपने विषयों का विशेष और स्वतन्त्र अध्ययन किया जाता है और फिर अन्य सम्बद्ध विषयों मे जोड़ कर अलग नाम दिया जाता है, जैसे—म्यूज़ि-कल अकाउस्टिक्स', 'साइकॉलॉजी ऑफ़ म्यूज़िक' आदि। भारतीय चिन्तन धारा में किसी विषय का अध्ययन समग्रता में किया जाता रहा, खण्ड-खण्ड करके अथवा एकांगी नहीं। तदनुरूप संगीतशास्त्र के अन्तर्गत गीत, वाद्य, नृत्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समुच्चय रूप संगीत के अध्ययन की जो मूल परम्परा थी उसमें छन्द, रस, पिंडोत्पत्ति आदि जैसे सम्बद्ध विषयों के ग्रहण में भी वही समग्रता परिलक्षित होती है।

किसी भी कला के दो पहलू होते हैं—लक्ष्य और लक्षण। लक्ष्य यानी क्रिया और लक्षण अर्थात् क्रिया के बारे में विचार। जैसे—किसी राग अथवा बन्दिश को प्रत्यक्ष रूप से गाना लक्ष्य है और उसके बारे में सोचना-समझना-कहना लक्षण है। संगीत की क्रिया को सीखने-सिखाने, समझने-समझाने के लिए लक्षण आवश्यक है। इस रूप में लक्ष्य के लिए लक्षण है। दूसरी ओर लक्षण के बिना लक्ष्य भी असम्भव है। जैसे—स, रि, ग आदि या कोमल-तीव्र आदि संज्ञाएँ संगीत की गेय ध्वनियों (स्वर) के लक्षण ही हैं जिनके बिना संगीत की शिक्षा आरम्भ करना ही असम्भव है। अतः ये दोनों परस्पर अभिन्न और पूरक हैं। लक्षण निबद्ध भी हो सकता है और अनिबद्ध भी। निबद्ध को संगीत-शास्त्र कह सकते हैं तथा अनिबद्ध मौखिक परम्परा में रहता है। निबद्ध भी पूरा-पूरा नहीं लिखा जा सकता और जो लिखित है उसकी भी व्याख्या अपेक्षित होती है। निबद्ध की व्याख्या और अनिबद्ध का हस्तांतरण हमारे यहाँ गुरु-शिष्य परम्परा से होता आया है जिसे शास्त्रों में 'सम्प्रदाय' कहा गया है। किन्तु परवर्ती मध्ययुग में सम्प्रदायों का लोप हो जाने के कारण संगीत के निबद्ध लक्षण यानी शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा भी समाप्त हो गई। यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि किसी कला के विश्लेषण अथवा अध्ययन में उस कला से सम्बद्ध चिन्तन परम्परा विशेष महत्त्व रखती है क्योंकि वहीं से दिशा, दृष्टि और पारिभाषिक शब्दावली प्राप्त होती है। भारत में संगीत की अपनी शब्दावली रही है। आज भी अधिकांशतः हम उसी का प्रयोग करते हैं और वह हमें मुख्य रूप से ग्रन्थों के माध्यम से और किसी हद तक मौखिक परम्परा से प्राप्त हुई है। इसलिए संगीत के शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन विशेष रूप से जरूरी है लेकिन साथ ही मौखिक रूप से प्राप्त लक्षणों का अध्ययन भी जरूरी है। व्यापक रूप में यह कहा जा सकता है कि संगीत की निबद्ध अथवा अनिबद्ध, लिखित अथवा मौखिक लक्षण परम्परा का बहुआयामी अध्ययन तथा पाश्चात्य संगीत के 'म्यूजिक' तथा उससे सम्बद्ध विषयों का अध्ययन म्यूजिकॉलोजी का क्षेत्र है।

म्यूजिकॉलोजी के अध्यापन का लक्ष्य अच्छे शिक्षक, समीक्षक और अनुसन्धानकर्ता तैयार करना है अथवा होना चाहिए। इसलिए उन सभी पक्षों को इस विषय में सम्मिलित करना अपेक्षित है जो इन लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। म्यूज़िकॉलोजी की धारणा पाश्चात्य हैं और वहाँ संगीत पर कुछ भिन्न दृष्टि से किन्तु काफ़ी विचार हुआ हैं। इसलिए उससे सम्बद्ध इन विषयों का समावेश उपयोगी हैं—Musical acoustics, psychology of music, musical aesthetics, musical paleography, general theory and history of western music आदि। भारतीय विश्वविद्यालयों और भारतीय संगीत के अध्ययन के लिए गठित होने के कारण भारतीय संगीत के ये विषय तो रहने ही चाहिएँ—संगीत का इतिहास व सिद्धान्त, हिन्दुस्तानी व कर्णाटक संगीत के सामान्य सिद्धान्त व इतिहास, भारतीय वाद्य, संगीतज्ञ और वाग्गेयकार आदि। इनके अलावा भारतीय दर्शन, रसशास्त्र, छन्दःशास्त्र तथा संस्कृत व्याकरण भी आवश्यक हैं। वाद्य-विज्ञान और एशिया की प्रमुख संगीत पद्धतियों का परिचय भी उपयोगी होगा।

सिद्धान्तप्रधान पाठ्यक्रम होते हुए भी ऊपर उल्लिखित लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए इसमें सिद्धान्त और क्रिया का सन्तुलन रखना जरूरी है। इसलिए क्रियात्मक भाग में प्रस्तुतिकरण, संगीत समीक्षा, लिखित रचना को देख कर तुरन्त प्रस्तुत करना और रचना सुन कर तुरन्त संगीतलिपि में लिखना भी इसके अंग हैं। छात्रों के द्वारा सिद्धान्त और क्रिया दोनों का अध्यापन करना उनके भावी शिक्षक कार्य की दृष्टि से बहुत लाभदायक होगा।

पठन-पाठन और सीखने-सिखाने के लिए मौखिक-श्रव्य रीति अनेक दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी है। आज पश्चिम में भी यह विचारधारा बलवती होती जा रही है कि लिखित सामग्री का सीमित उपयोग होना चाहिए, मौखिक तथा श्रव्य सामग्री का अधिक। इसीलिए 'oral and aural rather than written and visual' यानी लिखित और दृश्य के बजाय मौखिक और श्रव्य को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। भारत में तो सभी कलाओं और विद्याओं में यही पद्धति रही है। किन्तु पश्चिमी विचारधारा ने सोचने-समझने और अध्ययन-अध्यापन की दिशा में कुछ भिन्न दृष्टि विकसित की है और विभिन्न तरीक़े दिये हैं। संक्षेप में उन्हें भी समझ लें।

पश्चिम से आई हुई कुछ प्रमुख पद्धतियाँ ये हैं—lecture, seminar, symposium, written work, analysis or criticism, assignment, critique. इनमें से lecture, written work, criticism और assignment में शिक्षक और छात्र में से किसी एक ही ओर की भागीदारी प्रायः रहती है। Lecture में शिक्षक व्याख्यान देता है, अन्त में क्वचित् प्रश्न के अलावा छात्रों की कोई विशेष भागीदारी नहीं होती। Written work में छात्र स्वतन्त्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप से प्रायः उस विषय पर लिखते हैं जो शिक्षक द्वारा पढ़ाया गया हो। Analysis या criticism में भी छात्र किसी सुने हुए कार्यक्रम के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण या समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। Assignment में शिक्षक द्वारा दिये गए किसी विषय पर स्वयं अध्ययन करके छात्र लिखते हैं। इन सभी में छात्रों की मौखिक अभिव्यक्ति को कोई अवसर नहीं मिलता किन्तु छात्र की विचार-शक्ति और लेखन क्षमता तथा अभिव्यक्ति के विकास के लिए पर्याप्त गुञ्जाइश है। सेमिनार, सिम्पोज़ियम और क्रिटीक में व्याख्या, भाषण, चर्चा, उत्तर-प्रत्युत्तर, शंका-समाधान आदि के कारण सोचने-समझने, परस्पर सम्बद्ध करने और मौखिक अभिव्यक्ति—इन सबकी एक साथ परीक्षा हो जाती है। सेमिनार में मूलतः शिक्षक या किसी छात्र के द्वारा किसी एक विषय की चर्चा का आरम्भ होकर उस पर सभी छात्रों द्वारा चर्चा की जानी अपेक्षित है। आजकल विश्वविद्यालयों में किसी एक निश्चित विषय के विभिन्न पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विद्वानों द्वारा आलेखों का प्रस्तुतिकरण और फिर चर्चा के रूप में सेमिनार आयोजित किए जाते हैं। यद्यपि इसमें छात्रों की भागीदारी नगण्य ही रहती है फिर भी विषय-सम्बन्धी विभिन्न पक्षों पर विद्वच्चर्चा के कारण सबको लाभ होता है। सेमिनार से सिम्पोज़ियम इस रूप में भिन्न है कि सेमिनार में किसी एक ही विषय पर चर्चा होती है जबकि सिम्पोज़ियम में अनेक विषयों पर। क्रिटीक में शिक्षक द्वारा कोई एक ही पुस्तक किसी छात्र को दे दी जाती है और वह उसका अध्ययन करके उसकी समीक्षा प्रस्तुत करता है, शेष छात्र उस चर्चा में भाग लेते हैं। इसके लिए भाषा पर अधिकार, विचारशक्ति, जिज्ञासावृति, खण्डन-मण्डन तथा लेखन क्षमता ज़रूरी है।

म्यूज़िकॉलोजी के अध्ययन में शुरू में लैक्चर का सहारा लेना ज़रूरी है ताकि इस नए विषय के विभिन्न अंगों से छात्रों का परिचय कराया जा सके। यदि लैक्चर को अधिकाधिक रुचिकारक बनाया जाय तो छात्रों को विषय के बारे में अधिक जानने और स्वयं अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। छात्रों के और विद्वानों के अलग-अलग सेमिनार कराने से छात्रों में सोचने-समझने, चर्चा और प्रश्नोत्तर करने तथा तर्कसम्मत ढंग से शंका समाधान करने की क्षमता का विकास करने में मदद मिल सकती है। लिखित कार्य के द्वारा इन क्षमताओं को सशक्त लिखित अभिव्यक्ति का रूप देने में बल मिल सकता है। विश्लेषण और समीक्षा का म्यूज़िकॉलोजी में विशेष महत्त्व है। अभी तक भारतीय संगीत के उपयुक्त तटस्थ और वस्तुनिष्ठ समालोचना की भारत में कोई परम्परा नहीं बन पाई है। यदि संगीत की क्रिया में प्रशिक्षित अथवा भारतीय संगीत के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरूप और विशेषताओं से परिचित व्यक्ति तैयार हो सकें तो संगीत का सही मूल्यांकन करने की दिशा में अच्छा प्रयत्न होगा। स्वस्थ समीक्षा के द्वारा न केवल कलाकार को मार्गदर्शन प्राप्त हो सकता है बल्कि संगीत के प्रति सही दृष्टिकोण का निर्माण और श्रोताओं की रुचि का परिष्कार भी किया जा सकता है। क्रिटीक पद्धति व्यक्ति को अधिक प्रबुद्ध बनाने की दृष्टि से उस स्तर पर अधिक अच्छे परिणाम दे सकती है जब छात्र की अन्य क्षमताओं का पर्याप्त विकास हो चुका हो।

इस विषय के अध्यापन के लिए विविध प्रकार की दृश्य और श्रव्य सामग्री की ज़रूरत हो सकती है जो यथासम्भव शिक्षक को ही जुटानी होगी। जैसे, अप्राप्य वाद्यों के रेखाचित्र, छायाचित्र अथवा वाद्यों के आकार-प्रकार और वादन-विधि को दिखाने के लिए वीडिओ चित्र अथवा उन वाद्यों का रिकॉर्ड किया हुआ संगीत आदि।

म्यूज़िकॉलोजी विषय का क्षेत्र बड़ा व्यापक है और सिद्धान्त तथा क्रिया को समेटता है इसलिए इसकी शिक्षा-पद्धति अन्य विषयों से भिन्न होनी स्वाभाविक है। इसके लिए कोई बनी-बनाई तैयार पद्धति उपयुक्त नहीं है और न ही ऐसी कोई निश्चित पद्धति बनाना सम्भव है क्योंकि इसमें मुख्य रूप से संगीत की शिक्षा, समीक्षा और अनुसन्धान के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि बनाना और यथासम्भव अधिक से अधिक विषयों से परिचय कराकर व्यक्ति की दृष्टि को खोल देना अपेक्षित है। इसलिए पाठ्यक्रम के विषयों को निश्चित सीमा में नहीं बाँधा जा सकता और जिस प्रकार का अध्ययन अपेक्षित है उस दृष्टि से यह भी उचित नहीं है कि एक बार सामग्री बनाकर उसी का उपयोग करते जायँ। आवश्यकता के अनुरूप शिक्षक को सामग्री में सतत परिवर्तन करने की ज़रूरत हो सकती है। पाश्चात्य संगीत से सम्बद्ध कुछ ऐसे विषय भी इसमें हैं जिनका निरपेक्ष अध्ययन भारतीय संगीत की क्रिया और लक्षण की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता किन्तु उनके तत्त्व या सिद्धान्तों को लेकर अपनी क्रिया को अधिक समृद्ध करना या लक्षण पर विचार करना उपयोगी हो सकता है। जैसे—आज पश्चिम में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का उपयोग करके psychology of music के अन्तर्गत पाश्चात्य संगीत पर बहुत विचार किया गया है। इसके सन्दर्भ में भारतीय संगीत में भी उसके अभिव्यक्ति और अनुभूति पक्ष पर विचार किया जा सकता है। यद्यपि दोनों संगीत पद्धतियों का स्वरूप और मूल दृष्टिकोण बहुत भिन्न होने के कारण ज्ञान की इस शाखा को ठीक पश्चिमी ढंग पर भारतीय संगीत में लागू नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार म्यूज़िकॉलोजी की धारणा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और अङ्गभूत सम्बद्ध विषय, सांगीतिक लिपिशास्त्र (musical paleography), सांगीतिक ध्वनिविज्ञान (musical acoustics) पाश्चात्य संगीत के सिद्धान्त व इतिहास, पाश्चात्य सांगीतिक सौन्दर्यशास्त्र ऐसे ही विषय हैं जिन्हें भारतीय संगीत के साथ सम्बद्ध करके अध्ययन करने में ही उनकी उपयोगिता है। एशिया की विभिन्न संगीत पद्धतियों का तथा विश्व के वाद्यों का परिचय भारतीय संगीत के ऐतिहासिक तथा स्वरूपगत विशिष्टता के अध्ययन में उपयोगी हो सकता है। भारतीय संगीत का इस प्रकार का कोई तुलनात्मक अथवा विश्लेषणात्मक अध्ययन अभी नहीं हुआ है। इन सब विषयों के अध्यापन के लिए पाश्चात्य विषयों का परिचय कराते हुए भारतीय संगीत को उनके साथ जोड़ने की दृष्टि शिक्षक ही प्रदान कर सकता है। अतः छात्र की क्षमता और योग्यता के अनुरूप पद्धति उसे स्वयं खोजनी और बनानी होगी।

संगीत के शास्त्रग्रन्थों का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन करके स्वयं निष्कर्ष निकालना भारतीय संगीत में अनुसन्धान की शर्त है, इसलिये संस्कृत व्याकरण का ज्ञान होना परम आवश्यक है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन की क्षमता के लिए संस्कृत का जिस प्रकार अध्ययन-अध्यापन होता है वह पद्धति यहाँ उपयोगी नहीं होगी। अतः प्रारम्भ से ही संगीत ग्रन्थों से सम्बद्ध होते हुए व्याकरण का अध्यापन करने के लिए शिक्षक को अलग ढंग निकालना होगा।

भारतीय दर्शन, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, छन्दःशास्त्र, रसशास्त्र आदि ऐसे विषय हैं जो संगीत के ग्रन्थों में घुले-मिले हैं। शास्त्रग्रन्थों के अध्ययन के लिए इनसे प्रगाढ़ परिचय होना जरूरी है। इसके लिए भी कोई ऐसी बनी-बनाई सामग्री या पद्धति उपलब्ध नहीं है जो पठन-पाठन का आधार बन सके। और न इन सबके लिए कोई एक पद्धति उपयुक्त हो सकती है। जैसे—संगीतशास्त्र में दर्शन के सिद्धान्तों के अध्ययन के लिए उन सिद्धान्तों की धारणा का अच्छा ज्ञान पर्याप्त हो सकता है किन्तु संगीत और छन्द के सम्बन्ध के अध्यापन के लिए छन्दों का क्रियात्मक रूप से पाठ और गान करके विषय को स्पष्ट करना शिक्षक के लिए आवश्यक होगा। अथवा कर्णाटक और हिन्दुस्तानी संगीत के विभिन्न पक्षों के स्पष्टीकरण तथा संगीत समीक्षा के लिए दृश्य-श्रव्य सामग्री और उपकरणों का समावेश भी अपेक्षित हो सकता है।

संगीत की क्रिया की शिक्षा देने का अनुभव अथवा अभ्यास भी इस विषय में सम्मिलित है। इसके लिए संस्थाओं में क्रिया की शिक्षा का जो वर्तमान ढर्रा बना हुआ है उससे हटकर शिक्षा देना आवश्यक होगा क्योंकि इस पाठ्यक्रम का लक्ष्य पर्फ़ॉर्मर बनाना नहीं है। शिक्षक बनाने के लक्ष्य की दृष्टि से स्वतन्त्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूप से 'बढ़त' करने अथवा रचना करने की क्षमता को विकसित करने की ओर ध्यान देना अधिक आवश्यक है। स्पष्ट है कि म्यूज़िकॉलोजी विषय का अध्ययन करने वाले छात्र को दी जाने वाली क्रिया की शिक्षा और इस पाठ्यक्रम के अङ्ग के रूप में छात्र से अध्यापन कार्य कराने में इन सब पक्षों का ध्यान रखना जरूरी होगा।

वास्तव में इस पाठ्यक्रम का क्षेत्र और स्वरूप ऐसा है जिसमें पूरे पाठ्यक्रम के लिए पहले उल्लिखित लेक्चर, क्रिटीक आदि पूर्व निर्धारित पद्धतियों में से कोई एक पद्धति नियत रूप से उपयुक्त नहीं हो सकती बल्कि प्रत्येक विषय अथवा पेपर के लिए अध्यापन की पद्धति और सामग्री भिन्न प्रकार की होगी। अतः यही उचित होगा कि शिक्षक स्वयं आवश्यकता के अनुरूप सामग्री तैयार कर ले। किन्तु इसके लिए यह जरूरी है कि उसे आवश्यक साधन व सुविधाएँ उपलब्ध हों। इस ओर कुछ प्रयत्न हुए भी हैं। किन्तु यह कार्य कितना कठिन है इससे वे सभी परिचित हैं जिन्होंने इस दिशा में कार्य करने की कोशिश की है। विदेश अथवा विदेशी की मुहर लगने से ही कोई वस्तु अधिक प्रमाणिक या ग्राह्य नहीं बनती, यह समझते हुए और अन्य पद्धतियों का विवेकपूर्ण उपयोग करते हुए भी यदि हम साक्षात् पठन-पाठन की पद्धति को फिर से जीवित कर सकें और अपनी नष्ट होती हुई अमूल्य धरोहर को फिर से संजो सकें, तो इससे हमारा कल्याण ही होगा। मूल को सींचने से ही शाखा-पल्लव अर्थात् पूरा वृक्ष पुष्ट होता है, यह युक्ति निरर्थक नहीं है।

सामान्य रूप से शिक्षा की और विशेष रूप से संगीत की शिक्षा की समस्याओं पर विस्तार से विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। किन्तु शिक्षा से जुड़ी कुछ प्रमुख समस्याओं की चर्चा के बिना विचार अधूरा रहेगा। शिक्षा का प्रथम उद्देश्य विचार या भाव को सही भाषा में परस्पर अभिव्यक्त कर पाना है। उच्चस्तरीय अध्ययन की दृष्टि से विश्वविद्यालय में प्रवेश से पहले ही सही भाषा ज्ञान और अभिव्यक्ति क्षमता का पर्याप्त विकास हो जाना चाहिए। अभी स्थिति यह है कि विश्वविद्यालय में आने तक छात्रों की विचारशक्ति और सही भाषा में अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता न्यूनतम आवश्यक स्तर की भी नहीं होती। इस कारण पहली समस्या तो यही आती है कि विश्वविद्यालय स्तर के अनुरूप क्या करायें और कैसे करायें? इसके लिये अकेले-अकेले व्यक्ति के प्रयत्न सफल नहीं हो पाते क्योंकि चारों ओर का वातावरण परिश्रम करने के लिये प्रेरणादायक होने के बजाय विपरीत ही होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामान्य रूप से छात्र वर्ग में ज्ञान प्राप्ति की लालसा का अभाव रहता है और वह लालसा जागृत करने की रुचि का अधिकांश शिक्षकों में अभाव होता है।

संगीत, जिसे विश्वविद्यालयीन शिक्षा में बहुत बाद में स्थान प्राप्त हुआ, अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही स्तर की गिरावट से ग्रस्त हो गया है। एकल प्रस्तुतिकरण यानी solo performance को ही एकमात्र लक्ष्य मान लेने के कारण संगीत में अध्ययन और अनुसन्धान को अभी तक उचित स्थान अथवा महत्त्व नहीं मिला है। यही कारण है कि ऐसे छात्र जो पर्फ़ॉर्मर तो नहीं बन सकते किन्तु अच्छी विचारशक्ति, जिज्ञासावृत्ति और शाब्दी अभिव्यक्ति के कारण संगीत में अनुसन्धान के क्षेत्र में सफल हो सकते हैं, वे भी इस ओर प्रवृत्त न होकर क्रिया की ओर ही भागते हैं और अन्त में उन्हें निराशा और कुण्ठा ही हाथ लगती है।

सिद्धान्त पक्ष के अध्यापन के लिए उपयुक्त व्यक्ति या तो उपलब्ध नहीं हैं अथवा उनका सही और पूरा उपयोग नहीं हो रहा है। अध्ययन की आधार सामग्री अप्रकाशित या अप्राप्त है। जो प्रकाशित अथवा प्राप्त है उसका भी पूरा-पूरा और उचित अध्ययन अभी तक नहीं हो सका है। इस कारण अध्ययन-अध्यापन और शोध के लिए आधार नहीं मिल रहा है। विदेशों से ही प्रेरणा लेने वालों के लिए यह जानना रुचिकारक होगा कि पश्चिमी देशों में सिद्धान्त की भारत जैसी प्राचीन, विकसित और पुष्ट परम्परा के न होते हुए भी संगीत के विभिन्न पक्षों पर इतना अध्ययन विगत १००–१५० वर्षों में हुआ है और भारतीय संगीत पर भी इतना काम किया जा रहा है कि उसकी तुलना में हम काफ़ी पीछे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में यह उल्लेखनीय है कि वहाँ हाइस्कूल स्तर से ही लॅक्चर की अपेक्षा स्वतन्त्र अध्ययन को महत्त्व दिए जाने के कारण सेमिनार, सिम्पोज़ियम, लिखित कार्य का उसी स्तर से आरम्भ हो जाता है जिसके फलस्वरूप उच्च शिक्षा में विश्लेषण, समालोचना आदि के लिए छात्र की पर्याप्त तैयारी हो जाती है। यह जान लेना भी ज़रूरी है कि विदेशों में ऐसे छात्र ही उच्च शिक्षा के लिए जाते हैं जिनमें उसकी योग्यता, क्षमता और रुचि हो तथा जो ज्ञान के क्षेत्र में वास्तव में कुछ करना चाहते हों। दूसरी ओर भारत में उच्च शिक्षा ज्ञान प्राप्ति का माध्यम न होकर अभी भी निरुद्देश्य समय गुज़ारने का साधन बनी हुई है।

अन्त में यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी विषय के अध्यापन की पद्धति की उपयुक्तता की परख या निर्धारण उस विषय के कुछ वर्षों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के व्यापक रूप से हुए अध्यापन के अनुभव के बाद ही किया जा सकता है। स्नातकोत्तर स्तर पर म्यूज़िकॉलोजी विषय केवल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में चलता रहा है। इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय के संगीतशास्त्र विभाग में भी चार-पाँच वर्ष पूर्व इसी प्रकार का एक पाठ्यक्रम लागू किया गया किन्तु अभी तक इसे नियमित रूप से चलाना ही सम्भव नहीं हो सका। इसके कारणों और बाधाओं का यहाँ उल्लेख करना उचित नहीं है, विद्वान्, विशेष रूप से शिक्षक बन्धु स्वानुभाव से उसका अनुमान कर लें, यही उचित होगा। इस विषय का व्यापक रूप से अध्यापन न हो पाने के कारण अभी इसके लिए किसी विशेष पद्धति की उपयोगिता निश्चित कर पाना सम्भव नहीं है। वैसे इस विषय के स्वरूप को देखते हुए कोई एक बनी-बनाई पद्धति उपयुक्त नहीं हो सकती। इसमें श्रव्य, दृश्य, मौखिक-लिखित सभी माध्यमों का प्रयोग आवश्यक है। यही कहा जा सकता है कि सभी विद्यालयों के संगीत विभाग इस विषय को आरम्भ करें और शिक्षक तथा छात्र सतत जागरूक रहकर लक्ष्य के अनुरूप और अनुकूल साधनों और पद्धतियों का उपयोग करें यही प्रशस्य होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गांधर्व, नाट्य और संगीत

भारतीय चिन्तनधारा की एक बड़ी मौलिक विशेषता यह रही है कि सभी विद्याओं, शास्त्रों, कलाओं आदि का अन्तिम लक्ष्य आत्मानुभूति माना गया, इसलिये ये सभी परस्पर संबद्ध रहे। एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् विचार के लिये कभी कोई गुंजाइश नहीं रही और एक के विचार में दूसरे का विचार स्वाभाविक रूप से आता रहा। वेदों के साथ जोड़कर इन विद्याओं, कलाओं आदि को स्थायी व शाश्वत रूप दिया गया। चिकित्सा-शास्त्र की आयुर्वेद के रूप में, युद्ध-विद्या की धनुर्वेद के रूप में, संगीत-कला की गांधर्ववेद के रूप में और अर्थशास्त्र की अर्थशास्त्र के रूप में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के उपवेद-स्वरूप प्रतिष्ठा इसका प्रमाण है। (एक अन्य मत के अनुसार, चतुर्थ उपवेद का नाम स्थापत्य है, जिसमें सभी अचल दृश्य कलाओं का समावेश है।) संगीत-कला की गांधर्ववेद के रूप में स्थापना इस बात का भी प्रमाण है कि संगीत केवल लोकरंजन की वस्तु नहीं था, बल्कि आत्मानुभूति का साधन भी था।

भारतीय संगीत को अनादि माना गया है, क्योंकि वेदों के समान उसका दर्शन किया गया। भारतीय संगीत के बारे में लिपिबद्ध रूप में जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह वैदिक काल से वेदों में ही है। उससे पता चलता है कि संगीत की दो धाराएँ साथ-साथ चलती रही हैं—१. वैदिक संगीत –जो अनादि, अपौरुषेय, अत्यन्त पवित्र, व्यवस्थित, नियमबद्ध, और अपरिवर्तनीय था। वेदों का 'सस्वर-पाठ' इसका रूप था। उन्हीं ऋचाओं को जब गाया जाता था, तो वह 'सामगान' कहलाता था। २. लौकिक संगीत—जो मनुष्य द्वारा निर्मित था, जिसमें नियमों की अपेक्षाकृत शिथिलता थी और लोक-रुचि के अनुकूल होने से इसमें परिवर्तन की गुंजाइश रहती थी। यज्ञ आदि अवसरों पर भाट, चारणों के द्वारा यज्ञ-कर्ताओं—यज्ञ का अनुष्ठान करने वालों—के विरुदगानादि के रूप में जो गीत-प्रयोग होता था, वह लौकिक संगीत था, जिसे 'नाराशंसि' कहा गया है। वैदिक संगीत में परम्परा व शुद्धि का बहुत ध्यान रखा जाता था। लेकिन लौकिक संगीत वेदों की तरह कठोर नियमों से बँधा न होने के कारण देश व काल के अन्तर से परिवर्तित होता रहा। यद्यपि प्राचीन काल के लौकिक संगीत का लिपिबद्ध रूप आज बिल्कुल प्राप्त नहीं है, फिर भी परिवर्तनशीलता के कारण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि आज के संगीत से प्राचीन संगीत का रूप अवश्य ही काफ़ी भिन्न रहा होगा।

ऊपर 'संगीत' शब्द का प्रयोग हमारे आज के व्यवहार के अनुकूल हुआ है और प्रस्तुत लेख में आगे भी इसी रूप में होगा। लेकिन यह ध्यान में रखना होगा कि वैदिक अथवा उसके बाद के लौकिक साहित्य में भरत के काल तक 'संगीत' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में प्रायः नहीं हुआ है जो आज है। इसका ग्रहण कब और कैसे हुआ, इसकी चर्चा आगे की जायगी।

हमारे यहाँ संगीत-विद्या से संबद्ध 'गांधर्व', 'गान' और 'संगीत', ये शब्द प्रयोग किये जाते रहे हैं और इन सबका सम्बन्ध नाट्य से जोड़ा जाता रहा है। यद्यपि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो पौराणिक उल्लेख हैं, उनमें नाट्य को 'नाट्यवेद' के रूप में पंचम वेद कहा गया है। इस प्रकार गांधर्व और नाट्य की क्रमशः 'गांधर्व उपवेद' और 'नाट्यवेद' के रूप में स्थापना दोनों के समान महत्त्व को परिलक्षित करती है। दुर्भाग्य से 'गांधर्ववेद' उपलब्ध नहीं है, इसलिये भरत के 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य के अङ्ग के रूप में 'गांधर्व' की जो विवेचना की गई है, उसी से सन्तोष करना पड़ता है। लेकिन श्रीरामदास गौड़ के 'हिन्दुत्व' नामक ग्रंथ में 'गांधर्ववेद' के बारे में जो उल्लेख मिलता है, उसे सही माना जाय, तो उससे यह सहज अनुमान होता है कि गान्धर्ववेद में ध्वनि व उसकी शक्तियों का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। साथ ही नृत्त-प्रकार व विविध नृत्यों का उल्लेख इस बात को भी सूचित करता है कि 'गांधर्व' में नृत्त अथवा नृत्य का समावेश भी अवश्य किया गया होगा। 'गांधर्ववेद' में नाट्य-प्रकार व नाट्यशाला-निर्माण-विधि के समावेश से यही पता चलता है कि गान्धर्व का नाट्य से सम्बन्ध भी अवश्य रहा होगा। सम्भवतः दोनों का विकास साथ-साथ हुआ होगा, जो दोनों की उपवेद एवं पंचमवेद के रूप में प्रतिष्ठापना से भी पुष्ट होता है।

'गांधर्व' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार किये बिना गांधर्व-गान का विचार अधूरा रहेगा इसलिये पहले इसकी व्युत्पत्ति समझना ज़रूरी है। 'गंधर्वस्य इदम् इति गांधर्वम्', इस अर्थ में 'गंधर्व' से 'अण्' प्रत्यय लगाकर 'गांधर्व' शब्द बनता है। 'गांधर्व' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—'गंधम् अर्वति इति गंधर्वम्', अर्थात् जो गंध को पहुँचे, वह 'गंधर्व'। गंध को पहुँचने का अर्थ है कि गंध से ही जान लेना। सामान्य बोल-चाल की भाषा में भी हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति सूंघ कर बात समझ लेता है, अर्थात् भाँप लेता है। सूक्ष्म दृष्टि वाले व्यक्ति के लिये हम ऐसा प्रयोग करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'गंधर्व' की व्युत्पत्ति में गंध से जान लेने का अर्थ है कि जो स्वर की गंध को भी पहचान ले। गंधर्वों की श्रवण-शक्ति इतनी सूक्ष्म मानी गई है कि वे मूल स्वरों से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म स्वरों को भी पहचान लेते हैं। 'संगीत-रत्नाकर' में सात स्वरों के द्रष्टा ऋषि बताए गए हैं, जिनमें से पंचम का नारद को और धैवत-निषाद का तुंबुरु को द्रष्टा कहा है। 'द्रष्टा' का अर्थ है, जिसने सबसे पहले स्वर का दर्शन किया। पंचम का सर्वप्रथम दर्शन नारद ने और धैवत-निषाद का तुंबुरु ने किया। इन दोनों ऋषियों को 'गंधर्व' भी कहा जाता है। साम-संगीत के प्रथम स्वर के तार से सुनाई देने वाले स्वयंभू नाद को तुंबुरु ने सबसे पहले पहचाना। प्रथम स्वर को षड्ज मानें तो वह स्वयम्भू नाद उसका गांधार और प्रथम स्वर को मध्यम मानें, तो धैवत हो जाता है। षड्ज-गांधार में जो अन्तर है, वही मध्यम-धैवत में भी है। इस प्रकार संभवतः स्वरों के गंध-रूप (उप) स्वरों को पहचानने के कारण ये 'गंधर्व' कहलाये और गंधर्व से सम्बन्धित 'गांधर्व' कहलाया।

अभिनवगुप्ताचार्य ने इनसे भिन्न एक और व्युत्पत्ति 'गांधर्व' शब्द की दी है। उसके अनुसार 'गां वाचं धारयतीति गांधर्वम्';[1] अर्थात् जो वाणी को धारण करे, वह 'गांधर्व' है। 'नाट्यशास्त्र' के पंचम अध्याय में एक कथा है जिससे गांधर्व शब्द की इस व्युत्पत्ति की पुष्टि होती है। प्राचीनकाल में देवताओं ने स्तुतिपरक गीत-प्रयोग किया और उससे असुर अत्यन्त प्रभावित हुए लेकिन उन्होंने उसमें से पद अर्थात् गीत निकालकर स्वर-लय का ग्रहण कर लिया, क्योंकि वे देवस्तुति नहीं कर सकते थे। देवता इससे बहुत रुष्ट हुए और पद-रहित प्रयोग को निर्गीत अर्थात् बहिर्गीत कहकर उसे समाप्त करने की चुनौती देते हुए वे नारद के पास सलाह लेने पहुँचे। नारद ने समझाकर कहा कि दानवों के पास निर्गीत रहने से वे सन्तुष्ट रहेंगे और देवताओं की वाणी की भी रक्षा होगी, इसलिये निर्गीत को नष्ट करने की जरूरत नहीं। वाणी की रक्षा इस प्रकार होगी कि निर्गीत में पद को छोड़कर शेष सब कुछ देवताओं के अनुसार ही है; यदि वे (देवता) वाणी (पद) भूल भी जाएँगे तो पदरहित रचना को सुनकर याद आ जाएगी। 'गां धारयति' में पद-युक्त रचना तो है ही, लेकिन पद-रहित रचना—निर्गीत अथवा बहिर्गीत—'वाणी' का धारण सूक्ष्म रूप से करती है, इसलिये उसका भी 'गांधर्व' में समावेश है।

नारदीया-शिक्षा में भी 'गांधर्व' की निरुक्ति दी गई है जो इस प्रकार है—

---

१. ना० शा०, २८।१० पर अभि०, पृ० ६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गेति गेयं विदुः प्राज्ञाः धेति कारुप्रवादनम् ।
वेति वाद्यस्य संज्ञेन गान्धर्वस्य विरोचनमिति ॥[२]

गान्धर्व शब्द में प्रयुक्त ग, ध और व—इन तीन वर्णों के आधार पर यह निरुक्ति दी गई है जिसमें टीकाकार के अनुसार 'ग' के द्वारा गेय का सूचन है तथा 'ध' और 'व' चातुर्यपूर्वक हस्तांगुलि के द्वारा वादन को सूचित करते हैं। इस टीका के आधार पर गांधर्व गीत और वाद्य का सूचक है। किन्तु 'ध' से कारुप्रवादन और 'व' से वाद्य—इस कथन से ऐसा लगता है कि ये दो भिन्न तत्त्वों के सूचक हैं। सम्भव है कि 'ध' के द्वारा वेणु और वीणा का तथा 'व' से भाण्ड (अवनद्ध) वाद्य का ग्रहण अभिप्रेत हो। यह उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र में 'वाद्य' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर स्वर-प्रधान तन्त्री और सुषिर वाद्यों से भिन्न अवनद्ध वाद्यों के लिये किया गया है।

हमारे यहाँ गंधर्वों के साथ गीत, वाद्य और नृत्य का सदा से सम्बंध माना जाता रहा है। आदि-काल से गंधर्व योनि कलाओं में—विशेष रूप से संगीत में—निपुण और सूक्ष्म दृष्टि से युक्त मानी गयी है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' में भी आनन्द-मीमांसा के प्रकरण में गन्धर्व का उल्लेख मिलता है। वहाँ आरम्भ में आनन्द के तीन स्तर-भेद किए हैं—१. मानुषानन्द (विशिष्ट गुणों व सुखों से सम्पन्न मनुष्य को प्राप्त होने वाला आनन्द, जो सबसे निम्न स्तर का आनन्द है।), २. मनुष्यगन्धर्वानन्द (सौ मानुषानन्दों के बराबर आनन्द) और ३. देव-गन्धर्वानन्द (सौ मनुष्यगन्धर्वानन्दों के बराबर आनन्द)। इसमें गन्धर्वों की दो श्रेणियाँ हैं—मनुष्यगन्धर्व तथा देवगन्धर्व। मनुष्यों में जो विशेष गुण, शील और सूक्ष्मदृष्टि-सम्पन्न हो, वह मनुष्य गन्धर्व हो जाएगा; लेकिन कुछ योनियाँ ऐसी होती हैं, जो मनुष्य के स्तर की न होने से सूक्ष्मरूप में हमें दिखाई नहीं देतीं। वे 'देवगन्धर्व' कहलाएँगी।

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी मनुष्यों के शील की चर्चा के प्रकरण में गन्धर्वशीला स्त्री का लक्षण इस प्रकार किया है—

गीते वाद्ये च नृत्ते च नित्यं हृष्टा मृजावती।
गन्धर्वसत्त्वा विज्ञेया स्निग्ध-त्वक्-केशलोचना ॥[3]

इसके द्वारा भी गन्धर्वों की विशेष रूप से गीत-वाद्य-नृत्त में कुशलता की पुष्टि होती है।

---

२. ना० शि०, १।४।१२।

३. ना० शा०, २२।१०७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसा आरम्भ में कहा गया है, साम-गान के साथ-साथ उससे भिन्न लौकिक संगीत का प्रयोग भी अबाघ रूप से होता रहा। इसी सामभिन्न संगीत के विशिष्ट नियमबद्ध रूप को 'गाधर्व' कहा गया, जो साम की ही तरह अत्यन्त प्राचीन है। 'नाट्यशास्त्र' में गान्धर्व के बारे में यह उल्लेख है—

गान्धर्वमेतत् कथितं मया हि, पूर्वं यदुक्तं प्रपितामहेन।[४]

इससे भी गान्धर्व की प्राचीनता सिद्ध होती है। साम-संगीत से हमारे संगीत का सम्बन्ध आज भी जोड़ा जाता है और इसे सामसंगीत से उत्पन्न मानते हैं। इसका कारण यह है कि पहले साम-संगीत का रूप स्थिर हुआ। बाद में साम से भिन्न गीत-वाद्य प्रकारों का शास्त्रीय रूप स्थिर किया गया, जो साम के शास्त्र के आधार पर बना इसी को 'गान्धर्व' नाम दिया गया। 'गान्धर्व' का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था। किन्तु इसी शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में भी हुआ जो नाट्य के पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त होने वाले गीत-प्रकारों का सूचक था।

साम और गान्धर्व के इस सम्बन्ध को एक-दो उदाहरणों के द्वारा समझा जा सकता है। साम-संगीत में स्वरों की अवरोहात्मक गति थी; प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम—ये नाम थे और ग्राम-विभाजन नहीं था। ये स्वर क्रम से हमारे म, ग, रे, सा, ध, नि और प होते हैं। लौकिक संगीत में जो धुनें प्रचलित रहीं, उनमें दो प्रकार के स्वर-संवाद विशेष दिखाई देते होंगे—एक तो वे, जिनमें 'स-प' में संवाद होता था और दूसरा वह जिसमें 'रि-प' का संवाद था और 'स-प' के 'प' से यह 'प' कुछ उतरा मालूम होता था। शास्त्रीय रूप देते समय इन्हीं के आधार पर षड्ज-ग्राम और मध्यम-ग्राम के रूप में ग्राम-विभाजन हुआ। लेकिन इसके लिए आरोह व अवरोह, दोनों क्रम आवश्यक थे; इसलिये अवरोह के साथ आरोह-क्रम जोड़कर साम के अवरोह-क्रम को उलट दिया; अर्थात् प्रथम को मध्यम, द्वितीय को गान्धार और इसी क्रम से अन्य संज्ञाएँ प्रदान की गयीं। इस प्रकार साम-गान का 'प्रथम' 'गान्धर्व' में मध्यम बन गया और षड्ज से आरोह-क्रम रखने पर मध्यम सात स्वरों के बीचों-बीच स्थापित हुआ, जिससे मध्यम संज्ञा भी सार्थक हुई। इसलिये 'यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः'[५] सार्थक होता है।

गान्धर्ववेद के प्रवर्तक के रूप में नारद का उल्लेख मिलता है, लेकिन गान्धर्ववेद के लुप्त हो जाने से इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। 'गान्धर्व'

---

४. वही, ३३।२३।

५. ना० शि०, १।५।१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का सबसे पहले उल्लेख भरत के 'नाट्यशास्त्र' में हुआ है। 'नाट्यशास्त्र' की टीका में अभिनवगुप्त ने कहा है कि गान्धर्व देवताओं को इष्ट और गन्धर्वों को अत्यन्त प्रिय होने के कारण गान्धर्व कहलाता है।

'नाट्यशास्त्र' के अट्ठाईसवें अध्याय में चार प्रकार के वाद्य बताकर उनका त्रिविध प्रयोग (कुतप) बताया—तत-सुषिर वाद्यों का तत कुतप, अवनद्ध वाद्यों का अवनद्ध कुतप और तीसरा नाट्य कुतप, जिसे अभिनय प्रधान कहा। इनमें से तंत्रीकृत विधि को ही 'गान्धर्व' कहा; यथा—

यत्तु तंत्रीकृतं प्रोक्तं नानातोद्यसमाश्रयम्।
गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं स्वरतालपदात्मकम्॥[६]

तंत्रीकृत को 'गान्धर्व' इसलिये कहा कि तंत्री स्वर-प्रधान है। स्वर की उत्पत्ति पहले मनुष्य-कण्ठ से होती है और उसके अनुकरण पर वाद्य बनते हैं, इसलिये स्वर-प्रधान अंश में गायन मुख्य रूप से रहता है, वाद्य आश्रित होते हैं। वाद्यों में तंत्री-वाद्य कण्ठ की संगति के लिये सबसे उपयुक्त माने जाते हैं, क्योंकि उनका स्वर स्थिर होता हैं और छेड़ने के भेद से भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीलिये कहा गया है कि तंत्री वाद्य के साथ गाने से बेसुरा कण्ठ भी सुरीला हो जाता है। इसके साथ ही गान्धर्व का लक्षण भी बता दिया है—'गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात् स्वरतालपदात्मकम्'[७] अर्थात् स्वर, ताल और पद से युक्त प्रयोग ही गान्धर्व है। संगीत के दो मुख्य उपकरणों—स्वर और लय—का गान्धर्व के स्वर और ताल में समावेश हो जाता है। गान्धर्व का नाट्य के अङ्ग के रूप में प्रयोग होने से पद तो अनिवार्य था ही, इसलिये पद का भी समावेश किया। लेकिन पद-रहित रचना निर्गीत अथवा बहिर्गीत को नाट्य के भीतर स्थान नहीं दिया। उसका प्रयोग पूर्वरङ्ग-विधि तक ही सीमित रखा गया, क्योंकि नाट्यारम्भ से पहले श्रोताओं के चित्त को एकाग्र करने में (पदयुक्त रचना के बराबर न सही, कम मात्रा में) निर्गीत भी समर्थ हैं।

गान्धर्व के तीनों तत्त्वों—स्वर, ताल और पद का विषय-संग्रह इस प्रकार है—

१. स्वर-विधि। दो अधिष्ठान—शारीरी वीणा व दारवी वीणा। दारवी वीणा में स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, जाति, तान, स्थान, वृत्ति (वीणा-वादन की), शुष्क (निर्गीत-बहिर्गीत), साधारण विधि, वर्ण, अलंकार, धातु (वीणा-वादन की

---

६. ना० शा०, २८।८। ७. वही, २८।११।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तकनीक-सम्बन्धी), श्रुति, यति (लय-भेदों के परिवर्तन से बनने वाले लय-सन्निवेश)। इनमें से स्वर, ग्राम, अलंकार, वर्ण, स्थान, जाति और साधारण शारीरी-वीणा से भी सम्बन्ध रखते हैं।

२. पद विधि : व्यंजन, स्वर, वर्ण, सन्धि, विभक्ति, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तद्धित, कृत्, छन्द, अलंकार।

३. ताल-विधि : आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेश, ध्रुव, शम्या, ताल, सन्निपात, परिवर्त (लगभग आवर्तन), वस्तु, मात्रा, प्रकरणांग (प्रकरण-गीत—ताल-प्रधान गीत), विदारी (ताल का खण्ड), यति, लय, गीति (लघु-गुरु-प्रधान), अवयव, मार्ग (लय-सम्बन्धी)।

उपर्युक्त विषय-संग्रह को देखने से मालूम होता है कि संगीत के सारे विषयों का तंत्रीकृत आतोद्य-विधि अथवा गांधर्व में समावेश हो गया है। नाट्य से जुड़े संगीत-प्रयोग के सन्दर्भ में भरत ने 'गांधर्व' के साथ एक और शब्द का भी प्रयोग किया है और वह है 'गान'। वैदिक व परवर्ती साहित्य में यज्ञ के दो फल माने गए हैं—अदृष्ट फल व दृष्ट फल। अदृष्ट फल वह है जो कार्य करते ही तुरन्त प्राप्त न हो, बल्कि संचित हो जाय; जैसे—यज्ञादि करने वाले को तुरन्त कुछ फल नहीं मिलता, लेकिन देवता-परितोष द्वारा फल संचित होता है। कार्य सम्पन्न होते ही जो फल प्राप्त हो जाए, वह दृष्ट माना गया है; जैसे—गीत-प्रयोग किया और श्रोताओं से तुरन्त प्रशंसा मिली। गांधर्व को प्रधान रूप से अदृष्ट फल देने वाला और गान को प्रधान रूप से दृष्ट फल देने वाला कहा गया है, क्योंकि गांधर्व के द्वारा केवल लोक-रंजन न होकर देवता-परितोष व आत्म-शुद्धि अधिक मानी गयी है। इसलिये गांधर्व की गांधर्ववेद के रूप में प्रतिष्ठा की गई। गांधर्व का अदृष्ट फल प्रयोक्ता को होता है और गान का दृष्ट फल श्रोता को होता है। श्रोता के चित्त का रंजन ही दृष्ट फल है।

गांधर्व और गान, दोनों का सामान्य लक्षण अवश्य 'स्वरतालपदात्मकम्' है, लेकिन दोनों की स्वर, ताल और पदगत विधि में भेद है। गांधर्व की स्वर-विधि में दो ग्रामों का भेद, लोप-विधि का पालन, न्यूनतम पाँच स्वरों का प्रयोग, मन्द्र-प्रसन्नादि अलंकारों का ही नियमतः प्रयोग, चौदह मूर्च्छना व चौरासी शुद्ध तानों की मर्यादा होती है। ताल-विधि में हाथ की क्रियाओं का नियत प्रयोग, यति, लय, मार्ग, ग्रह आदि का अदृष्टार्थ में उपयोग, कलाओं का छेद केवल लघु तक, वर्धमान के विशाला आदि ताल-परिवर्तों का विशिष्ट ढंग से प्रयोग अनिवार्य रूप से होता है। पद भी यहाँ सहायक या गौण रूप में रहता है; स्वर और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ताल मुख्य हैं। स्वर-ताल प्रयोग के लिये किसी आधार की आवश्यकता होती है इसीलिये पद रहता है। गान की पूरी विधि इससे भिन्न है। गान में रसानुभूति-प्रयोजन होने के कारण स्वर व ताल-योजना पद के अनुसार होती है। इसीलिये इसमें न्यूनतम दो स्वरों का प्रयोग ग्राह्य है; ५०४० कूट भेदों में से यथेच्छ तानों का प्रयोग किया जा सकता है। गान में गांधर्व-जैसा ताल-प्रपंच भी नहीं है। यहाँ तो उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों के चित्त अथवा पैरों की गति से साम्य स्थापित करना ही ताल का प्रयोजन है, इसलिये द्रुत, अणुद्रुत आदि इकाई भी ग्राह्य होती हैं। गान में पद प्रधान व स्वर, ताल उसके उपरंजक हैं। अर्थबोध व रसानुभूति लक्ष्य होने के कारण पद सार्थक ही होता है, जबकि गांधर्व में निरर्थक भी हो सकता है।

अभिनवगुप्त ने गांधर्व को पूर्वरङ्ग में प्रयुक्त गीतकों का और गान को नाट्य में प्रयुक्त ध्रुवाओं का पर्याय माना है। इस प्रकार दोनों के स्वरूप और प्रयोजन में बड़ा अन्तर है। गांधर्व और गान का भेद एक स्वतन्त्र लेख की अपेक्षा रखता है यहाँ उसका अन्तर सार रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

गान्धर्व को वेदों की भाँति सनातन माना जाता है। इसीलिए गान्धर्व अपरिवर्तनीय रहा। उसमें जो गीत हैं, उनमें बाद में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अनादि काल से चले आने वाले गीतों में वेदों की भाँति किसी कर्ता या काल की छाप नहीं रहती, ऋषियों द्वारा उनका दर्शन होता है। ये नित्य अभ्युदयकारी होते हैं। शार्ङ्गदेव ने 'मार्ग' और 'देशी' का जो विभाजन किया उसके अनुसार 'मार्ग' अपरिवर्तनीय, नियमबद्ध था और 'देशी' में नियमों की शिथिलता थी तथा लोक-रुचि के अनुसार परिवर्तन होने के कारण उसका रूप स्थिर नहीं था। 'देशी' मनुष्य-कृत था जबकि 'मार्ग' अपौरुषेय था जिसमें भरत-प्रतिपादित स्वर-ताल-पदविधि में से ध्रुवा को छोड़कर शेष सब कुछ समाविष्ट था। अठारह जातियों के उदाहरण-गीत भी अपौरुषेय माने गए। भरत की ध्रुवा में ही देशी-प्रबन्धों का मूल बीज माना जाता है। यों तो गान्धर्व में भी देशी-तत्त्व के दर्शन होते हैं। आंध्री, मध्यमोदीच्यवा, गान्धारोदीच्यवा, षड्जोदीच्यवा आदि जातियाँ आंध्र अथवा 'उदीचि' में गाये जाने वाले विशिष्ट प्रकारों से सम्बद्ध मानी जा सकती हैं। लेकिन सामभिन्न संगीत को शास्त्रीय रूप देते समय इन सब देशज रूपों का 'गान्धर्व' में समावेश हो जाने के कारण वे 'मार्ग' के अन्तर्गत आ गए। इसके बाद परिवर्तन से जो रूप बना, वह सारा 'देशी' में रखा गया और 'गान्धर्व' को 'मार्ग' कहा गया। मतंग से ही 'गान्धर्व' और 'गान' के स्थान पर 'मार्ग' और 'देशी' का प्रयोग आरम्भ हुआ। उसमें 'गान्धर्व' और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'गान' को स्पष्ट रूप से 'मार्ग' और 'देशी' नहीं कहा गया लेकिन 'संगीतरत्नाकर' के आधार पर 'गान' को परोक्ष रूप से 'देशी' का प्रतिनिधि माना जा सकता है, क्योंकि 'गान' का जो दृष्ट फल है, मुख्य रूप से श्रोता को होता है और 'देशी' का भी दृष्ट फल श्रोता को कहा गया है।

यह पहले कहा जा चुका है कि अत्यन्त प्राचीन काल से 'नाट्य' और 'गान्धर्व' का विकास साथ-साथ होता रहा और दोनों ने वेद के रूप में प्रतिष्ठा भी प्राप्त की। 'गान्धर्ववेद' के लुप्त हो जाने से उसके बारे में तो अधिक जानकारी नहीं मिलती, लेकिन भरत का 'नाट्यशास्त्र' उपलब्ध होने से नाट्य परम्परा निबद्ध रूप में बनी रही।

नाट्य में लोकवृत्त का अनुकरण होने के कारण जीवन की छोटी से छोटी परिस्थिति का भी चित्रण हो सकता है। इसी कारण इसमें दृश्य व श्रव्य, दोनों अंश हैं। श्रव्य और दृश्य, दोनों की एकत्र रूप में आवश्यकता होने के कारण ही देवताओं के लिए ब्रह्मा ने नाट्य की सृष्टि की, क्योंकि देवताओं की इच्छा थी :—

क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।[८]

दोनों तत्त्वों का समावेश एक साथ होने के कारण स्थापत्य, वास्तु, संगीत आदि सब कलाओं की अपेक्षा नाट्य के द्वारा रसानुभूति सबसे सहज, तीव्र और पूर्ण होती है। इसमें सब शास्त्रों का निचोड़ और सब कलाओं का प्रयोग आ जाता है। लेकिन धर्मशास्त्रों की भाँति विधि-निषेध के द्वारा उपदेश न देकर इसमें मित्र की भाँति मनोरंजन के द्वारा परोक्ष रूप में उपदेश दिया जाता है। श्रेय और प्रेय का समन्वय एकमात्र नाट्य में ही मिलता है।

'नाट्यशास्त्र' में यह उल्लेख है कि 'ऋग्वेद' से 'पाठ्य', 'सामवेद' से 'गीत', 'यजुर्वेद' से 'अभिनय' और 'अथर्ववेद' से 'रस' लेकर नाट्य की रचना हुई।[९] पाठ्य, गीत, अभिनय और रस—यही चार तत्त्व नाट्य में माने जाते हैं। इनमें से पाठ्य और गीत श्रव्यांश में तथा अभिनय दृश्यांश में आ जाता है; रस किसी में नहीं, क्योंकि वह अनुभवगम्य है; दृश्य या श्रव्य नहीं। 'पाठ्य' के अन्तर्गत नाट्य की कथा, संवाद, स्वगत कथन आदि पदांश आ जाता है। 'गीत' में स्वर-ताल से संबंधित विषय समाविष्ट हो जाते हैं। 'अभिनय' चार प्रकार का कहा गया है—आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य। आंगिकाभिनय में शरीर के विभिन्न अंगों द्वारा की जानेवाली चेष्टाएँ तथा वाचिक में

८. वही, १।११। ९. वही, १।१७।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाणी से सम्बन्धित अभिनय आता है। वाचिक अभिनय में ही पदांश—व्याकरण, छंद, अलंकार, काकु, छत्तीस लक्षणादि (जिन्हें अलंकारों का मूल कहा जाता है) आता है। यों तो वाचिकाभिनय में पाठ्य और संगीत, दोनों का समावेश हो जाता है। फिर भी नाट्य के चार तत्त्वों में गीत को अलग से कहा गया है और 'गेयाधिकार' के अंतर्गत उसका अलग से निरूपण भी हुआ है। नट के वस्त्राभूषण, रंगमंच की साज-सज्जा आहार्य अभिनय है और सात्त्विक में सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण अश्रु, पुलक, कम्प, वैवर्ण्य, स्वेद, स्तम्भ, स्वर-भंग और मूर्च्छा—ये आठ सात्त्विक भाव आते हैं। भावनात्मक अनुभूति की तीव्रता के कारण शरीर में ये विकार स्वाभाविक रूप से होते हैं, परन्तु ये इन्द्रिय-व्यापार नहीं हैं। किन्तु इनमें भी दृश्य की ही प्रधानता है। कम्प, पुलक, वैवर्ण्य, स्वेद, स्तम्भ केवल दृश्य हैं और अश्रु के साथ ध्वनि (सिसकना आदि) भी हो, तो वह दृश्य के साथ कुछ अंशों में श्रव्य भी है। मूर्च्छा भी अधिकतर दृश्य है, लेकिन पछाड़ खाकर गिरने की ध्वनि से मूर्च्छा का अनुमान किया जाए, तो श्रव्य भी कह सकते हैं। इस चतुर्विध अभिनय में भी दृश्य की ही प्रधानता है, क्योंकि आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय दृश्य हैं; केवल वाचिक ही श्रव्य है। गांधर्व इसी में आता है, इसलिये गांधर्व भी श्रव्य ही है।

रस नाट्य का चौथा तत्त्व है और वही नाट्य का अंतिम लक्ष्य है। 'नाट्य' शब्द का प्रधान अर्थ ही 'रस' है। चतुर्विध अभिनय द्वारा मनुष्य-जीवन के अनुकरण से रस-बोध कराकर मनुष्य को ऊँचा उठाना, यही नाट्य का मूल उद्देश्य है। नाट्य के सन्दर्भ में जो रस-निरूपण हुआ, उसी को सभी कलाओं के संदर्भ में भी मान लिया गया। अन्य कलाओं के लिए हमारे यहाँ अलग-अलग रस-शास्त्र नहीं बना, क्योंकि जैसा नाट्यशास्त्रकार ने कहा है :—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥[10]

सभी ज्ञान, शिल्प, विद्या और कला का नाट्य में समावेश हो ही जाता है। इन सबका समन्वित रूप ही नाट्य है, अतः कलाओं के लिए नाट्य से भिन्न रस-शास्त्र की आवश्यकता नहीं समझी गई।

मतंग और शार्ङ्गदेव के काल के बीच में नाट्य से पृथक् गीत-वाद्य-नृत्य प्रयोग के लिए 'संगीत' शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ। 'संगीत' का अर्थ है सम्यक् गीत अर्थात्, भली प्रकार से गीत-प्रयोग। गीत में पद आवश्यक है।

१०. वही, १।११६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यहाँ गीत अथवा पद कण्ठ-संगीत का द्योतक है, क्योंकि वाद्य तो गीत का ही अनुकरण करता है। भरत को गीत, वाद्य, नृत्त के समुच्चय-बोधक रूप में संगीत की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि नृत्त, जो कि अभिनय-प्रधान था, वह नाट्य के अंतर्गत आ ही जाता था। गीत, वाद्य को अलग से गांधर्व में ले लिया। स्वर-तालप्रधान गांधर्व का प्रयोग मुख्यतः नाट्य के अंग के रूप में नहीं, बल्कि नाट्यारम्भ से पहले पूर्वरङ्ग में था। निर्गीत अथवा बहिर्गीत का प्रयोग भी यहीं हो सकता था, नाट्य में नहीं; क्योंकि यह केवल स्वर-तालयुक्त था। इसमें पद हो तो निरर्थक ही हो सकता था, इसलिए निर्गीत नाट्य के अंतर्गत उपयोगी नहीं माना गया। बाद में नाट्य से स्वतन्त्र प्रयोग होने पर संगीत में नृत्त जुड़ा। लेकिन भरत के काल में भी नाट्य से स्वतन्त्र जब गांधर्व का प्रयोग होता था तो उसमें नृत्त अवश्य रहता होगा, ऐसा भरत के गांधर्वशील के लक्षण से प्रकट होता है। वहाँ गीत, वाद्य के साथ-साथ नृत्त में कुशलता भी आवश्यक है।

संगीत की जो परिभाषा 'संगीतरत्नाकर' के बाद के ग्रन्थों में दी गई है वह गीत, वाद्य और नृत्त अथवा नृत्य के समुच्चय की बोधक है—गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।[११] गीत और वाद्य के अलावा नृत्त को भी इसमें सम्मिलित किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि नाट्य से स्वतंत्र प्रयोग होने पर भी संगीत को केवल श्रव्य बनाना अभिप्रेत नहीं रहा। दृश्यांश भी रखने की भावना रही होगी, इसीलिए नृत्त का समावेश किया, जो मुख्यरूप से दृश्य है।

गीत, वाद्य और नृत्त में प्रधानता इसी क्रम से थी। गीत का अनुकरण वाद्य करता था और वाद्य का नृत्त। 'संगीतरत्नाकर' के बाद संगीत में से दृश्यांश यानी नृत्त का महत्त्व घटने लगा और गीत तथा वाद्य ही संगीत रह गया। लेकिन तब भी इतना सम्बन्ध बना रहा कि गीत और वाद्य के बिना नृत्त नहीं होता था। गीत व वाद्य का प्रयोग एक-दूसरे से स्वतन्त्र होने लगा होगा और यही परम्परा चलती रही। आज भी हम संगीत से केवल गायन-वादन को ही समझते हैं। संगीत की अधिकांश शिक्षा-संस्थाओं में भी गाने और बजाने की ही शिक्षा दी जाती है और संगीत को 'म्यूज़िक' (music) का पर्याय समझा जाता है।

संगीत में दृश्यांश न्यूनाधिक मात्रा में रहता अवश्य है। नाट्य में दृश्य चतुर्विध अभिनय है। गेय होने के कारण संगीत में वाचिक अभिनय तो प्रधानतः रहता ही है गाते-बजाते समय भावानुकूल हाथ व चेहरे की चेष्टाएँ

११. सं० र०, १.२१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आंगिकाभिनय में आती हैं। रसानुभूति संगीत का लक्ष्य होने के कारण सात्त्विक अभिनय का भी इसमें दर्शन होता है। गाते-बजाते समय उच्च श्रेणी के गायक-वादकों में अश्रु, पुलक, स्वेद और स्वरभंग आदि स्वाभाविक रूप से प्रकट होते हैं। आहार्य अभिनय का संगीत में कोई विशेष स्थान नहीं है, क्योंकि गायक-वादक को वेशभूषा या रंगमंच की साज-सज्जा से संगीत के प्रभाव में वृद्धि करने की कोई परम्परा नहीं है और केवल श्रव्य द्वारा अभिव्यक्ति करने की ही परम्परा है।

नाट्य में 'अवस्था' अर्थात् मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थियों का अनुकरण रहता है। संगीत में भी किसी-न-किसी रूप में परिस्थिति रहती अवश्य है। मान लें कि किसी पद में वियोग-श्रृंगार के उद्दीपन में प्रकृति-वर्णन किया गया हो, तो उसे सुनकर एक ऐसे चित्र की आकृति कल्पना में जरूर बनती है, जिसमें विरहदग्धा नायिका सखियों के साथ मलिन वेशभूषा में वन-उपवन में बैठी हो। यही गीत का नाट्य-तत्त्व है। रस-दृष्टि से विचार करें तो संगीत में नाट्य-तत्त्व सूक्ष्म रूप में रहता है, क्योंकि पद में पूरी परिस्थिति का वर्णन नहीं रह सकता। फिर भी कल्पना के द्वारा उसका ग्रहण करना पड़ता है।

नाट्य की अपेक्षा सगीत में अपनी एक विशेषता है। नाट्य संगठित (organised) कला है। इसमें कल्पना एक व्यक्ति की रहती है और नट (अभिनेता) उसे प्रस्तुत करते हैं। लेकिन संगीत में कल्पना भी गायक-वादक की अपनी ही रहती है और प्रस्तुतकर्ता भी वह स्वयं ही है। इसलिये अपनी कल्पना को वह जितनी सहजता व पूर्णता से व्यक्त कर सकता है, नट वैसा नहीं कर सकता। पाश्चात्य संगीत में ऐसा नहीं है। वहाँ गायक-वादक (performer) नाट्य के अभिनेता की भाँति रचयिता (composer) की कृति को केवल प्रस्तुत करते हैं, अपनी कल्पना के प्रयोग के लिये गायक-वादक को कोई अवकाश नहीं है।

नाट्य, गांधर्व और संगीत का परस्पर सम्बन्ध एक और रूप में भी जोड़ा जा सकता है। सत्, चित्, आनन्द की जो धारणा भारतीय दर्शन में है, उसमें सत् की अपेक्षा चित् और चित् की अपेक्षा आनन्द की महत्ता अधिक मानी गई है और सत् से क्रिया का, चित् से ज्ञान का तथा आनन्द से इच्छा का सम्बन्ध माना जाता है। धनुर्वेद को क्रियाप्रधान होने के कारण सद्-अंश से, आयुर्वेद को ज्ञानप्रधान होने से चिद्-अंश से और गांधर्व को इच्छा की प्रधानता के कारण आनन्दांश से सम्बद्ध किया जाता है। गांधर्व से आनन्द की प्राप्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होने के कारण इन तीनों में से गांधर्व को ही प्रमुख माना गया है। स्वतन्त्र प्रयोग के अतिरिक्त नाट्य में गीत-वाद्य प्रयोग के व्यापक अर्थ में ध्रुवा-गान के रूप में गांधर्व प्रयुक्त होता रहा, जिसका बाद में 'संगीत' के रूप में प्रयोग हुआ।

नाट्य, गांधर्व और संगीत की परिभाषाओं और उपर्युक्त विचार से यह समझा जा सकता है कि नाट्य में स्वर, ताल, पद, नृत्त, अभिनय सब-कुछ है। यह दृश्य व श्रव्य दोनों है। नाट्य के अंग के रूप में गांधर्व 'स्वरताल-पदात्मक' होने से केवल श्रव्य है, लेकिन गांधर्वशील के अनुसार उसमें गीत-वाद्य-नृत्य, तीनों का समावेश होने के कारण वह दृश्य व श्रव्य है। संगीत गीत-वाद्य-नृत्य का समुच्चय होने से दृश्य-श्रव्य था। लेकिन बाद में जो परिवर्तन आए, उनके प्रभाव से संगीत में से नृत्त-तत्त्व निकल गया और संगीत केवल श्रव्य रह गया। आज हमारा भारतीय संगीत श्रव्य-मात्र है। लेकिन 'संगीत' में, उसके भारतीय स्वरूप के अनुसार, नृत्य को भी सम्मिलित रखने की विचार-धारा आज फिर से बल पा रही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत और काव्य

नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नादरूपो जनार्दनः ।
नादरूपा पराशक्तिर्नादरूपो महेश्वरः ॥

भारतीय परम्परा में नाद-तत्त्व की जो अपार महिमा गाई गई है, वह सम्भवतः विश्व की किसी अन्य विचारधारा में नहीं । 'आहत' और 'अनाहत', दो प्रकार के नाद में से 'आहत' नाद से ही संगीत और काव्य, दोनों की उत्पत्ति होती है । पंच महाभूतों में से प्रथम और सबसे सूक्ष्म आकाश का गुण 'शब्द' हो 'वाक्'-तत्त्व है, जो संगीत और काव्य, दोनों का आधार है । इसी वाक् के दो रूप भारतीय विचारधारा में माने गये हैं—नादात्मिका वाक और वर्णात्मिका वाक् । इन्हीं दोनों से क्रमशः संगीत और काव्य की सृष्टि होती है । हमारे यहाँ 'काव्य' के अन्तर्गत कविता, कहानी, नाटक, गद्य, पद्य, सभी प्रकार की रचनाएँ आती हैं, जबकि पाश्चात्य 'पोइट्री' (Poetry) को, जिसे आजकल भ्रमवश 'काव्य' कह दिया जाता है, केवल पद्य-रचना ही समझा जाता हैं । प्रस्तुत लेख में 'काव्य' शब्द का प्रयोग भारतीय परम्परानुसार विस्तृत अर्थ में ही किया गया है ।

हर्ष, क्रोध, प्रसन्नता, विषाद, भय आदि चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति का माध्यम नादात्मिका वाक् है, जो ईश्वर-प्रदत्त है । पशु, पक्षी, मनुष्य—सभी चेतन प्राणी किसी-न-किसी प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करके अपने मनोवेगों को निश्चित रूप से अभिव्यक्त करते हैं । पशु की ध्वनि सुनकर भी इतना तो जरूर समझ में आता है कि वह हर्ष की अथवा कष्ट की स्थिति में है । मनुष्य भी किसी विशिष्ट प्रकार के आवेग को ध्वनि-विशेष द्वारा व्यक्त करता है । हँसने, रोने, क्रोध करने इत्यादि में उनकी विशिष्ट ध्वनियों के कारण ही यह अनुभव होता है कि अमुक्त व्यक्ति हँस रहा है, रो रहा है अथवा क्रोध कर रहा है । दो व्यक्ति कुछ दूरी पर बात कर रहे हों, किन्तु उनकी भाषा समझ में न आए अथवा शब्द सुनाई न पड़ें, तो भी हम समझ लेते हैं कि वे आपस में लड़ रहे हैं या प्रेमपूर्ण संवाद हो रहा है । इस प्रकार के चित्तवृत्ति-बोध के मूल में नादात्मिका वाक् ही होती है । संगीत के मूल में भी यही नादात्मिका वाक् है । इसीलिए संगीत को भावाभिव्यक्ति की भाषा कहा जाता है ।

वर्णात्मिका वाक् के द्वारा निश्चित भावों की, विचारों की अभिव्यक्ति होती है, जो ईश्वरप्रदत्त वाणी के मनुष्य-कृत विकास का सूचक है । वर्णों से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'पद' अर्थात् 'शब्द' बनते हैं और शब्दों से भाषा बनती है, जो सभी प्रकार के लौकिक व्यवहार का आधार है। लेकिन काव्य का मूल-आधार पद अर्थात् सार्थक शब्द ही है।

यद्यपि संगीत और काव्य का पृथक् क्षेत्र है, अलग आधार है, अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न है और प्रभाव भी बिलकुल अलग है; फिर भी दोनों का संयोग होने पर सोने में सुगन्ध जैसा प्रभाव उत्पन्न होता है। इसीलिए भारतीय संगीत में पद को संगीत-बाह्य तत्त्व नहीं माना गया। हमारे यहाँ पद-रहित संगीत को संगीत ही नहीं कहा गया है। उसे निर्गीत या बहिर्गीत की श्रेणी में रखा गया है। भारतीय संगीत के प्राचीनतम शास्त्रग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में संगीत के स्थान पर 'गान्धर्व' का प्रयोग हुआ है और यह गान्धर्व 'स्वरतालपदात्मक' है। पद इसका अनिवार्य तत्त्व है। यद्यपि मौलिक रूप से 'संगीत' या 'गान्धर्व' के दो ही उपकरण हैं—स्वर और लय; किन्तु पद के कारण अभिव्यक्ति को निश्चित दिशा मिलती है। दूसरी ओर पद-रहित या निरर्थक पद-युक्त गायन और वाद्य-संगीत है; किन्तु भारतीय परम्परा में वाद्य-संगीत को वह महत्त्व प्राप्त नहीं, जो सार्थक पद-युक्त गीत को। केवल वाद्य-प्रयोग को इसीलिए 'शुष्क-वाद्य' कहा गया है कि उसके द्वारा होनेवाली अभिव्यक्ति में निश्चितता नहीं, रसावस्था को पहुँचने की क्षमता नहीं।

पाश्चात्य संगीत में पद को 'संगीत-बाह्य तत्त्व' (non-musical element) कहा गया है इसलिए वाद्य-संगीत को ही विशुद्ध संगीत (pure music) माना जाता है और इसीलिए वही आदर्श है। पद-युक्त संगीत अर्थात् कंठ-संगीत को इससे निम्न श्रेणी में रखा गया है। इसी विचारधारा ने 'स्कूल ऑफ़ ऑटोनॉमी' (School of autonomy) को जन्म दिया, जो इस मान्यता के लिए बड़ी चुनौती है कि संगीत के द्वारा संगीत से भिन्न भी कुछ अभिव्यक्ति होती है।

वास्तव में काव्य और संगीत की सीमारेखा बड़ी सूक्ष्म है। ज़रा-सा चूकने पर एक से दूसरे के क्षेत्र में पहुँचने की आशंका रहती है। काव्य में विचार की प्रधानता होती है और संगीत में अभिव्यक्ति की। काव्य में शब्द और शब्दार्थ या पदार्थ होता है, अर्थात् उसका माध्यम और अभिव्यंग्य (form and content) भिन्न होते हैं। किन्तु संगीत में सिर्फ़ स्वर ही हैं, वही माध्यम हैं और वही अनुभूति का विषय हैं; इसलिए साधन और साध्य का अन्तर वहाँ नहीं रहता। शब्द-अर्थ के सम्बन्ध की प्रधानता से काव्य होता है और स्वर-लय या श्रुतिमधुरता के प्रधान होने पर संगीत होता है। यद्यपि संगीत में भी शब्द-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ हो सकते हैं और काव्य में भी स्वर-लय रहते ही हैं; किन्तु प्रधानता-गौणता के आधार पर ही दोनों के क्षेत्र निश्चित होते हैं। जैसे—काव्य-पाठ में स्वर और लय का सौन्दर्य भी आवश्यक है, लेकिन प्रधानता शब्द-अर्थ की ही होती है। उसमें यदि स्वर-लय कुछ बढ़ भी जाए, तो भी वह काव्य ही है। अनेक गायक जब गायन के बीच में दोहे, साखी या रुबाइयाँ कहने लगते हैं, तब यद्यपि वह, स्वर-लय-बद्ध होती है, फिर भी श्रोताओं को स्वर-लय-योजना का नहीं, अपितु शब्द-रचना का ही आनन्द प्राप्त होता है, इसलिए उतने अंश में काव्य ही कहा जाएगा, संगीत नहीं।

संगीत और काव्य, दोनों श्रव्य हैं। दोनों का आधार वाणी, ध्वनि अथवा 'शब्द' तत्त्व है; इसलिए किसी न किसी स्थान पर तो दोनों का संयोग होना अवश्यम्भावी है। यह मिलन-स्थल बड़ा नाजुक है। फिर भी दोनों एक-दूसरे से बिलकुल निरपेक्ष नहीं रह सकते। काव्य-पाठ एक ही ध्वनि में, एक-सी लय में किया जाए, तो वह काव्य-पाठ न रहकर उपहास की वस्तु ही होगा। इसके विपरीत यदि सार्थक शब्दों का सहारा लेकर विभिन्न स्वर-लय-योजना के साथ उनका प्रयोग किया जाए, तो विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति हो सकती है; उदाहरणार्थ—'मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायो' इस वाक्य में एक सम्बोधन, एक क्रिया और उसका निषेध है। गद्य में भी इसी बात को कहा जा सकता है। सामान्य रूप से कहने पर अर्थ-बोध तो होगा, लेकिन भाव-बोध नहीं होगा। उस अर्थ में नवीनता, उत्कटता लाने में संगीत ही समर्थ है। क्योंकि भाव और अर्थ की व्यञ्जना में परमावश्यक उपादान स्वर के तारता-तीव्रता-भेद, लय, विराम, काकु आदि संगीत के अंगभूत तत्त्व हैं। किन्तु आदर्श स्थिति यही मानी गई है कि काव्य संगीत का पूरक हो, उसे निश्चित दिशा देने वाला हो। इसीलिए पाश्चात्य संगीत जैसा शब्द-अर्थ का विरोध यहाँ नहीं दिखता।

चेतन जगत् में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जिसे अन्य जीवों की अपेक्षा व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के तीन प्रबल साधन प्राप्त हुए हैं—१. वाक् २. प्राण और ३. मन। 'वाक्' यानी वाणी, जिसमें नादात्मिका और वर्णात्मिका, दोनों प्रकार की वाणी समाविष्ट है। पशु-पक्षियों को केवल नादात्मिका वाक् ही प्राप्त है, परन्तु मनुष्य के पास वर्णात्मिका भी है। इसके द्वारा मनुष्य बोलकर भी मनोभावों को प्रकट करता है। संगीत और काव्य 'वाक्' के ही दो रूप हैं। 'प्राण' अर्थात् मनुष्य के भीतर की क्रिया-शक्ति ही हर प्रकार की प्रवृत्ति का मूल है। आंगिक चेष्टा इसका स्फुट रूप है। माता कुछ भी बोले बिना बच्चे को प्यार से या क्रोध-भरी नज़र से देखे, ममता-भरे हाथ से सहला दे अथवा मार दे, तो भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बच्चा तुरन्त समझ जाता है और हँसने या रोने लगता है। 'मन' अन्तरिन्द्रिय है, जिसके संयोग के बिना किसी प्रकार की संवेदना या अनुभूति नहीं होती। परन्तु कला के माध्यम से अभिव्यक्ति में केवल अपनी स्थिति ही नहीं, अपितु उस स्थिति का दूसरे को अनुभव कैसे कराया जाए, यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। कुछ क्रियाएँ ऐसी होती हैं, जिनका आंगिक क्रियाओं से सीधा सम्बन्ध नहीं होता, अपितु मन से होता है। ये सीधे मन से उत्पन्न होती हैं और मन को ही सीधे प्रभावित करती हैं। अश्रु, पुलक, कम्प, स्वेद, मुख-राग (वैवर्ण्य), स्तम्भ, स्वर-भंग और मूर्च्छा, ये आठ सात्त्विक भाव मन की अभिव्यंजक ऐसी ही विक्रियाएँ हैं।

संगीत और काव्य में मुख्य रूप से वाक् के द्वारा ही अभिव्यक्ति होती है, किन्तु प्राण और मन को छोड़ा नहीं जा सकता। प्राण अर्थात् शारीरिक क्रिया दोनों में रहती है, और मन की जितनी गहराई से संगीत या काव्य उत्पन्न होता है, श्रोता या पाठक के चित्त को प्रभावित करने की क्षमता भी उसमें उतनी ही अधिक होती है।

हमारे यहाँ कलाओं में नाट्य को सर्वप्रमुख स्थान दिया गया है। बल्कि यों कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा कि इसे सभी कलाओं का आकर कहा है। 'नाट्यशास्त्र' के आरम्भ में नाट्य-सम्बन्धी निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है :—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥[1]

क्योंकि 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' के अनुसार जीवन की विभिन्न अवस्थाओं अथवा परिस्थितियों का अनुकरण ही 'नाट्य' है। और, इस सन्दर्भ में संगीत, चित्र, मूर्ति, वास्तु (शिल्प) इत्यादि सभी का उपयोग नाट्य में होता है। नाट्य में परिस्थिति या अवस्था की अनुकृति अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों के द्वारा तैयार रहती है; इसलिए संगीत पर अवस्था को उत्कट या प्रगाढ़ रूप से स्फुट करने का भार रहता है, जिसमें पद सहायक होता है। इस प्रकार नाट्य के अंग के रूप में भी संगीत और काव्य परस्पर सम्बद्ध हैं।

लेकिन एक बड़ा अन्तर दोनों में है। जहाँ काव्य के द्वारा निश्चित भावों की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ पद-निरपेक्ष संगीत में यह सामर्थ्य नहीं है।

---

१. ना० शा०, १।११३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काव्य के पठन-पाठन के द्वारा होनेवाली रसानुभूति (श्रृंगार, वीर, करुण आदि रसों के रूप में) संगीत में ठीक उसी रूप में नहीं होती। किसी भी भावावस्था की अनुभूति कराने के लिए परिस्थिति का चित्रण आवश्यक है। उस अवस्था के सूचक शब्द का प्रयोग करने से उसकी अनुभूति नहीं होती। जैसे—किसी व्यक्ति को भय की अनुभूति कराने के लिए केवल यह कहने से अनुभूति नहीं होती कि 'वह अत्यन्त भयभीत हो गया।' जिन परिस्थियों में या जिन कारणों से भय उत्पन्न हुआ और उस स्थिति में जो चेष्टाएँ व्यक्त हुईं, उनका चित्रण करने से ही पाठक या श्रोता को उस भाव की अनुभूति हो सकती है। परिस्थिति का चित्रण शब्दों या पदों के माध्यम से ही हो सकता है। इसीलिए काव्य के द्वारा विभिन्न रसों की अर्थात् निश्चित चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति और अनुभूति सम्भव होती है। किन्तु संगीत के द्वारा अभिव्यक्ति के माध्यम मुख्यतः स्वर हैं जो शब्दों की तरह किसी विशेष अर्थ अथवा विचार के सूचक नहीं हैं। इसीलिए केवल स्वरों के द्वारा भाव-सामान्य का बोध तो होता है, किन्तु भाव के कारणों, परिस्थितियों अथवा वर्गीकृत भावों का बोध नहीं हो सकता। यहीं तक संगीत सार्वभौम भाषा (universal language) भी है, क्योंकि विशुद्ध नादात्मक संगीत के द्वारा हर्ष, शोक, क्रोध, भय, घृणा आदि भाव-सामान्य की अभिव्यक्ति और अनुभूति होती है।

भारतीय रसशास्त्र, जो विश्व में अद्वितीय है, काव्यानुभूति के विश्लेषण में तो पूरी तरह लागू होता है, किन्तु 'विशुद्ध' संगीत के द्वारा होनेवाली अनुभूति के विश्लेषण में पूरी तरह नहीं। कारण, वहाँ पद न रहने से परिस्थिति का चित्रण सम्भव नहीं, और परिस्थिति के अभाव में निश्चित रस की अनुभूति नहीं हो सकती। पद-रहित संगीत में यदि चित्तवृत्ति-बोध माना जाए, तो वह साधारणीकृत यानी सामान्य ही होता है। संगीत के द्वारा अनुभूति के क्षणों में चित्त की तीन ही अवस्थाएँ सम्भव होती हैं—द्रुति, दीप्ति या स्थिति। यह विषय स्वतन्त्र चर्चा की अपेक्षा रखता है, इसलिए यहाँ इसका विस्तार सम्भव नहीं। किन्तु इतना समझा जा सकता है कि द्रुति यानी चित्त की पिघलने जैसी अवस्था, दीप्ति यानी चित्त की ऊपर की ओर उठने जैसी स्थिति और स्थिति यानी बीच की अवस्था जब न पिघलने की और न उठने की स्थिति हो।

संगीत और काव्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि दोनों के द्वारा होनेवाली अभिव्यक्ति और अनुभूति भिन्न हैं। एक का माध्यम विशुद्ध नाद है, दूसरे का वर्गीकृत नाद है। अर्थात् संगीत का उपकरण स्वर है, काव्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का सार्थक शब्द। किन्तु दोनों का मूल एक ही नाद-तत्त्व या आकाश का गुण 'शब्द' है। संगीत अभिव्यक्ति-प्रधान है, काव्य विचार-प्रधान। संगीत के उपकरण स्वर-लय हैं, काव्य के शब्द-अर्थ। किन्तु दोनों परस्पर इतने गुँथे हुए हैं कि एक को दूसरे से बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता। एक का दूसरे में दखल अवश्य रहता है। और, जैसा पहले कहा जा चुका है, इनकी सीमा-रेखा बड़ी सूक्ष्म है तथा एक का दूसरे में प्रवेश अनायास हो जाता है। दोनों का स्वतन्त्र स्वरूप होते हुए भी इन्हें एक सिक्के के दो पहलू कहा जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संगीत की अवधारणाएँ

भाषा-सम्बन्धी चिन्तन तथा अर्थबोध और रसानुभूति की प्रक्रिया के आलोक में

मनुष्य आत्माभिव्यक्ति के लिए श्रव्य माध्यम का जो भी उपयोग करता है, वह अपनी समग्रता में वैदिक शब्द 'वाक्' में प्रतिष्ठित है। श्रव्य से उच्चता-नीचता, तीव्रता-मन्दता, गुरुता-लघुता और छवि (timbre)[1] का सर्वत्र अखण्ड प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष भाषागत व्यवहार और संगीत दोनों में होता है, किन्तु दोनों की अपनी विशेषता भी है। भाषा का आदिम प्रयोजन है अर्थ-संप्रेषण और संगीत का आदिम प्रयोजन है रंजन तथा उपरंजन। इस प्रयोजन भेद से दोनों के निजी क्षेत्र हैं, किन्तु ये ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें परस्पर सीमाओं का अतिक्रमण सहज है। अर्थ-सम्प्रेषण पर केन्द्रित होने के कारण भाषा में ऊपर गिनाए चारों तत्त्वों का मूल रूप तो विद्यमान है लेकिन उनके विलास या वैचित्र्य की ज्यादा सम्भावना नहीं है, जब कि संगीत का प्राण इन्हीं तत्त्वों का वैचित्र्य है। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों का मूल उद्गम एक होने के कारण दोनों का चिन्तन भी मूलरूप में एक या अखण्ड ही होगा। यह बात भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में सर्वथा सत्य है। एक ही उदाहरण यहाँ पर्याप्त है कि मनुष्य शरीर में वर्ण या नाद की उत्पत्ति कैसे होती है, इसके लिए एक ही प्रक्रिया शिक्षा और संगीत दोनों में स्वीकार की गई है।[2] अतः यह कह सकते

---

१. भा० ल०, भाग २, 'संगीत में निबद्ध और अनिबद्ध', पृ० ७।

२. आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते, मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथेचरन्।
नाभिहृत्कंठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम्॥
(सं० र०, १।३।३-४, यही वचन शिक्षा ग्रन्थों में भी मिलता है।)
नाद या वर्ण की उत्पत्ति की प्रक्रिया में सबसे पहले आत्मा को विवक्षा यानी कुछ कहने की इच्छा होती है। फिर आत्मा मन को प्रेरित करती है, क्योंकि मन के संयोग के बिना कोई क्रिया सम्भव नहीं है। मन देह में स्थित अग्नि (energy) पर आघात करता है। अग्नि ब्रह्मग्रन्थि में स्थित मरुत को प्रेरित करती है। यह वायु अग्नि का संयोग पाकर हलकी हो जाती है और क्रमशः ऊपर की ओर चलने लगती है तथा नाभि, हृदय, कंठ, मूर्धा और मुख—इन ध्वनि-उत्पादक अवयवों से होती हुई ध्वनि (नाद अथवा वर्ण) को व्यक्त करती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं कि श्रव्य सम्बन्धी प्रारम्भिक चिन्तन, जो शिक्षा, प्रातिशाख्य और व्याकरण के उच्चता-नीचता सम्बन्धी विचार में संगृहीत है, ऐसे स्तर से हुआ है जहाँ भाषा और संगीत का पृथक्करण या स्पष्ट सीमा-रेखाएँ नहीं हैं। इसी का यह परिणाम है कि संगीतशास्त्र में संगीत के तीन घटक—स्वर, ताल और पद पर जब विशेष विचार हुआ है, तब भी श्रव्य तत्त्व की अखण्डता बार-बार उभर कर आई है। प्रस्तुत शोधपत्र में चिन्तन के उस मूल उत्स के उद्घाटन का यत्न किया जायगा जिससे भाषा और संगीत सम्बन्धी चिन्तन की धाराओं का उद्गम हुआ और जिसकी अखण्डता के कारण दोनों धाराओं का मिलन पग-पग पर दृष्टिगोचर होता है। दोनों धाराओं के अन्तःसम्बन्ध का यह अन्वेषण दोनों का उपकारक होगा, इसमें सन्देह नहीं।

अन्वेषण के इस प्रसंग में दो राजमार्ग हमें दिखाई देते हैं—एक तो संगीत-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली और दूसरा अर्थबोध और रसानुभूति की प्रक्रिया को लेकर प्रस्तुत प्रमुख दर्शनों में विचार। पारिभाषिक शब्दावली में नाद, श्रुति, स्वर और पद—ये शब्द ऐसे हैं जो व्याकरण और संगीतशास्त्र दोनों में समान रूप से हैं। अर्थबोध अथवा अनुभूति की दृष्टि से व्याकरण दर्शन के 'स्फोट' सिद्धान्त, साहित्य-शास्त्र के 'ध्वनि' सिद्धान्त और रस-सम्बन्धी 'अभि-व्यक्ति' सिद्धान्त के आधार पर भी चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। ये दोनों राजमार्ग ऊपर कही गई अखण्डता के दर्शन कराने में सहायक होंगे और वह दर्शन ही इस शोध-पत्र का उद्देश्य है।

संगीत की चुनी हुई पारिभाषिक शब्दावली पर विचार

नाद

'अव्यक्त ध्वनि' अर्थ वाली 'णद' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'नाद' शब्द निष्पन्न होता है। सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का मूल तत्त्व होने के कारण सभी दर्शनों ने 'नाद' पर विचार किया। इनमें से वैयाकरण दर्शन में, जो मूलतः और मुख्यतः भाषा और अर्थ के चिन्तन से सम्बन्धित है, 'शब्द' को ध्वनि, स्फोट, नाद, वाक्, शब्दब्रह्म आदि कहा गया। वर्ण, पद, वाक्य महावाक्यादि उसी के व्यक्त रूप हैं।

विभिन्न दर्शनों में हुआ 'नाद' सम्बन्धी विचार इस लेख का विषय होते हुए भी स्थान की सीमा के कारण उसे विस्तृत चर्चा का विषय नहीं बनाया जा सकता। संगीत में 'नाद' शब्द का ग्रहण और उसके स्वरूप पर विचार दर्शन की भाषा में ही हुआ, यह बता देना जरूरी है। संगीत का मूलतत्त्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होने के कारण संगीत के सभी शास्त्रकारों ने 'नाद' का न्यूनाधिक निरूपण किया। सर्वप्रथम मतंग ने 'ध्वनि' अथवा 'नाद' से सम्पूर्ण चराचर जगत् की उत्पत्ति, ब्रह्मादित्रयी का सम्बन्ध, प्राणाग्नि के संयोग से 'नाद' की उत्पत्ति, नाद के भेद आदि और नाद से ही षड्जादि स्वरों की उत्पत्ति कही।[३]

अभिनवगुप्त ने नाद के पर्याय 'वाक्' शब्द को लेकर उसके 'नादरूपा' और 'वर्णरूपा'—ये दो भेद करके नादात्मिका के अन्तर्गत नाद के वर्णरहित किन्तु उतार-चढ़ाव रूप उस भेद को लिया जो केवल शोकादि चित्तवृत्तियों को व्यक्त करता है।[४]

शार्ङ्गदेव ने नाद में परब्रह्म के सारे गुणों का आरोप करके संगीत में उसे 'नादब्रह्म' के रूप में प्रतिष्ठित किया।[५] नाद के आहत-अनाहत भेदों में से अनाहत रक्तिहीन होने से मनुष्यों को रुचिकर नहीं और उपासना के लिए सुकर नहीं होता, इसीलिए शार्ङ्गदेव ने उस आहत नाद का निरूपण किया जो श्रुति, स्वर आदि के द्वारा गेय का विस्तार करके लोकरञ्जन और भवभंजन एक साथ करता है।[६]

विभिन्न दर्शनों में नाद से ही अभिव्यक्ति का जो सिद्धान्त रखा गया उससे संगीत का प्रभावित होना स्वाभाविक था क्योंकि संगीत भी अभिव्यक्ति का एक प्रकार है और उसकी तीनों विधाएँ—गीत, वाद्य और नृत—नाद के अधीन हैं।[७] किन्तु 'नादब्रह्म' की स्थापना पर वैयाकरणों के 'शब्दब्रह्म' के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव है। यह उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र में व्यापक रूप में नाद के अर्थ में 'वाक्' (१४।३) और 'शब्द' (१४।४१) शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु बाद में 'शब्द' भाषा से सम्बद्ध हो गया और संगीत में 'नाद' का ही ग्रहण हुआ। इसीलिए नाट्यशास्त्र के बाद के सभी ग्रन्थों में संगीतोपयोगी ध्वनि के लिए 'नाद' शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

श्रुति

श्रवणार्थक 'श्रु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने पर 'श्रुति' शब्द बनता है। भाषा व्यवहार की दृष्टि से अभिनवगुप्त के अनुसार पाणिनि के 'एकश्रुति दूरात्स-

३. बृह०, पृष्ठ १-३।
४. ना० शा०, अभि०, अ० १७, पृ० ३८७-३९०।
५. सं० र०, १।३।१।
६. वही, १।२।१६६-१६७।
७. वही, १।२।१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बुद्धौ' सूत्र में कहा गया कि दूर से सम्बोधन में एक ही श्रुति यानी ध्वनि सुनाई देती है। क्योंकि एक तो दूरी के कारण निर्विशेष अनुभूति होती है यानी ऊँचानीचापन होते हुए भी स्पष्टतः समझ में नहीं आता और दूसरे सम्बोधन में प्लुत यानी दीर्घ उच्चारण होने के कारण ध्वनि एक-सी सुनाई देती है। यहाँ ध्वनि के सामान्य ऊँचे-नीचेपन के लिए 'श्रुति' शब्द का प्रयोग हुआ है।

व्याकरण के अनुसार 'श्रूयते इति श्रुतिः' अर्थात् सुनाई देती है इसलिए 'श्रुति' कहलाती है। इसके अनुसार जो भी ध्वनि सुनाई दे वह श्रुति है। संगीत में भी मूलतः इसी श्रव्य ध्वनि को श्रुति कहा गया। मतंग, विश्वावसु, शार्ङ्गदेव[८], कुम्भा आदि के वचन इसके प्रमाण हैं। श्रुति और स्वर के परस्पर सम्बन्ध का विचार करते हुए सामान्यतः ऐसी ध्वनियों को श्रुति समझा गया जो स्वर के रूप में परिणमित हो सकें अथवा जिनके द्वारा स्वर अभिव्यक्त हो।[९] अभिनवगुप्त ने यद्यपि रंजक या अरंजक ध्वनि को भी श्रुति कहा[१०] लेकिन संगीत में श्रुति शब्द पारिभाषिक बनकर सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ।

अभिनवगुप्त ने श्रुति का लक्षण बहुत स्पष्ट शब्दों में देते हुए कहा कि जितनी ध्वनि से श्रव्य की विलक्षणता अर्थात् भेद का ग्रहण कान के द्वारा होता है वही श्रुति है।[११] इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए अन्यत्र कहा कि कान द्वारा ग्रहण होने वाले उस विशेष अंतर के बोध का प्रमाण या निश्चायक श्रुति है, जो उत्कर्ष-अपकर्ष या तीव्रता-मंदता या मार्दव-आयतत्व से यानी तार को ढीला करने या कसने से आता है।[१२] तार को कसने और ढीला करने की क्रिया से अनेक अंतर आ सकते हैं, लेकिन उन सबका कान से ग्रहण करना संभव नहीं।[१३] इसलिए केवल उन्हीं ध्वनियों को श्रुति कह सकते हैं जिन्हें कान से सुना जा सके लेकिन कान से सुनी जाने वाली हर ध्वनि श्रुति नहीं कहलाती यानी श्रोत्रग्राह्यता ही श्रुति का लक्षण नहीं है बल्कि ध्वनि का स्वररूप में परिणमित होना भी है क्योंकि श्रुति की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उसकी प्रतीति स्वर के

---

८. मतंग बृह०, पृ० ४; विश्वा०—बृह०, वही; शार्ङ्ग०—मं० र०, १।३।८।
९. बृह०, श्लोक ३५, ३६, ४५।
१०. ना० शा०, खण्ड २, अभि०, पृ० ४०९।
११. वही, खंड ४, पृ० १९।
१२. वही, पृ० २१।
१३. वही।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आश्रित ही हो सकती है, स्वतंत्र रूप में नहीं।[१४] इसीलिए श्रुतियों की सिद्धि (सारणा विधि में) स्वरों के आश्रय से ही की गई और सात स्वरों के अंतरालों में ऐसी बाईस ही श्रव्य ध्वनियाँ सम्भव थीं इसीलिए इन बाईस ध्वनियों को ही श्रुति कहा गया है।

स्वर

ध्वनि तत्त्व के संदर्भ में वेद, व्याकरण और विभिन्न दर्शनों में 'स्वर' पर विचार किया गया, मुख्य रूप से तीन संदर्भों में—(१) भाषा में (अ, इ, उ आदि वर्णों के रूप में), (२) वैदिक साहित्य में (उदात्तादि धर्मों के रूप में) और (३) सामगान में (क्रुष्टादि सप्तस्वरों के रूप में)।

सामान्य रूप से भाषा में 'स्वर' वे ध्वनियाँ हैं जो व्यंजनादि अन्य ध्वनियों से जुड़कर वर्ण को पूरी तरह और स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में सहायक होती हैं। जिस गुण के कारण मधु या तेल की धारा की सी अखण्डता, एकतारता आ जाती है वही चैतन्यशक्ति रूप नाद-विशेष स्वर है। स्वर का ही कर्षण संभव है, व्यंजन का नहीं। स्वर ही व्यंजन को लचीला बनाता है।

व्याकरण की दृष्टि से 'स्व' उपपदपूर्वक 'राजृ' (दीप्ति अर्थ वाली) धातु से 'अच्' या 'अप्' प्रत्यय लगाने पर 'स्वरः' शब्द निष्पन्न होता है। 'स्वर' शब्द में आये 'स्व' का 'स्वयं' और 'र' का 'राजते'—इस साम्य से निरुक्ति द्वारा भी स्वर शब्द सिद्ध किया गया है[१५] जिसका अर्थ है जो स्वयं (बिना किसी सहायता के) शोभित होता है।

भाषा में 'अ' से 'औ' तक कुल १४ स्वर कहे गये हैं।[१६] इनमें से तीन मुख्य माने गये हैं—अ, इ, उ। इन्हीं के दीर्घ रूप और परस्पर संयोग से आ, ई, ऊ तथा ए, ओ और ऐ, औ बन जाते हैं।

वैदिक साहित्य में भी मुख्य स्वर तीन ही हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनमें से ऊँचेपन से युक्त 'उदात्त', नीचेपन से युक्त 'अनुदात्त' और दोनों का समाहार 'स्वरित' होता है।[१७] इनके द्वारा वेद के सूक्ष्म अर्थ स्पष्ट होते हैं। इसलिए इन्हें स्वर कहा गया[१८] और ये वर्ण के धर्म हैं।

---

१४. वही, पृ० १२।   १५. वही, १।२।३०।
१६. ना० शा०, १४।८; बृह०, पृ० १३।
१७. अष्टा०, १।२।१२९–१३१।
१८. अमरकोष, भानुजी दीक्षित व्याख्या, १।६।४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामवेद के सप्त स्वर प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अतिस्वार, और क्रुष्ट हैं जो लौकिक संगीत (गांधर्व) के म, ग, रे, सा, ध, नि, प हैं।

ऊपर के तीनों संदर्भों में 'स्वर' के लगभग सभी अर्थों या लक्षणों का संगीत के 'स्वर' शब्द में अंतर्भाव किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से 'स्वर' की उत्पत्ति 'राजृ' धातु से[१९] पूर्वोक्त प्रकार से और 'रञ्ज' धातु से 'स्व' उपपद पूर्वक[२०] रंजकता उत्पन्न करने वाली ध्वनि के रूप में दी गई।[२१] 'स्व' और 'र' के साम्य से 'जो स्वयं शोभित होता है'—इस अर्थ में निरुक्ति भी दी गई।[२२] बिना किसी सहकारी के शोभित होने का लक्षण संगीत के 'स्वर' में पूरी तरह घटित होता है क्योंकि जहाँ भाषा में स्वतः शोभित होते हुए भी व्यंजन के सहयोग के बिना स्वर अर्थ, विचार या भाव का बोध कराने में समर्थ नहीं होते वहाँ संगीत के स्वर अन्य किसी सहकारी के बिना ही भावाभिव्यक्ति में सक्षम हैं। दूसरे, अर्थ-भाव से नियत संबंध न होने पर भी रंजन करते हैं। भाषा में स्वर का कार्य 'व्यंजन' (ध्वनि को प्रकट, स्फुट) करना है, किन्तु संगीत में स्वर वह कार्य करे या न करे, रंजन तो करते ही हैं।

गुण की दृष्टि से भाषा के स्वर में मधु या तैल धारा जैसी अखण्डता कही गई, वह संगीत के स्वर में 'स्निग्धता' के रूप में विद्यमान है।[२३] भाषा की तरह संगीत में भी स्वर का ही कर्षण होता है।[२४] यह उल्लेख भी प्रासंगिक है कि संगीत के स, रि, ग, आदि स्वरों और भाषा के अ, इ, उ आदि स्वरों का परस्पर संबंध भी कहा गया है। अ, इ, उ को स, रि, ग; ए, ओ को म, प, और ऐ, औ, को ध, नि कहा गया है।[२५] तदनुसार भाषा के स्वरों की विशेषताओं का भी संगीत के स्वरों के साथ संबंध जोड़ा गया।

वैदिक उदात्तादि से सप्तस्वरों को संबद्ध करते हुए कहा गया कि वस्तुतः स, रि, ग—ये तीन ही स्वर हैं और प, ध, नि उन्हीं के प्रतिबिंब हैं तथा मध्यम इन दोनों त्रिकों के बीच में स्थित है। इनमें से चतुःश्रुति स्वर (स, म, प)

---

१९. बृह०, पृ० १२।
२०. सं० र०, १।३।२४–२५, कल्लि०, पृ० ८२।
२१. बृह०, पृ० १२।
२२. वही।
२३. ना० शा०, अ० २८, अभि०, पृ० ११; सं० र० १।३।२४।
२४. ना० शा०, २९।१८ और अभि०।
२५. प्रणव०, पृ० २२ २६, नन्दिकेश्वर कारिका में उद्धृत।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उच्चता के कारण उदात्त हैं; द्विश्रुति स्वर (ग, नि) नीचता के कारण अनुदात्त हैं और त्रिश्रुति स्वर (रि, ध) मध्यवर्ती होने से समाहार के कारण स्वरित हैं। वैदिक पाठ में स्वरित पर ही कंपन होता है। संगीत में भी त्रिश्रुति स्वर को ही कंपित किया जाता है क्योंकि कम्प के समय जब स्वर ऊपर-नीचे की ओर जाता है तो त्रिश्रुति स्वर में ही ऊपर चढ़कर चतुःश्रुति स्वर तक जाने और नीचे उतरकर द्विश्रुति स्वर तक जाने की संभावना के कारण 'स्वरत्व' बना रहता है। चतुःश्रुति ऊपर और द्विश्रुति नीचे नहीं जा सकता, इसलिए उनमें कंप संभव नहीं।[२६]

किन्तु अभिनव ने स्वर-लक्षण में श्रव्यता के आधार पर 'अनुरणन', गुण या धर्म के आधार पर 'रक्तता' और प्रभाव के आधार पर 'उपतापन'—ये तीन विशेषताएँ जोड़कर स्वर-संबंधी चिंतन को चरमावस्था पर पहुँचाया। घंटे पर मूँगरी की चोट से उत्पन्न प्रथम ध्वनिरूप 'रणन' के बाद देर तक गूँजने वाली ध्वनिरूप 'अनुरणन' में जैसे स्निग्धता, मधुरता होती है उसी प्रकार स्वर की अभिव्यक्तिस्थानरूप श्रुति के स्थान पर आघात होने पर उससे जो अनुरण-नात्मक ध्वनि उत्पन्न होती है, जो स्निग्ध, मधुर होती है वही स्वर है।[२७] उदात्तादि स्वरों में केवल उच्चता-नीचता को धर्म कहा गया है किन्तु संगीत के स्वर के लिए 'रक्तता' अनिवार्य है।[२८] 'पाठ' और 'गान' में अंतर यही है कि 'पाठ' में उदात्तादि के रूप में उच्चता, नीचता, मध्यतारूप स्थानों का स्पर्शमात्र होता है, लेकिन गान में स्वरों में रक्तिप्रधान अनुरणन होता है। पाठ्य में स्वरगत रक्ति की प्रधानता होने पर वह पाठ नहीं रहता, गान बन जाता है।[२९] अनुरणन, स्निग्धता, मधुरता और रंजकता से युक्त स्वर मध्य-स्थतारूप यानी विकार-रहित चित्तवृत्ति को 'उपतापित' करके (मोम की तरह पिघलाकर) अपने जैसा ही बना देता है।[३०] यही स्वर की वह विलक्षणता है जिसके कारण चित्त के द्वारा ब्रह्मानंद के सदृश अनुभूति मानी गई है और इसी कारण संगीत में 'नादब्रह्म' की स्थापना हुई। अभिनव के स्वरसंबंधी चिन्तन ने व्याकरण, भाषा, वेद आदि अन्य धाराओं में स्वर पर हुए चिन्तन की अपेक्षा संगीत में पूर्णता प्रदान की।

---

२६. ना० शा०, अ० २८, अभि०, पृ० १४।
२७. वही, पृ० ११।
२८. वही।
२९. वही, खंड २, पृ० ३८५।
३०. वही, खंड ४, पृ० १०–११।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ण

रँगना, निरूपण करना अर्थवाली 'वर्ण' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने से 'वर्ण' शब्द बनता है। भाषा में वर्ण वह ध्वनि है जिसकी विशेष आकृति है। पद और वाक्य के रूप में और वाक्यार्थ का वहन करते हुए पूरे जगत् का वर्णन करते हैं (वर्णयन्ति) इसलिए वर्ण कहलाते हैं।[31] नाद से वर्ण, वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से जगत् का समस्त व्यवहार होता है।[32] इस क्रम में यद्यपि नाद ही मूल है किन्तु लौकिक व्यवहार के व्यक्त क्रम में वर्ण का स्थान ही प्रथम है जो क्रिया का विस्तार करता है। अकेले-अकेले वर्ण सामान्यतः अर्थबोध नहीं कराते लेकिन व्याकरण के नियमों के अनुसार (सुप्तिङन्तं पदं) जब उनके विशेष प्रकार के समूह के रूप में इकाई बनती है तभी वे अर्थ देने में समर्थ होते हैं।

संगीत में भी 'वर्ण' शब्द मूलतः क्रिया के विस्तार का ही सूचक है।[33] अकेला स्वर अभिव्यक्ति करने में समर्थ न होने के कारण स्वरों के सन्निवेश बनाना ज़रूरी है। इन सन्निवेशों के द्वारा ही संगीत में विस्तार होता है। भाषा में अनेक वर्ण होते हैं किन्तु संगीत में केवल सात स्वरों के द्वारा ही विस्तार होता है। इस विस्तार के लिए संगीत में क्रिया चार प्रकार से ही की जा सकती है—एक ही स्वर पर रुक-रुक कर, स्वरों का आरोहण करते हुए, स्वरों का अवरोहण करते हुए और इनके मिश्रण के द्वारा। यही क्रमशः स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी वर्ण कहलाते हैं।[34] संगीत क्रिया और उसके द्वारा अभिव्यक्ति का आधार वर्ण ही हैं क्योंकि इन चार प्रकारों से बाहर कोई क्रिया नहीं हो सकती।

वर्ण संगीत-क्रिया की इकाई है। इस इकाई की अवधि क्या हो, यानी कहाँ से कहाँ तक एक वर्ण माना जाय? इसका उत्तर नाट्यशास्त्र के आधार पर यह है कि पद के द्वारा ही वर्ण की इकाई का बोध होता है। एक पद (शब्द) में जिस प्रकार की क्रिया हो उसके अनुसार वर्ण-निर्देश होता है।[35] स्थायी आदि वर्ण पद (शब्द) का 'वर्णन' अर्थात् विस्तार करते हैं, इसलिए इनकी संज्ञा वर्ण

---

३१. बृह०, श्लोक ८।
३२. सं० र०, १।२।२।
३३. ना० शा०, अभि०, २९।१४, पृ० ७९।
३४. वहीं, सं० र०, १।६।१।
३५. ना० शा०, २९।१८ और अभि०, पृ० ८१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होती है ।[३६] अर्थ-बोध या भाव-बोध के लिये खण्ड बनाना जरूरी है । भाषा में भी प्रयोक्ता पद के रूप में जो खण्ड बनाता है श्रोता उसी को एक खण्ड के रूप में ग्रहण करता है, तभी अर्थबोध होता है, गायक भी शब्दों को गाते समय चार वर्णों में से किसी न किसी का ही प्रयोग करता है, लेकिन पद समाप्त होने के साथ ही एक खण्ड बनता है और श्रोता भी उसी रूप में उसका ग्रहण करता है । अगर सार्थक के बजाय निरर्थक शब्द हों तो उनके अनुसार खण्ड बनेंगे । जैसे, ध्रुवपद के 'नोम्तोम्' आलाप में रीतन, दिरि, नुम् आदि में 'वर्ण' का निर्धारण इन्हीं के आधार पर होता है । अर्थ के अभाव में भाषा के पद और उसके अर्थ जैसी नियतता इनमें नहीं है, फिर भी इन अक्षर समूहों में अनजाने ही कुछ नियतता रहती है । जैसे 'रीतन' होगा 'तरीन' नहीं 'दिरि' होगा 'रिदि' नहीं ।

प्राचीन चिन्तन में संगीत को स्वर, ताल, पद का समवाय माना गया, इसलिए गान में 'पद' अनिवार्य था । इसीलिए 'वर्ण' का निरूपण पद को लेकर ही किया गया किन्तु स, रि, ग आदि स्वराक्षरों के द्वारा सरगम या स्वर-मालिका जैसे बद्ध और मुक्त सरगम के प्रयोग में यद्यपि स, रि, ग आदि पद का स्थान तो लेते हैं लेकिन वहाँ वर्ण-निर्धारण इन अक्षरों के आधार पर नहीं, बल्कि उन स्वर ध्वनियों के स्थिर, आरोही, अवरोही या संचारी प्रयोगों के आधार पर होता है, जिनके ये अक्षर वाचक हैं । वाद्य संगीत में भी 'वर्ण' की यही स्थिति होती है ।

पद

अक्षरात्मक ध्वनि के योग के बिना शारीरी वीणा में नाद प्रकट नहीं हो सकता । दारवी वीणा अथवा अन्य वाद्यों में भी आघातात्मक ध्वनि की पहचान भाषागत अक्षरों द्वारा करने की हमारे देश में बड़ी पुरानी परम्परा है । भाषा-व्यवहार में स्वर-व्यञ्जनादि के द्वारा नाद प्रकट होता है और संगीत में भी सार्थक-निरर्थक अक्षरात्मक समूहों के द्वारा या कम से कम केवल 'आकार' के द्वारा व्यक्त होता है । इस स्थिति में 'आकार' ही नाद का वाहक अक्षर होता है । इसीलिए भरत ने कहा—'यत्स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम् ।' यानी अक्षर से सम्बन्धित सब कुछ 'पद' है । यहाँ अकेले-अकेले अक्षर को पद कहा । दूसरी ओर गीतकों में प्रयुक्त होने वाले 'झण्टुं' आदि शुष्काक्षरों को 'ब्रह्मप्रोक्त-

३६. सं० र०, १।६।१ पर कल्लि० ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पदानि' कहा। 'झण्टुं' आदि में अक्षरों की निश्चित योजना यानी सन्निवेश है, यद्यपि अर्थ सम्प्रेषण प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार असंयोजित और संयोजित— दोनों प्रकार के अक्षरों को 'पद' कहा गया।

संगीत में स्वर-समुदाय को पदसमूह के और राग को वाक्य के समकक्ष रखकर अपन्यास आदि के सन्दर्भ में विचार किया गया है। राग की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक छोटी से छोटी इकाई स्वर समुदाय ही है। इस इकाई के आधार पर ही विदारी और महाविदारी-रूप बड़ी इकाइयाँ बनती हैं। राग की इकाई के रूप में स्वरसमुदाय की अर्थवत्ता है, इसलिए उसे पदस्थानीय कहा गया। अतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्यय लगने पर ही कोई शब्द अर्थवान् बनता है और 'पद' संज्ञा द्वारा वाच्य होता है, उसी प्रकार संगीत में 'स्वर के वाहन—अक्षर (भाषा की दृष्टि से सार्थक अथवा निरर्थक)—की अपनी अर्थवत्ता स्वरात्मक वर्ण के संयोग से बनती है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि 'गेय' के 'वितान' की सांगीतिक अर्थवत्ता की वर्णानुयायी इकाई भी 'पद' है क्योंकि स्थायी आदि वर्णों के आधार पर ही राग के अन्तर्गत स्वर-समुदाय की रचना होती है।

भाषागत अर्थबोध और संगीतगत अनुभूति पर विचार

'स्फोट' सिद्धांत के सन्दर्भ में संगीत

श्रवण-व्यापार और अर्थबोध के सम्बन्ध यानी उच्चरित शब्दों और वाक्यों के द्वारा अर्थबोध कैसे होता है—भाषा के इस पक्ष पर विभिन्न दर्शनों, विशेष रूप से न्याय, मीमांसा और व्याकरण में काफ़ी सूक्ष्म विचार किया गया किन्तु वैयाकरण दर्शन का इसमें विशेष योगदान है।

अर्थबोध-सम्बन्धी मुख्य विचारणीय पक्ष ये हैं—(१) बोलते समय शब्द के विभिन्न वर्णों या वाक्य के विभिन्न शब्दों का उच्चारण क्रम से होता है। उस स्थिति में अर्थबोध उन वर्णों या शब्दों से होता है अथवा पूरे वाक्य से? यानी अर्थबोध की इकाई क्या है—वर्ण, पद या वाक्य? (२) अर्थबोध उन इकाइयों के द्वारा खण्ड-खण्ड करके होता है या समग्र रूप में? (३) वर्ण या शब्द उच्चरित होने के साथ नष्ट होते जाते हैं, फिर पूरे शब्द या वाक्य से अर्थ का ग्रहण कैसे होता है?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए 'स्फोट' सिद्धान्त स्थापित हुआ। 'स्फोट' के सारे पक्षों पर विचार के लिए यहाँ अवकाश नहीं है, किन्तु संगीत के द्वारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होने वाले बोध पर 'स्फोट' के सन्दर्भ में विचार करने के लिए भर्तृहरि के 'स्फोट' सिद्धांत को संक्षेप में समझ लेना जरूरी है।

व्याकरण की दृष्टि से 'फूटना' अर्थ वाली 'स्फुट' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के द्वारा 'स्फोट' शब्द निष्पन्न होता है। सिद्धांत के रूप में स्फोट को दो प्रकार से समझाया गया है—जिससे अर्थ स्फुट यानी प्रकाशित होता है और वह तत्त्व जो वर्णों के द्वारा व्यक्त होता है। इस प्रकार स्फोट वाचक यानी शब्द भी है और उसका वाच्य यानी अर्थ भी। वास्तव में स्फोट एक नित्य, अखण्ड इकाई है जो वक्ता और श्रोता दोनों के भीतर सदा विद्यमान रहती है। वक्ता जब बोलना शुरू करता है तो उसके भीतर विद्यमान अखण्ड स्फोट वर्ण, शब्द, वाक्य—इस क्रम से व्यक्त होता है और श्रोता उसी क्रम से सुनता है। प्रत्येक वर्ण अथवा शब्द नष्ट होता जाता है किन्तु अन्त में एक क्षण में एक कौंध की तरह वाक्य का पूरा अर्थ प्रकाशित हो जाता है। यद्यपि वाक्य के अवयवभूत शब्दों के अपने अर्थ भी होते हैं लेकिन जब वाक्यार्थ का बोध होता है तो शब्दों के स्वतन्त्र अर्थों के रूप में नहीं बल्कि पूरे वाक्य के समग्र अर्थ के रूप में वह ध्वनित होता है। यह ध्वनित होने वाला तत्त्व ही स्फोट है। यह स्फोट वर्ण से भिन्न किन्तु वर्ण के द्वारा अभिव्यक्त होने वाला और अर्थ का बोध कराने वाला नित्य शब्द है।

नैयायिकों के मत में शब्द अनित्य हैं। वर्ण और शब्द बोलने के साथ ही नष्ट होते जाते हैं लेकिन प्रत्येक वर्ण अपना संस्कार छोड़ता जाता है और अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ पूर्व वर्णों की स्मृति से पद या वाक्य के अर्थ का ग्रहण हो जाता है। लेकिन वैयाकरण इसे स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि से कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए जो नित्य हो। तभी पद-विशेष या वाक्य-विशेष से एक निश्चित अर्थ का बोध सम्भव है। उनके मत में यह नित्य तत्त्व स्फोट ही है।

इस सन्दर्भ में मीमांसकों के 'अन्विताभिधानवाद' और नैयायिकों के 'अभिहितान्वयवाद' की चर्चा की जा सकती है। प्रथम के अनुसार वाक्यों का अखण्ड अर्थ शब्दों के अपने-अपने अर्थों से सीधे प्रेषित होता है। दूसरे मत में शब्द केवल अपना-अपना अर्थ देते हैं और फिर उन अर्थों के सम्बन्ध के आधार पर वाक्यार्थ का बोध होता है। इन दोनों के अनुसार अर्थबोध सीधे शब्द के द्वारा ही होता है। भर्तृहरि ने इसका खण्डन करके अखण्ड वाक्य स्फोट को प्रतिष्ठित किया क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है, वाक्यार्थ के बोध के समय शब्दों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के स्वतन्त्र अर्थों का अस्तित्व समाप्त होकर एक अखण्ड इकाई के रूप में पूरे वाक्य के अर्थ का ही बोध होता है ।

संगीत की दृष्टि से विचार शुरू करने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारतीय संगीत में स्वर और ताल के साथ पद का समावेश होते हुए भी पद को छोड़कर मुख्यतः स्वर के आधार पर ही स्फोट के सन्दर्भ में विचार किया जायगा क्योंकि एक तो स्वर ही संगीत का मूल तत्त्व है और दूसरे, वाद्य संगीत, जिसमें पद नहीं होता, को भी इस विचार के अन्तर्गत समेटा जा सके। तीसरे, पद होने पर भी संगीत का बोध अर्थमूलक नहीं होता ।

भाषा के वर्ण या शब्द की तरह संगीत में भी स्वरों या स्वरसन्निवेशों का क्रमिक प्रयोग होता है और वे प्रयुक्त होने के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। वर्ण और पद की तरह वे भी अकेले-अकेले यानी स्वतन्त्र रूप से सांगीतिक अर्थ-प्रतीति नहीं कराते। इसीलिए रंजक स्वर-सन्दर्भ को गीत कहा गया। यों तो स्वरों का मूल लक्षण रंजन करना है ही, फिर भी स्वर के सन्दर्भ यानी स्वर-समूह को रंजक कहा है क्योंकि अकेला स्वर समग्रता में रंजन करने में समर्थ नहीं होता। स्वर-सन्निवेश के द्वारा उससे भिन्न एक विशेष अनुभूति होती है, इसलिए भाषा की तरह संगीत में भी एक नित्य तत्त्व है किन्तु ठीक-ठीक भाषा की तरह संगीत के बोध पर विचार करना सम्भव नहीं, क्योंकि भाषा में शब्द और उनके अर्थ समान्यतः निश्चित हैं और शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है वह शब्द से भिन्न है यानी वाच्य और वाचक में भेद है। उस प्रकार संगीत में न तो वाच्य-वाचक जैसा भेद है और न स्वरों के कोई नियत अर्थ या भाव हैं। सामान्य दृष्टि से स्वर ही वाचक है और वही वाच्य है। फिर भी स्फोट सिद्धांत के कुछ पक्षों की दृष्टि से संगीत पर विचार किया जा सकता है।

स्फोट में वक्ता की आकांक्षा के अनुसार वर्णक्रम या शब्दों का चयन होता है। संगीत में भी गायक या वादक जो अभिव्यक्त करना चाहता है उसके अनुरूप स्वर तथा स्वर-सन्निवेशों का चयन करता है। स्वरों के द्वारा यदि राग-रूप को ही कथ्य माना जाय तो यह कह सकते हैं कि राग के स्वरूप के अनुसार स्वरसंचार चुने जाते हैं। यदि राग के द्वारा भावविशेष की अभिव्यक्ति की आकांक्षा हो तो उसके अनुरूप प्रयोग होता है। स्फोट से शब्द के द्वारा तीन बातें व्यक्त होती हैं—(१) शब्दों का अपना आकार, (२) उनका अर्थ और (३) वक्ता का अभिप्राय। संगीत में शब्द और अर्थ जैसा निश्चित सम्बन्ध और भेद नहीं है, इसलिए ठीक इस रूप में तो सम्बद्ध नहीं कर सकते। लेकिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरों के क्रमिक प्रयोग से एक आकार बनता है जिसके द्वारा राग का स्वरूप व्यक्त होता है। इस स्वरूप को राग का कथ्य और उसके द्वारा प्रयोक्ता जो कुछ प्रेषित करना चाहता है उसे अभिप्राय कहा जा सकता है। स्वर और भाव के परस्पर सम्बन्ध के कुछ पहलू इस प्रकार हैं—(१) स्वरों और भावों में कुछ नियत और नित्य सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि विशेष स्वर सन्निवेशों के द्वारा ही विशेष भाव का बोध होता है चाहे जिन स्वरों से नहीं। जैसे, तोड़ी, गौरी, जोगी आदि के स्वरों के द्वारा ही करुणा व्यक्त हो सकती है, भूपाली, शंकरा के स्वरों से नहीं। (२) स्वर प्रयोग के समय प्रयोक्ता के मन में जो भाव होता है वह उसके अनुरूप स्वरों का प्रयोग करता है और श्रोता भी वही स्वर सुनता तथा प्रयोक्ता के सदृश भाव की उसे भी अनुभूति होती है। तभी यह कहा जा सकता है कि सही सम्प्रेषण हुआ। (३) स्फोट में पद का प्रयोजन उस विशेष पद को अन्य पदों से पृथक् करना है। जैसे 'कमल' बोलना शुरू करते समय 'क' का उच्चारण उसे ऐसे शब्दों से भिन्न करता है जो 'क' से शुरू नहीं होते। 'म' का उच्चारण उसके क्षेत्र को और संकुचित कर देता है और 'ल' का उच्चारण होते ही यह उसे अन्य सब पदों से अलग करके उसके आकार को स्थापित कर देता है। उसी प्रकार संगीत में भी किसी संचार के स्वर उसे अन्यों से अलग करते हैं। जैसे, कोमल ग, रि वाले स्वर संचार का कोमल 'ग' उसे शुद्ध 'ग' वाले रागों अथवा संचारों से और उसके बाद कोमल 'रे' ऐसे रागों अथवा संचारों से अलग करता है जिनमें शुद्ध 'रे' का प्रयोग होता है। (४) स्फोट में यद्यपि अर्थधारक इकाइयाँ वर्ण और पद भी हैं लेकिन स्फोट का असली रूप वाक्य ही है, वर्ण और पद वाक्यस्फोट में पर्यवसित होकर वाक्यस्फोट को ही व्यक्त करते हैं। तद्वत् यद्यपि स्वर और स्वरसंचार भी राग-स्फोट को व्यक्त करते हैं। लेकिन सम्पूर्ण स्फोट बड़ी इकाई यानी आलाप-तानादि, गीत या राग के रूप में ही होता है और छोटे स्वरसंचार उसी को व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए रे॒ ग॒ रे॒ सा, यद्यपि तोड़ी का आभास कराते हैं लेकिन इनके साथ के अन्य संचार मिलकर ही गुजंरी, बिलासखानी या भूपाल तोड़ी का राग-स्फोट कराते हैं। इसीलिए स्फोट स्थिति का आधार यह है कि अर्थ-संप्रेषण सम्पूर्ण के द्वारा होता है, खण्डों के जोड़ से नहीं। (५) स्फोट एक अखण्ड इकाई होते हुए भी प्रयोग या विश्लेषण के क्रम में उसमें खण्डता या क्रमबद्धता आ जाती है। गायक या वादक के मन में भी राग अखण्ड रूप में रहता है लेकिन प्रयोग या विश्लेषण करते समय स्वर, स्वरसंचार, आलाप-तान या गीत के रूप में खण्ड या क्रम बनते हैं। राग का अविभाज्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरूप प्रयोक्ता के भीतर का अखण्ड स्फोट है और स्वर के क्रमिक प्रयोग पर आधारित विभिन्न इकाइयाँ उसकी व्यञ्जक हैं। (६) भाषा में वर्णों की ध्वनियों से स्फोट होता है और वे ध्वनियाँ अर्थ को प्रकाशित करती हैं। यानी भाषा व्यवहार में पहली कड़ी वर्ण, फिर उसकी ध्वनि, तब अर्थ और अन्त में भाव है तथा प्रत्येक वर्ण को श्रोता उसी वर्ण के रूप में सुनता है। संगीत में यद्यपि स्थूल रूप से स्वर को वर्ण के समकक्ष रखा जा सकता है फिर भी वर्ण की तरह श्रोता प्रत्येक स्वर को षडज-ऋषभादि की प्रत्यभिज्ञा के साथ सुने, यह अनिवार्य नहीं है। भाषागत वर्ण का प्रत्यक्ष तो प्रत्येक को होता है किन्तु संगीत के स्वरों की प्रत्यभिज्ञा अभ्यासजन्य है। वह केवल प्रत्यक्ष का विषय नहीं है किन्तु उस प्रत्यभिज्ञा के बिना भी सांगीतिक अर्थ की प्रतीति या अनुभूति हो ही सकती है। अतः यह कह सकते हैं कि यहाँ आरम्भ ध्वनि से ही होता है। और वाच्य अर्थ के सदृश कुछ नहीं है, इसलिए शुरू से अन्त तक स्फोट ही है।

भाषा और संगीत के बोध में एक बड़ा अन्तर यह है कि किसी भाषा के द्वारा उसी को अर्थबोध होता है जो उस भाषा को जानता है किन्तु संगीत की भाषा यानी उसके स्थूल आकार को न समझने वाले व्यक्ति को भी उसके द्वारा अनुभूति हो सकती है। इसलिए भाषा की अपेक्षा संगीत का प्रभाव अधिक व्यापक है और इसलिए संगीत की भाषा को सार्वभौम (universal) कहा गया है।

ध्वनि-सिद्धान्त के सन्दर्भ में संगीत

भाषा से अर्थबोध कैसे होता है इस समस्या के हल के लिए स्फोट सिद्धान्त बना लेकिन काव्य के द्वारा सहृदयों को जो विशेष अनुभूति होती है वह कैसे होती है, इसका हल स्फोट सिद्धान्त के द्वारा नहीं हो सका। इसलिए स्फोट सिद्धान्त से 'ध्वनि' शब्द और उसकी धारणा को लेकर साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने इस चिन्तन को और बढ़ाया तथा 'ध्वनि' सिद्धान्त स्थापित किया।

काव्य के अनुशीलन से सहृदयों के हृदय को जो आनन्द प्राप्त होता है वह वाच्य नहीं होता बल्कि व्यंग्य होता है यानी अर्थबोध कराने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग होता है उन शब्दों से या उनके साक्षात् संकेतित अर्थों से अनुभव नहीं होता बल्कि वाच्यार्थ से भिन्न जिस नए अर्थ या भाव को प्रतीति होती है वही वास्तव में आनन्ददायक होता है। इसी को 'प्रतीयमान' कहते हैं। यही काव्य की आत्मा है जिसे ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य ने 'ध्वनि' के रूप में प्रतिष्ठित किया। प्रतीयमान अर्थ शब्दों से वाच्य नहीं होता बल्कि व्यञ्जित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। कवि द्वारा सहज प्रेरणा के द्वारा व्यञ्जक शब्दों का प्रयोग होने पर उनके द्वारा प्रतीयमान अर्थ उसी प्रकार व्यञ्जित होता हैं जैसे रमणियों के अवयवों से, किन्तु उनसे भिन्न रूप में लावण्य झलकता है। सौन्दर्य की यही झलक काव्य में 'ध्वनि' है।

स्फोट सिद्धान्त में भी यह तो स्वीकार किया गया कि वाक्यार्थ का बोध शब्द से सीधे नहीं होता और न उन अर्थों के जोड़ से होता है, बल्कि उनसे भिन्न रूप में पूरे वाक्यार्थ का बोध होता है। वास्तव में यह स्फोट भी शब्दों के द्वारा व्यञ्जित या ध्वनित ही होता है। इसलिए ध्वनि-सिद्धान्त का बीज स्फोट-सिद्धान्त में ही है। अर्थ जब शब्दों से वाच्य होता है तो वाच्यार्थ कहलाता है। वाच्य न होने पर उससे सम्बद्ध किसी अर्थ की प्रतीति हो तो लक्ष्यार्थ कहलाता है और यदि इन दोनों से भिन्न और वाच्यार्थ से सम्बद्ध न होने वाले किसी अर्थ की प्रतीति होती है तो वह 'व्यंग्य', 'प्रतीयमान' अथवा 'ध्वनि' है।

काव्य का उपकरण 'शब्द' और संगीत का स्वर है। इन दोनों का मूलतत्त्व ध्वनि (sound) ही है किन्तु शब्द वर्णात्मक है और स्वर नादात्मक। वाचक यानी शब्द से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों की प्रतीति होती है किन्तु स्वर के द्वारा अर्थबोध सम्भव नहीं, केवल 'ध्वनि' की ही अनुभूति होती है। षड्ज, ऋषभादि शब्दों या स, रि, ग, आदि संकेताक्षरों से या उनके अर्थों से भावानुभूति नहीं होती बल्कि स्वरों के द्वारा भाव व्यञ्जित हो जाते हैं। किन्तु जैसे काकु-भेद यानी कण्ठ-ध्वनि में परिवर्तन करके एक ही शब्द के द्वारा अनेक भावों को व्यञ्जित किया जा सकता है उसी प्रकार काकुभेद के प्रयोग से किसी स्वरावली के द्वारा अनेक भाव व्यञ्जित हो सकते हैं। लेकिन वहाँ काव्य की तरह बीच की कड़ी यानी वाच्य नहीं होती, इसलिए सीधे स्वर के द्वारा ही भाव व्यञ्जित होते हैं। काव्य में आदि वाचक (शब्द), मध्य वाच्य (अर्थ) और अन्त ध्वनि है, किन्तु संगीत में आदि स्वर और अन्त ध्वनि ही है। जैसे घण्टे पर मुँगरी की चोट से उत्पन्न 'रणन' के द्वारा 'अनुरणन' की अनुभूति होती है किन्तु उनमें क्रम की अनुभूति नहीं होती उसी प्रकार स्वरों और व्यंग्य भावों में भी प्रतीतिगोचर क्रम नहीं होता। वाच्य और व्यंग्य के पूर्वापर क्रम से रहित यानी असंलक्ष्यक्रम काव्य जैसे उत्तम माना जाता है, उसी प्रकार जिस संगीत में क्रमभेद समाप्त हो जाता है यानी सुनते समय स्वरों पर दृष्टि गए बिना श्रवण के साथ ही अनुभूति होती है वही सच्चा संगीत है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ नहीं कि स्वर और उससे जो व्यंजित होता है उसमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। लेकिन यह व्यंग्य-व्यंजक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बन्ध ही कहा जा सकता है, वाच्य-वाचक नहीं। यदि संगीत से होने वाली अनुभूति को किसी निश्चित भाव की संज्ञा न दी जा सके तो भी जो आनन्द-दायक अनुभूति होती है, वह ध्वनित ही होती है, वाच्य नहीं।

ध्वनि-सिद्धान्त के स्थापक ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' और उस पर अभिनवगुप्त की टीका 'लोचन' में ध्वनि-सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए अनेक बार दिए गए संगीत-उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संगीत के मूलतत्त्व ध्वनि और उसके द्वारा होने वाले बोध से भी इस सिद्धान्त की स्थापना को प्रेरणा अथवा बल अवश्य मिला होगा लेकिन इस सिद्धान्त की स्थापना होने के बाद संगीत में भी व्यंजकता की पुष्टि को बल मिला।

'अभिव्यक्ति' सिद्धान्त के सन्दर्भ में संगीत

रस को काव्य की आत्मा मानने वाले रस सम्प्रदाय के प्रवर्तक भरत मुनि के 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—इस सूत्र की व्याख्या में चार सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है—भट्टलोल्लट का 'उत्पत्तिवाद', शंकुक का 'अनुमितिवाद', भट्टनायक का 'भुक्तिवाद' और अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद'। पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों के मतों की विशेषताओं को लेकर पहले से चले आ रहे अभिव्यक्ति सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने पूर्णता प्रदान की जिसके फलस्वरूप रसानुभूति की दृष्टि से यही सिद्धान्त सर्वाधिक मान्य हुआ।

अभिव्यक्ति सिद्धान्त के अनुसार रसानुभूति की प्रक्रिया अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार है। जन्म-जन्मान्तरों से संचित संस्कारों के फलस्वरूप जो रति आदि स्थायी-भाव मनुष्य-मात्र के हृदय में वासना (संस्कार) रूप में विद्यमान रहते हैं वही सामाजिकगत स्थायी-भाव विभावादि का संयोग पाकर साधारणी-कृत होकर रसरूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। लेकिन रसस्थिति में विभावादि की लौकिकता समाप्त होकर वे अलौकिक हो जाते हैं। इसीलिए जिन व्यापारों को लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष देखकर, लज्जा, भय, क्रोध, ईर्ष्यादि होते हैं उन्हें नाट्य में देखकर आनन्दानुभूति होती है। इसमें साधारणीकरण व्यापार सहायक होता है। व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध विगलित होकर पात्रों में सामान्यत्व स्थापित होना ही अभिनव का साधारणीकरण व्यापार है।

रसानुभूति के लिए परिस्थिति का निर्माण अनिवार्य है। संगीत में यह तभी संभव है जब उसमें अनुकूल पदरचना भी हो। भारतीय संगीत में स्वरों का क्रमिक प्रयोग होता है, पाश्चात्य संगीत की तरह युगपत् नहीं। इसलिए केवल स्वरों के द्वारा और वह भी क्रमिक प्रयोग के द्वारा परिस्थिति खड़ी करना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सरल नहीं। नाट्य के अंतर्गत तो विभिन्न माध्यमों के द्वारा परिस्थिति बनी रहती है इसलिए वहाँ उस परिस्थिति को अधिक तीव्र बनाकर रसानुभूति कराने में संगीत विशेष रूप से सहायक होता है, किन्तु नाट्य से स्वतंत्र संगीत में ऐसा कोई साधन नहीं होता। पद हो तो भी गौण और उपेक्षित होता है। वाद्य-संगीत में तो वह होता ही नहीं। संगीत के द्वारा श्रृंगारादि रसों की ठीक उसी रूप में अनुभूति कराना संभव नहीं जिस रूप में काव्य या नाट्य में होती है, क्योंकि काव्य के शब्द और अर्थ या नाट्य के अभिनय और अभिव्यक्त भाव जैसी दो भिन्न वस्तुएँ संगीत में नहीं हैं। यद्यपि प्रयोक्ता जो कुछ प्रेषित करता है वह स्वर के द्वारा ही प्रेषित होता है लेकिन उसका स्वरूप भी काव्य और नाट्य की तरह निश्चित नहीं होता। इतना ही नहीं, सारे भावों को भी पद के सहयोग के बिना संगीत में व्यक्त नहीं किया जा सकता, जैसे—घृणा।

संगीत किसी भाव के कारण या परिस्थिति को प्रस्तुत नहीं कर सकता किन्तु भाव को व्यक्त करने में समर्थ है। अन्य कलाओं की तरह संगीत में भी भाव की साधारणीकृत होकर यानी भावसामान्य की ही अनुभूति होती है। किन्तु विभिन्न रागों के द्वारा अनुभूत होने वाले किसी एक भाव में भी सूक्ष्म अन्तर होता है। जैसे—बहार, हिंडोल, मारवा, शंकरा के उत्साह, उल्लास या दीप्ति में अन्तर है। श्री, गुंडक्री, भैरव के रौद्रत्व में भेद है। तोड़ी, जोगी, गौरी, नीलांबरी की करुणा अथवा वियोग में भिन्नता है। लगभग एक भाव-वर्ग में रखे जा सकने वाले रागों के भावों में इतने सूक्ष्म अन्तरों की अनुभूति होती है जिसे शब्दों के माध्यम से व्यक्त करना सम्भव नहीं है, क्योंकि भावों के सूचक शब्दों की संख्या सीमित और नियत है लेकिन भावों के अन्तर सीमित या नियत नहीं हैं। इसीलिए रसशास्त्र में यह कहा गया कि एक ही व्यभिचारिभाव अनेक रसों से संयुक्त हो सकता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि उस विशेष व्यभिचारी का स्वरूप रसविशेष में भिन्न होता है। जैसे—श्रृंगार, रौद्र, भयानक, वीर आदि के प्रसंग में क्रोध हो सकता है, लेकिन श्रृंगार-सम्बन्धी क्रोध वीर-सम्बन्धी क्रोध से भिन्न होगा, यद्यपि संज्ञा एक ही—क्रोध—है। तदनुरूप रागों के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट और पुष्ट भावों के सूक्ष्म अन्तर अनुभूतिगम्य तो होते हैं लेकिन उनके लिए अलग-अलग शब्द नहीं हैं। इस प्रकार की अनुभूति के समय चित्त उन्हीं भाव-'मय' हो जाता है। रसानुभूति की तरह संगीत से होने वाली आनन्दानुभूति भी सर्वत्र स्फुरित होती हुई सी, हृदय में प्रविष्ट होती हुई सी, अंग-प्रत्यंगों का आलिंगन करती हुई सी, अन्य सबका तिरोधान करती हुई

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सी और विलक्षण होती है। स्व० पं० ओमकारनाथ ठाकुर जैसे सिद्ध गायकों का संगीत इसका प्रमाण है।

'राग' शब्द की सार्थकता इसी में है कि वह चित्त को 'रँग' कर उसी प्रकार अपने रूप का बना देता है जैसे वस्त्र को किसी रंग में डुबोने पर वह वस्त्र उसी रंग का हो जाता है। किन्तु स्वरों या रागों के द्वारा प्रेषित होने वाली वस्तु सदा भाव नहीं होती यानी प्रयोक्ता किसी भाव को व्यक्त करने की आकांक्षा हमेशा नहीं रखता, राग का रूप ही व्यक्त करता है। ऐसी स्थिति में किसी विशेष या निश्चित भाव की अनुभूति न हो, यह सम्भव है। लेकिन सामान्य श्रोता, जिसे राग के रूप की कोई जानकारी न हो वह रूप की अनुभूति नहीं कर सकता। वहाँ उस रूप से भिन्न एक विशेष प्रकार के आनन्द की ही उसे अनुभूति होती है जो न स्वरों से वाच्य होता है, न लक्षित बल्कि व्यंग्य होकर अभिव्यक्त होता है, उसे शब्दों के द्वारा कहा नहीं जा सकता, इसलिए अनिर्वचनीय है।

भारतीय संगीत की अनुपम विशेषता राग है और आज भारतीय संगीत राग-संगीत का पर्याय है। इसलिए यहाँ भारतीय संगीत पर राग के आधार पर ही विचार किया जा सकता है। यद्यपि स्वरसमूहों से ही राग का आकार और स्वरूप बनता है और भाव भी व्यक्त होता है, लेकिन आधार स्वर यानी षड्ज के द्वारा ही अन्य स्वरों का सम्बन्ध बनता है। कुछ निश्चित स्वर-ध्वनियाँ आधार स्वर के भेद के कारण भिन्न स्वरनाम ग्रहण करती हैं और तब उनका भाव या प्रभाव भी भिन्न हो जाता है। जैसे—सा को आधार मानकर प्रयुक्त करने पर नि सा ध नि, ^{ग}रे स्वरध्वनियाँ प को आधार मानकर प्रयुक्त करने पर म् प ग म $^{नि}$ध बन जाती हैं। इनमें से प्रथम समूह राग जयजयवन्ती में कोमल भावों का व्यंजक है जब कि दूसरा समूह हमीर में उत्साह को व्यक्त करता है। इसका कारण यह है कि किसी स्वरावली के विभिन्न स्वरों का आधार स्वर के साथ बनने वाला सम्बन्ध भाव को जन्म देता है। प्रथम समूह के स्वरों का 'सा' के साथ सम्बन्ध नि सा ध नि, ^{ग}रे के रूप में कोमलता को व्यक्त करता है लेकिन दूसरी स्वर-ध्वनियों का मूल सा के साथ म् प ग म $^{नि}$ध का सम्बन्ध है जो तीव्र म और शुद्ध नि से संयुक्त शुद्ध ध के कारण भिन्न अनुभूति को जन्म देता है। राग संगीत के ऐसे अनेक पक्ष हो सकते हैं जिनके कारण उनके द्वारा होने वाली अनुभूति पर किसी एक सिद्धान्त के अन्तर्गत पूरा-पूरा विचार करना सम्भव न हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत में शब्द के बिना केवल स्वर के बल से ही आनन्द विशेष की अनुभूति हो जाती है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि स्वर में ऐसी कोई शक्ति है जो शब्द की वाचक शक्ति के बिना ही आनन्दानुभूति करा देती है। यह शक्ति 'स्फोट' कही जा सकती है। जो अर्थ, भाव, रस या इन सबसे भिन्न 'कुछ' प्रतीत होता है वह वाच्य नहीं व्यंग्य होता है, इसलिए वह 'प्रतीयमान' या 'ध्वनि' है। स्वर के द्वारा वे भावादि स्वतः प्रकाशित हो जाते हैं और व्यक्तिविशेष के न रह कर साधारणीकृत होकर अनुभूत होते हैं, इसलिए उनकी 'अभिव्यक्ति' होती है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में ऐसे चुने हुए शब्दों को लेकर विचार किया गया जो व्याकरण और संगीतशास्त्र दोनों में समान रूप से व्यवहार में आते हैं और दोनों में जिनके अर्थों में साम्य अथवा सादृश्य प्रकट है। दूसरी ओर भाषा द्वारा अर्थबोध पर जो चिन्तन हमारे देश में हुआ है उसके आधार पर संगीत द्वारा प्राप्त अनुभूति की प्रक्रिया को समझने और संगीत के अपने अर्थबोध का स्वरूप समझने का यत्न भी किया। इन दोनों मार्गों से श्रव्य की अखण्डता के प्रति भारतीय मनीषा की जागरूकता का स्पष्ट परिचय मिला है, ऐसा हमारा विश्वास है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत में छन्द का स्वरूप

ध्वनि समस्त वाग् व्यवहार का मूल है। इसी को शब्द, नाद, वाक् आदि भी कहा गया है। यह दो प्रकार की है—नादात्मिका और वर्णात्मिका। इनमें से प्रथम प्राकृत है, दूसरी विकसित। नादात्मिका से संगीत का और वर्णात्मिका से काव्य का जन्म होता हैं। स्वर तत्त्व और काल तत्त्व नाद के ये दो पहलू हैं। इनमें से काल जब अनियमित रहता है तो सामान्य व्यवहार कहलाता है और जब नियमित गति का रूप लेता है तो संगीत, ताल और छन्द को जन्म देता है।

संगीत में वाक् तत्त्व स्वर के रूप में और काल तत्त्व लय-ताल के रूप में व्यक्त होता है। काव्य में यही क्रमशः पद और छन्द में व्यक्त होता है। भरत ने अत्यन्त व्यापक रूप में वाक् तत्त्व को 'शब्द' और काल तत्त्व को 'छन्द' कहा है—

छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न च्छन्दश्शब्दवर्जितम्।[1]

अर्थात् कोई शब्द यानी ध्वनि छन्दरहित नहीं और न ही कोई छन्द शब्द रहित है। क्योंकि ध्वनि काल के बिना व्यक्त नहीं होती और काल का ज्ञान ध्वनि के बिना सम्भव नहीं। काल निस्सीम है जिसका ज्ञान सीमा में बाँधे बिना यानी खण्ड बनाये बिना सम्भव नहीं। खण्ड बनाने के लिए क्रिया आवश्यक है। क्रिया स्पन्दन ही है और ध्वनि भी मूलतः स्पन्दन ही है। इसी-लिए वाक् (ध्वनि) और काल अभिन्न हैं।

भारतीय संगीत के मूल तत्त्व दो हैं—स्वर और ताल। लेकिन इनका प्रयोग 'निराधार' नहीं हो सकता, इसीलिए 'अनुभावक' के रूप में भरत ने 'पद' के ग्रहण का विधान किया—

गान्धर्वं यन्मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम्।
पदं तस्य भवेद् वस्तु स्वरतालानुभावकम्॥[2]

लेकिन भरत का 'पद' अत्यन्त व्यापक है जिसमें अक्षर (स्वर तथा व्यंजन) से सम्बद्ध सब कुछ समाविष्ट है—

यत् स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्।[3]

---

१. ना० शा०, १४।४५। २. वही, ३२।२७। ३. वही, ३२।२८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पद, पद्य और छन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भरत के अनुसार जब पदबन्ध में यति, छेद, नियत प्रमाण आदि के कारण 'पाद' बनते हैं तभी वह 'निबद्ध' और 'पद्य' कहलाता है, क्योंकि ऐसा होने पर उसमें एक विशिष्ट प्रकार की लय का निर्माण होता है। दूसरे प्रकार का पदबन्ध 'गद्य' है, जिसमें नियमित गति या लय नहीं होती।

छन्द का मूल लक्षण लयबद्धता है। जहाँ लय नहीं वहाँ छन्द असम्भव है। फिर भी केवल लय ही छन्द नहीं है। ह्रस्व-दीर्घ या लघु-गुरु इकाइयों के आधार पर लय का एक निश्चित व विशेष आकार बनने पर छन्द के स्थूल रूप का निर्माण होता है। लय का प्रयोजन काल का नियमित विभाजन मात्र है जबकि छन्द का प्रयोजन विभाजित काल को निश्चित स्वरूप और आकार देना है। जैसे ध्वनि का अव्याकृत रूप नाद और व्याकृत रूप अक्षर, वर्ण, पद आदि हैं, उसी प्रकार काल का अव्याकृत रूप लय और व्याकृत रूप छन्द कहा जा सकता है। इस दृष्टि से लय छन्द की अपेक्षा सूक्ष्म है।

लय के बिना संगीत की सत्ता तो असम्भव है ही, छन्द भी निष्प्राण है। यही लय जब निश्चित स्वरूप में व्यक्त होती है तो छन्द की उत्पत्ति होती है, भले ही सार्थक शब्द हों या न हों। जैसे—ललला, ललला, ललला, ललला में तोटक और ललाला, ललाला, ललाला, ललाला में भुजंगप्रयात छन्दों के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, यद्यपि यहाँ सार्थक शब्द नहीं हैं।

प्रश्न यह है कि क्या पद, पद्य या सार्थक शब्द के बिना छन्द रह ही नहीं सकता? अधिकांश छन्दःशास्त्रियों और लेखकों ने इन्हें अभिन्न माना है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होगा कि पद्य से स्वतन्त्र भी छन्द की सत्ता है क्योंकि पद्य शब्दयुक्त स्थूल रचना है और छन्द उसमें रहने वाली विशिष्ट लय है इसीलिए पद्य को पढ़ और सुन सकते हैं लेकिन छन्द का केवल अनुभव ही होता है। वास्तव में छन्द ध्वनि रचना के भीतर रहने वाला ऐसा आनन्द-दायक तत्त्व है जिसकी अनुभूति उस रचना के घटकों (जैसे—अक्षर या स्वर) के नियत क्रम अथवा संख्या के आधार पर बनने वाली निश्चित लम्बाई में अनुस्यूत विशिष्ट लय के द्वारा होती है। लेकिन जैसे आनन्द की अनुभूति कराने वाले माध्यम में भी आनन्द की सत्ता मानी जाती है उसी प्रकार क्रम अथवा संख्यारूप स्थूल आकारों को भी छन्द कहा जाता है।

स्वर और पद्य स्थूल इन्द्रियगोचर हैं लेकिन लय और छन्द की सूक्ष्म मानस अनुभूति ही होती है। पद्य निश्चित रूप से सार्थक शब्द रचना है और छन्द के लिए सार्थक शब्द अनिवार्य नहीं। लेकिन यह निश्चित है कि काव्य में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लययुक्त सार्थक शब्द रचना यानी पद्य में ही छन्द रहता है जबकि संगीत में ऐसी निरर्थक ध्वनि-रचनाओं में भी छन्द है जिनमें एक निश्चित लघु, गुरु क्रम या मात्रा खंड आवर्तित होते रहते हैं और वह भी दो रूपों में दिखाई देता है—१. स्वरांश में और २. तालांश में।

यहाँ यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जायगा कि स्वरांश यानी वीणा की धातुओं, सितार के मिजराब के बोलों और झाले तथा गायन की सरगमों और तालांश यानी विभिन्न तालों और बोलों की रचना में भी छन्द रहता है, यद्यपि प्रायः गायक-वादक और श्रोता इस तथ्य से परिचित नहीं होते।

भरत ने वीणावादन की धातुओं के रूप में आघातों के जो प्रकार कहे हैं और जिनके लघु गुरु क्रम भी निर्दिष्ट किये हैं उनके आधार पर हम उनमें से कुछ में विभिन्न छन्दों के प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं। साथ ही सितार के समकक्ष बोल भी दे रहे हैं—

धातु का नाम	लघु गुरु क्रम	छन्द नाम	आज के समकक्ष बोल
रिभित	।।ऽ	रजनी	दि र दा
उच्चय	।। ।।ऽ	कमलमुखी	दिर दिर दा
नीरटित	।।। ।।।ऽ	चपला, द्रुतगति	दिर दिर दिर दा
ह्लाद	।।।। ।।।।ऽ	मणिगुणनिकरक्कता	दिर दिर दिर दिर दा

सितार में अत्यधिक प्रयुक्त होने वाले मिजराब के बोलों में २ से ८ मात्रा तक के मात्रिक छन्दों के कुछ प्रचलित नमूने प्रस्तुत हैं—

२ मात्रा के	दा दिर, दिर दा।
३ मात्रा के	दा दिर दा, दिर दिर दा, दिर दा रा।
४ मात्रा के	दा दिर दा रा, दिर दिर दा रा, दा रा दा दिर।
५ मात्रा के	दा दिर दा रा दा, दा –र दा दा रा।
६ मात्रा के	दा दिर दिर दा –र दा।
७ मात्रा के	दा –र दा दा रा दा रा, दिर दा रा दा रा दा रा।
८ मात्रा के	दा रा दा दा रा दा दा रा, दा दिर दिर दिर दा रदा –र दा, दा रदा –र दा रदा –र दा रा, दा दा –र दा दा रा दा रा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

झाले के बोलों में—

३ मात्रा के	दा चि चि[४]
४ मात्रा के	दा चि चि चि, दिर दा चि चि, रा दा चि चि, चि दा दा दा, दा दा चि चि।
६ मात्रा के	दिर दा ० चि चि चि।
८ मात्रा के	दा चि चि चि ० चि चि चि, दा चि चि दा चि चि दा चि, चि दा ० दा चि दा ० दा, चि ० दा० चि दा० दा, दा रा दा दा रा दा दा चि, दिर दिर दा ० दा चि चि चि, चि चि चि दा चि चि दा चि।

गायन में प्रयुक्त होने वाले छोटे-छोटे स्वर सन्निवेशों में वर्णगणों[५] के रूप देखे जा सकते हैं। मालकौंस राग में प्रयुक्त होने वाले कुछ अत्यन्त सामान्य प्रकार नीचे दिये जा रहे हैं। ह्रस्वाक्षर लघु (अर्थात् एक मात्रा) का और दीर्घाक्षर गुरु का (अर्थात् दो मात्रा के बराबर कालमान का) सूचक है—

जगण (। S ।)—स गा स, ग मा ग, म धा म, ध नी ध, नि सा नि।
सगण (। । S) – स ग मा, ग म धा, म ध नी, ध नि सा।
नगण (। । ।)—ग ग स, म म ग, ध ध म, नि नि ध, स स नि, ग ग स।

मात्रिक खण्डों के आधार पर बनने वाले छन्द के कुछ रूप निम्न सरगमों में—

त्रिमात्रिक—नि स नि, स ग स, ग म ग, म ध म, ध नि ध।
चतुर्मात्रिक—नि स ग स, स ग म ग, ग म ध म, म ध नि ध।
पंचमात्रिक—नि स ग म ग, स ग म ध म, ग म ध नि ध, म ध नि स नि।
षाण्मात्रिक—नि स ग म ग स, स ग म ध म ग, ग म ध नि ध म, म ध नि स नि ध।

---

४. 'चि' का अर्थ चिकारी के तार पर आघात और ० का अर्थ १ मात्रा चुप रहना यानी कोई आघात न करना है। 'दा' और 'रा' बाज के तार पर क्रमशः सीधे और उल्टे आघात के सूचक हैं।

५. तीन-तीन अक्षरों के ऐसे समूह जिनके लघु-गुरु क्रम नियत होते हैं और जिनके आधार पर वर्णवृत्त बनते हैं, गण हैं जो ८ होते हैं—यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण, सगण।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन उदाहरणों में छन्द की अनुभूति के लिए छन्द के प्रति जागरूकता अपेक्षित है।

तालांश में छन्द का स्वरूप देखने से पहले छन्द और ताल के सम्बन्ध को समझना जरूरी है। काव्य में जो स्थान छन्द का है वही स्थान संगीत में ताल को दिया जाता है क्योंकि छन्द और ताल दोनों मापक, प्रतिष्ठापक हैं। छन्द के द्वारा काव्य का और ताल के द्वारा गेय का मान होता है। छन्द वर्ण पर और ताल हाथ अथवा वाद्य की क्रियाओं पर अवलम्बित कहा जा सकता है। दोनों का अति निकट का सम्बन्ध है लेकिन ये दोनों समान स्तर पर नहीं हैं। क्योंकि मूलतः छन्द अक्षर में या संगीत की क्रिया में अनुस्यूत होकर रहता है उससे अलग नहीं। जैसे काव्य में छन्द शब्द रचना में ही रहता है उससे अलग उसकी सत्ता नहीं होती उसी प्रकार संगीत में भी मात्रिक और वार्णिक गणों के रूप में ऊपर जो उदाहरण दिये हैं उनमें भी उन क्रियाओं में ही छन्द है। किन्तु ताल ठीक इसी रूप में यानी संगीत की क्रिया से अभिन्न रूप में नहीं बल्कि उससे अलग रहकर ही क्रिया का माप करता है। यह इस बात से ही स्पष्ट है कि कोई गीत तालबद्ध रूप में यानी ताल की क्रियाओं के साथ भी गाया जा सकता है और ताल के बिना भी। लेकिन किसी रचना से उसके छन्द को अलग नहीं किया जा सकता। संगीत में भी इस रूप में मूल छन्द हमेशा रहता है जिसे संगीत क्रिया से अलग करना सम्भव नहीं है। ताल अपने छन्द को उस छन्द पर आरोपित करके माप करता है।

काव्य में छन्द के अनुसार क्रियाएँ की जायँ तो वह ताल बन जायगा और संगीत में क्रिया न हो, केवल लघु-गुरु क्रम हो तो छन्द बन जायगा। इसीलिए गेय सम्बन्धी ताल रहित लघु-गुरु क्रमों के विशिष्ट सन्निवेशों को भरत ने ध्रुवा (गेयवृत्त) कहा है।

ह्रस्व-दीर्घ और लघु-गुरु शब्द-युग्म साहित्य और संगीत में प्रायः पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं लेकिन इनमें सूक्ष्म अन्तर है। प्रथम युग्म व्याकरण का और दूसरा तालशास्त्र व छन्दःशात्र का पारिभाषिक युग्म है। ह्रस्व-दीर्घ का सम्बन्ध मात्रा अर्थात् अ, इ, उ आदि स्वरों के उच्चारण काल से है। लेकिन छन्द की रचना स्वरयुक्त व्यंजन से होती है, केवल स्वर से नहीं। व्यंजन का रूप उसके साथ संयुक्त स्वर के ह्रस्व-दीर्घ रूप से निश्चित होता है। ह्रस्व स्वर से युक्त होने पर लघु अक्षर और दीर्घ स्वर से युक्त होने पर गुरु अक्षर कहलाता है। लेकिन कभी-कभी ह्रस्व स्वरयुक्त वर्ण भी दीर्घ बन जाता है जब उसके बाद संयुक्त व्यंजन, विसर्ग या अनुस्वार हो। जैसे—मत्तकोकिला में 'म', पटहः में 'ह', और वंशी में 'व'।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

छन्द का लघु-गुरु सामान्यतः ह्रस्व-दीर्घ मात्रा के समकक्ष होता है लेकिन ताल का लघु-गुरु ह्रस्व-दीर्घ मात्रा के या लघु-गुरु के समकक्ष नहीं होता। प्राचीन तालशास्त्र में लघु का काल ५ ह्रस्वाक्षर का उच्चारण-काल और गुरु का काल १० ह्रस्वाक्षर का उच्चारण-काल माना गया। मात्रा-काल का भेद होते हुए भी छन्द और ताल दोनों के निरूपण में एक ही भाषा का इस्तेमाल इनके अटूट सम्बन्ध का सूचक है।

छन्द मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—१. वर्णवृत्त—जिनमें ह्रस्व या दीर्घ—हर इकाई की स्वतन्त्र सत्ता है और जो परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकती। जैसे—भुजंगप्रयात, तोटक आदि। २. मात्रावृत्त—जिनमें मात्रा संख्या निश्चित है और मात्रिक खण्ड भी नियत हैं लेकिन लघु-गुरु का क्रम निश्चित नहीं। जैसे—हरिगीतिका, चौपाई आदि। इसी प्रकार तालों के भी दो भेद हैं—१. मार्ग-देशी ताल जिनमें लघु-गुरु आदि इकाई निश्चित और अपरिवर्तनीय हैं और २. वर्तमान ताल—जिनमें मात्रासंख्या व उनके विभाजन का नियम है, लघु-गुरु का अस्तित्व नहीं। मार्ग तालों में चच्चत्पुट नामक ताल का स्वरूप ऽऽ।ऽ॓ (गुरु, गुरु, लघु, प्लुत) है, इसलिए इसमें क्रियाएँ भी इसी माप से की जायेंगी, कुल मिलाकर ८ मात्रा के रूप में नहीं। वर्तमान पद्धति में ताल में सभी मात्रा या इकाइयाँ समान होती हैं इसलिए कुल मात्रा संख्या और विभागों का ही नियम है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक कविता में भी वर्णवृत्तों के स्थान पर मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग ज्यादा हुआ है। जटिलताओं से सरलता की ओर जाने की प्रवृत्ति ने ही दो भिन्न क्षेत्रों में एक से विकास को प्रोत्साहन दिया है।

जैसे गणों की समानता होते हुए भी लय-भेद के कारण छन्द भिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार ताल में भी भेद होता है। जैसे, तोटक और दुर्मिल सवैये में सगण ही होते हैं लेकिन तोटक की लय द्रुत होने से वीरछन्द माना गया है और सवैया मध्यविलम्बित होने के कारण अन्य रसों के उपयुक्त माना गया। इसी प्रकार तिलवाड़ा—तीनताल, झूमरा—दीपचन्दी, तीव्रा—रूपक, इन ताल युग्मों में क्रमशः १६, १४ और ७ मात्राएँ समान हैं लेकिन इन द्विकों के पहले-पहले तालों की गति स्थिर, प्रौढ़ है और दूसरे तालों की तरल, चंचल।

तालों में छन्द का स्वरूप मुख्यतः दो रूपों में दिखाई देता है—(१) विभिन्न तालों की रचना में और (२) विभिन्न बोलों की रचना में। प्रथम रूप में ताल और छन्द के मात्रा खंडों में पूर्ण साम्य रहता है। जैसे हरिगीतिका नामक मात्रा-वृत्त में कुल २८ मात्राएँ हैं और ३-२-२ के क्रम से ७-७ मात्राओं के खण्ड बनते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। लेकिन कभी-कभी कुल मात्रा संख्या के अलावा तालों के मात्रा खण्डों की अपेक्षा विशिष्ट मात्रा पर बल के अनुसार छन्द के साथ सम्बन्ध देखना पड़ता है। जैसे, कहरवा में ४–४ मात्राओं के खण्ड से कुल ८ मात्राएँ होती हैं लेकिन उसके ठेके के बोल में वज़न १-५ पर न होकर १, ४, ७ पर होता है जैसे धा गे न, ति न क, धि न। इसलिए ३-३-२ के खण्ड बनते हैं। ८ मात्रा के ऐसे कई छन्द हैं जिनमें ४-४ के खण्ड बनते हैं लेकिन न न ग (नगण, नगण, गुरु = ।।। ।।। ऽ) लक्षण वाला द्रुतगति या चपला छन्द इस ताल के अधिक नज़दीक है।

दूसरा रूप मृदंग आदि में बनने वाले बोलों में देखा जा सकता है। नीचे दो उदाहरण दिये जा रहे हैं जिनमें से प्रथम भुजंगप्रयात छन्द के पूरे बोल का एक अंश है। इस छन्द में यगण अर्थात् । ऽ ऽ की ४ बार आवृत्ति होती है—

क्र	धान्	कत्	त	धान्	ता	क्र	धान्	कत्	त	धान्	धा
।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ
भु	जं	ग	प्र	या	तं	भु	जं	ग	प्र	या	तं

एक अन्य बोल में ७-७ मात्राओं के ४ खण्ड और हर खण्ड में ३-२-२ मात्राओं के अवान्तर खण्ड से बनने वाले झूलना छन्द का रूप है :—

१	२	३	४	५	६	७
त	ड़ि	त	त	ड़्	त	ड़्
घे	ते	टे	घे	घे	ते	टे
धा	गे	न	कड़ा	न्	तु	ना
क	ते	टे	धा	ऽ	घ	ह
रा	ऽ	त	बि	ऽ	ज्जु	घ
टा	ऽ	न	घे	घे	न	न
धा	ऽ	त	घे	घे	न	न
धा	ऽ	त	घे	घे	न	न। धा

कभी-कभी मात्रा खण्ड और बल समान होते हुए भी छन्द की किसी विशिष्ट मात्रा से ही ताल का प्रारम्भ होने पर सम्बन्ध जुड़ता है अन्यथा नहीं। जैसे—झपताल में २-३-२-३ के विभाजन से १० मात्राएँ होती हैं। मन्थान, भुजंगप्रयात, महामोदकारी आदि वृत्तों में भी यगण (। ऽ ऽ) या तगण (ऽ ऽ ।) की आवृत्ति होने से ३-२ या २-३ के खण्ड बनते हैं। भुजंगप्रयात की पहली मात्रा से झपताल शुरू करें तो लय टूटती है लेकिन पहली मात्रा छोड़कर दूसरी मात्रा से झपताल प्रारम्भ किया जाय तो दोनों का सुन्दर समन्वय होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक अन्य उदाहरण कौवाली ताल का है जिसका ठेका यह है :—

१	२	३	४	५	६	७	८
ता घिं	ऽ ता	ता घिं	ऽ ता	ता तिं	ऽ ता	ता घिं	ऽ ता
×		३		०		७	

यद्यपि छन्दःशास्त्र में इस प्रकार का कोई छन्द नहीं है लेकिन इसमें नियत लघु गुरु क्रम के कारण विशिष्ट गति है इसलिए इसमें छन्दत्व है। यही गति निम्न बोलों में भी है—

।	ऽ	।	।	ऽ	।	।	ऽ	।	।	ऽ	।
ता	धीक्	ता	ता	धीक्	ता	ता	तीक्	ता	ता	धीक्	ता
धा	तीक्	धा	धा	तीक्	धा	ता	तीक्	धा	धा	तीक्	धा

सार यह है कि काव्य और संगीत तथा छन्द और ताल का घनिष्ठ सम्बन्ध है, छन्द के स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूप हैं, सार्थक अथवा निरर्थक किसी भी प्रकार की पद रचना में अथवा ध्वनि रचना में भी वह रह सकता है। विशिष्ट छन्दों की अभिव्यक्ति विशिष्ट तालों या बोलों की रचना में हो सकती है और विशेष तालों के साथ विशेष छन्दों का सम्बन्ध जोड़ना भी संभव है।[६]

---

६. इस विषय पर लेखिका की पुस्तक 'भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान' में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'म्यूज़िकॉलोजी' और 'संगीतशास्त्र' के क्षेत्र की रूपरेखा

'नाट्यशास्त्र' में निरूपित संगीत के मूल सिद्धान्तों के विस्तार और स्वरूप को देखकर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की कई सदियों पहले ही भारत में संगीत के प्रयोग और शास्त्र का इतना विकास हो चुका था जितना किसी भी दूसरे देश में उस समय तक नहीं हुआ था। 'नाट्यशास्त्र' आज भी केवल संगीत ही नहीं, बल्कि अन्य कलाओं के भी मूल सिद्धान्तों का आकर ग्रन्थ है और उसे इस सम्बन्ध में 'आप्त' माना जाता है। नाट्यशास्त्र में निरूपित अनेक सिद्धान्त सदियों से विकसित परम्परा के द्वारा भरत को प्राप्त हुए थे। यह तथ्य उन सिद्धान्तों को और भी अधिक प्राचीन सिद्ध करता है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि संगीतशास्त्र का बीज वेदों के अंग प्रातिशाख्य और शिक्षाग्रन्थों में भी है और यह भी उसकी प्राचीनता का प्रमाण है।

ऐसे संगीतशास्त्र की तुलना में पाश्चात्य 'म्यूज़िकॉलोजी' का विकास अत्यन्त आधुनिक है। म्यूज़िकॉलोजी का आज जो अर्थ या रूप है, उसका विकास यूरोप आदि पाश्चात्य देशों में प्रायः डेढ़-दो सौ वर्षों से ज्यादा पुराना नहीं है। इसलिए प्राचीनता की दृष्टि से दोनों में कोई तुलना नहीं हो सकती। फिर भी इसके क्रमिक विकास की शुरुआत पायथगोरस से मानी जा सकती है। इसके सिवा क्षेत्र और अन्य दृष्टियों से भारतीय संगीतशास्त्र के साथ म्यूज़िकॉलोजी की तुलना की जा सकती है।

प्रस्तुत लेख के मूल विषय में प्रवेश करने से पहले यह बताना ज़रूरी है कि संगीतशास्त्र के विषयविस्तार की यहाँ जो चर्चा की जायगी वह 'नाट्यशास्त्र', 'बृहद्देशी', 'संगीतरत्नाकर', 'संगीतराज', और 'संगीतशिरोमणि' तक के शास्त्र-ग्रन्थों के सन्दर्भ में होगी। इसके बाद के अधिकांश ग्रन्थों में संगीत के पूरे क्षेत्र को समेटने के बजाय गेय को और बाद में मुख्य रूप से राग-वर्गीकरण और राग-वर्णन में ही संगीतशास्त्र की इतिश्री समझ ली गई अथवा संगीत के किसी एक विशेष क्षेत्र को ही लेकर ग्रन्थ-रचना की गई; इसलिए संगीतशास्त्र के क्षेत्र की चर्चा में बाद के ग्रन्थों का विचार आवश्यक नहीं है।

'म्यूज़िकॉलोजी' शब्द 'म्यूज़िक' से बना है। पश्चिम के 'म्यूज़िक' में गीत और वाद्य ही विचारणीय होते हैं इसलिए म्यूज़िकॉलोजी में भी इन दो का ही विचार किया जाता है जब कि संगीतशास्त्र 'संगीत' का शास्त्र है। 'गीतं वाद्यं

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते' के अनुसार संगीत की परिभाषा ही इन तीनों के समुच्चय की बोधक है इसलिए इसमें गीत और वाद्य के साथ नृत्य पर भी विचार होता है।

यद्यपि म्यूज़िकॉलोजी और संगीतशास्त्र—दोनों का आधार अत्यन्त वैज्ञानिक पद्धति है लेकिन इन पद्धतियों में बड़ा अन्तर है। आज की भाषा में जिसे 'वैज्ञानिक' पद्धति कहा जाता है वह अत्यन्त स्थूल है और उस रूप में भारतीय संगीतशास्त्र का निर्माण नहीं हुआ। इसमें संदेह नहीं है कि हमारे संगीत-सिद्धांत आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति द्वारा भी सिद्ध किए जा सकते हैं, किए जा रहे हैं, लेकिन भारतीय पद्धति अत्यन्त सूक्ष्म है जो दर्शन और योग-तंत्र पर आधारित है जबकि पाश्चात्य पद्धति स्थूल वैज्ञानिक उपकरणों पर आधारित है।

म्यूज़िकॉलोजी का विषय-विस्तार

पाश्चात्य संगीत में पायथगोरस को संगीत का सबसे पहला चिन्तक माना जाता है। उसी ने सबसे पहले, ईसा-पूर्व छठी सदी में, स्वरों के अंतरालों को नापने के लिए गणित की परिभाषा का निर्माण किया। उसके बाद ईसा की दूसरी सदी में अरिस्टिडीज़ ने म्यूज़िक संबंधी विषयों की जो तालिका[१] दी वह इस प्रकार है :—

I. Theoretical Part :

- a. Physical and scientific section :
    1. Arithmatic.
    2. Physics.
- b. Technical section :
    1. Harmony.
    2. Rhythm.
    3. Metre.

II. Practical Part :

- a. Section on composition :
    1. Melodic composition.
    2. Rhythmic composition.
    3. Composition of poetry.

---

१. ग्लेन हेडन की पुस्तक 'Introduction to Musicology' के आधार पर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

b. Section on execution :

1. Instrumental performance.
2. Vocal performance.
3. Dramatic performance.

इस तालिका में संगीत के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक पक्ष के विभिन्न विषयों को समेटा गया है। नाटक से संबद्ध प्रस्तुति, रचना और छंद को भी इसमें स्थान मिला है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि यूरोप में भी संगीत नाटक से सीधे जुड़ा रहा और यह परम्परा बाद में छिन्न-भिन्न हो गई।

इसके बाद बोइथियस ने सन् ५२४ के आस-पास सृष्टि में व्याप्त संगीत और मनुष्य के कंठसंगीत तथा वाद्यसंगीत—इन विभिन्न प्रकारों को संगीत-संबंधी ज्ञान के क्षेत्र में सम्मिलित किया। सेसियोडोरस ने छठी सदी के उत्तरार्ध में संगीत के तीन मूल उपकरणों—स्वर (harmony), लय (rhythm) और छंद (metre) का समावेश किया।[२]

'म्यूज़िकॉलोजी' के रूप में पाश्चात्य म्यूज़िक के सिद्धान्त पक्ष की वास्तविक शुरुआत १८वीं सदी के उत्तरार्ध में हुई, जब फ़ॉकंल ने सैद्धान्तिक निरूपण को व्यवस्थित रूप से इन पांच क्षेत्रों में विभक्त किया—१. ध्वनिविज्ञान (acoustics), २. गाणितिक ध्वनि (mathematical sound), ३. सांगीतिक व्याकरण (musical grammar)—संगीतलिपि व शास्त्र, ४. सांगीतिक अलंकार-शास्त्र (rhetorics)—विधि और शैली तथा ५. सांगीतिक समालोचना (musical criticism)—सौंदर्यशास्त्र और प्रदर्शन के नियम।[3] इस विषय-विभाजन में संगीत के निर्माण और प्रयोग से सम्बन्धित उपकरणों का समावेश हुआ। साथ ही बाह्य रूप (शुरू के ३ क्षेत्रों में) और आभ्यन्तर स्वरूप (अन्तिम दो में) का भी अध्ययन सम्मिलित हुआ।

'म्यूज़िकॉलोजी' शब्द का संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए प्रयोग शुरू होने के बाद १९वीं सदी के अन्त में गाइडो ऐंडलर ने इस विषय का जो संग्रह किया वह इस प्रकार है—१. संगीतलिपि शास्त्र (paleography), २. सौंदर्य-शास्त्र (aesthetics), ३. ध्वनिविज्ञान (acoustics), ४. इतिहास (history), ५. संहति (harmony), लय (rhythm), संक्रम (melody),

२. वही।

३. विषय-विभाजन 'American Musicology' पुस्तक में हॅरिसन के लेख से उद्धृत।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(counterpoint) की शिक्षा और ६. सांगीतिक अनुसन्धान (musical research)।[४]

हमने यह देखा कि १९वीं सदी तक म्यूज़िकॉलोजी के क्षेत्र में किन-किन विषयों का समावेश किया गया। इससे इसका भी कुछ परिचय मिला कि संगीत के वैज्ञानिक अध्ययन में क्या दृष्टिकोण रहा। मुख्यतः संगीत के मौलिक उपकरणों का भौतिक विचार, उनके प्रयोग के प्रकार, संगीत की विविध विधाओं और शैलियों का निरूपण, संगीत के अंकन यानी संगीतलिपि का अध्ययन, संगीत का इतिहास और सौंदर्यशास्त्र यानी मनुष्य पर पड़ने वाले संगीत के प्रभाव का विचार किया गया।

अब भारतीय संगीतशास्त्र के मुख्य ग्रन्थों के आधार पर उसके विषय-विस्तार को भी देख लें। शास्त्र के रूप में सामग्री सबसे पहले 'नाट्यशास्त्र' में ही उपलब्ध है। लेकिन यह केवल संगीत का नहीं, नाट्य का शास्त्र ग्रन्थ है। इसलिये यद्यपि नाट्य के अंग के रूप में प्रयुक्त संगीत का ही निरूपण इसमें है लेकिन संगीत के सिद्धान्त नाट्य-भिन्न संगीत को भी पूरी तरह लागू होते हैं। 'संगीत' शब्द के परवर्ती अर्थ में वहाँ इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है लेकिन वहाँ प्रयुक्त 'गान्धर्व' संज्ञा में इसका मूल आधार है।

'नाट्यशास्त्र' के संगीत-सम्बन्धी अध्यायों का विषय-विस्तार इस प्रकार है। २८वें अध्याय में 'आतोद्यविधि' और २९वें में ततवाद्यों की प्रयोगविधि सहित 'शारीरी' और 'दारवी' वीणा का पूरा स्वरगत विषय है। इनमें स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, स्वरसाधारण, जाति, वर्ण अलंकार, धातु, वृत्ति आदि विषयों का समावेश है। ३०वें में सुषिर-विधि, ३१वें में ताल-विधि, ३२वें में पदाधारित ध्रुवा और उनके भेद, पंचविध नाट्य-गान, ३३वें में गायक-वादकों के गुण-दोष का विचार और ३४वें में अवनद्ध वाद्यों की वादनविधि दी गई है। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ का छठा भाग सिर्फ़ संगीत-सम्बन्धी विषयों को दिया गया है। इनके अलावा कुछ और अध्याय भी संगीत से सम्बद्ध हैं। चौथे और पाँचवें अध्यायों में क्रमशः 'तांडव' और 'पूर्वरंग' का निरूपण है जिनमें ३१वें अध्याय में कहे गए तालाधारित वर्धमान आदि गीतकों की और उनके साथ होने वाले नृत्त एवं वाद्य प्रयोग की विधि का निरूपण है। रस-भाव से सम्बन्धित दो अध्याय और काकु सम्बन्धी एक अध्याय—ये तीन अध्याय भी ऐसे हैं जिनका संगीत के भाव-पक्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाट्य की 'सिद्धि' सम्बन्धी अध्याय भी संगीत से

४. वही।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बन्ध रखता है क्योंकि गीत-वाद्य के सम्यक् प्रयोग पर नाट्य की सिद्धि (सफलता) बहुत निर्भर है।

सूत्र-शैली में लिखे गए इस ग्रन्थ में संगीत का व्यापक दृष्टि से सूक्ष्म और पूर्ण विवेचन हुआ है और आज तक यह सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है।

नाट्य से स्वतन्त्र संगीत के निरूपण की दृष्टि से मतंग का 'बृहद्देशी' महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि आज यह अपने मूल और सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है, लेकिन जितना अंश उपलब्ध है उससे इसके विषय का परिचय मिलता है। 'देशी' की उत्पत्ति और लक्षण, योग-तन्त्र के आधार पर नादोत्पत्ति, राग वर्गीकरण, ग्रामरागों का पूर्ण निरूपण इसकी अपनी विशेषता है। नाद तत्त्व का जो निरूपण इसमें है वह आज के ध्वनि-विज्ञान की भाषा में नहीं है लेकिन दार्शनिक दृष्टि से जिस रूप में किया गया है, वह भारतीय साहित्य, दर्शन और विविध शास्त्रों के मूल में प्रवाहित होने वाली उस धारा का संकेत देता है जो इन सबको एक सूत्र में बाँधे रहती है। मुख्य ग्रामराग तो बृहद्देशी में भी वही हैं जो नाट्यशास्त्र में हैं लेकिन भरत ने उनके लक्षण नहीं दिए हैं जो इसमें प्राप्त हैं। मध्यकालीन राग-रागिणी वर्गीकरण का मूल बृहद्देशी के ग्रामराग और उनकी भाषा-विभाषादि में माना जाता है।

'संगीतरत्नाकर' में ७ अध्याय हैं। वीणा की धातु, वृत्ति और निर्गीत को छोड़ कर भरत के स्वरगत विषय के पूरे विस्तार को प्रथम 'स्वरगताध्याय' में समेटा गया है। इसके 'पिण्डोत्पत्तिप्रकरण' में शरीर रचना की भारतीय दार्शनिक विधि के अनुसार नाद के स्वरूप, ब्रह्म, जीव, जीव-संक्रमण, मनुष्य देह की उत्पत्ति, पंचभूत, धातु, षट्चक्र, ब्रह्मग्रन्थि, मुख्य नाडियों आदि का निरूपण करके मनुष्य देह द्वारा भुक्ति और मुक्ति की साधना के उपाय के रूप में नादोपासना का उल्लेख करके संगीत के विषयों में प्रवेश किया है। संगीतरत्नाकर में पिण्डोत्पत्ति प्रकरण, प्रकीर्णक के कुछ विषय, देशी ताल आदि का निरूपण विशेष है।

यों तो भरत-काल में भी नाट्य से निरपेक्ष संगीत की धारा रही होगी लेकिन उसका उल्लेख या निरूपण करने वाला कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। संगीतरत्नाकर में नाट्य-भिन्न संगीत का निरूपण हुआ है जिसमें संगीत के तीनों अंगों—गीत, वाद्य और नृत्त पर लिखा गया है। इनमें से अन्तिम अंग 'नर्तन' पर एक स्वतन्त्र अध्याय में नाट्य, नृत्त और नृत्य को भी ले लिया है।

संगीतरत्नाकर के कुछ पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'भरतभाष्य' में शिक्षा, ध्रुवा और छन्द पर भी तीन अध्याय हैं जो नाट्य-भिन्न संगीत का ग्रन्थ होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

महाराणा कुंभा द्वारा रचित 'संगीतराज' विराट् ग्रंथ है जिसमें १६ हजार श्लोक हैं और संगीत के विषयों का इतना विस्तृत निरूपण हुआ है जितना अन्य किसी ग्रंथ में नहीं है। 'पाठ्य' पर एक स्वतंत्र अध्याय महत्त्वपूर्ण है। सार्थक पद ही 'पाठ्य' होता है और सार्थकता के लिए आवश्यक छंद, अलंकार, काव्य के गुण-दोष और लक्षणों का इसमें निरूपण है। शेष विषय अन्य ग्रंथों के समान हैं।

संगीतशास्त्र के मुख्य ग्रंथों के अध्ययन से नीचे लिखी मौलिक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं :—

१. नाट्य के अंग के रूप में संगीत मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, मानव व्यवहार और सुख-दुःखादि को अभिव्यक्त करने का सबल माध्यम रहा। इस प्रकार आज की भाषा में न सही लेकिन किसी न किसी रूप में मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि से संबद्ध जरूर रहा। दर्शन से तो इसका सीधा संबंध ही था क्योंकि मनुष्य देह में वास करने वाली आत्मा का परमात्मा से संबंध स्थापित कराना तो हमारे यहाँ सभी कलाओं और ज्ञान की शाखाओं का प्रमुख उद्देश्य रहा है।

२. संगीत के उपकरणों—स्वर, ताल और पद—का विस्तृत, सूक्ष्म और वैज्ञानिक विवेचन सभी शास्त्रकारों का प्रतिपाद्य विषय रहा है।

३. संगीत के भावपक्ष से संबद्ध अनेक विषयों का भी ऐसा सूक्ष्म निरूपण किया गया है जो संसार के किसी अन्य देश की चिंतन-परम्परा में नहीं मिलता। इनका संगीत के संदर्भ में तो निरूपण नहीं किया गया लेकिन नाट्य और काव्य के तत्त्वों के रूप में रस, भाव, छंद, अलंकार, पाठ्य, काकु, ध्वनि की उत्पत्ति आदि का अत्यन्त गहराई में जाकर जैसा स्पष्ट और सूक्ष्म निरूपण हुआ वह भारतीय अंतर्द्रष्टा मुनियों की मौलिक देन है। अनेक सदियाँ बीत जाने और अन्य देशों के विचारों के आदान-प्रदान के बाद भी उनमें किसी प्रकार के सुधार या परिवर्तन की गुंजाइश मालूम नहीं होती। इसका कारण यह है कि यहाँ जो विकास हुआ वह पश्चिम की तरह trial and error के सिद्धान्त पर नहीं। जो सिद्धान्त स्थापित किए गए वे चेतना की विशेष अवस्था में अन्तःप्रेरणा से प्राप्त ज्ञान के आधार पर निबद्ध हुए इसलिए उनमें किसी वृद्धि या संशोधन की आज भी कोई ज़रूरत नहीं है और इसीलिए उनके कथन 'आप्तवचन' माने जाते हैं।

४. नाट्य में श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के अभिनय को स्थान था लेकिन प्रमुखता दृश्य अभिनय की ही रही। सात्त्विक, आंगिक और आहार्य-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिनय दृश्य हैं जब कि श्रव्य में वाचिक अभिनय ही आता है। भरत ने 'गांधर्व' के रूप में जिस संगीत की चर्चा की है वह 'स्वर-ताल-पदात्मक' होने के कारण श्रव्य था, उसमें दृश्य नृत्त का समावेश नहीं था। नृत्त आंगिक अभिनय के अन्तर्गत होने के कारण दृश्य था।

लेकिन स्वतन्त्र संगीत में भी संगीत को नाट्य से पूरी तरह विच्छिन्न न रखते हुए और श्रव्य की प्रधानता रखते हुए भी नृत्त को उसमें स्थान दिया गया।

५ संगीत में गीत की प्रधानता रही। शास्त्रीय चर्चा में गीत को दो प्रकार से समझाया गया। गीत, वाद्य, नृत्त रूप संगीत में गीत प्रमुख है जो गान का सूचक है और उसमें पद अनिवार्य है। दूसरे अर्थ में सम्पूर्ण स्वरांश को गीत कहा गया चाहे वह कण्ठ से निकले अथवा वाद्य से। संगीत के दो मूल उपकरणों—स्वर और लय में से स्वर प्रधान है। कण्ठ और वाद्य में भी कण्ठ से उत्पन्न स्वरों को ही प्रधान माना गया क्योंकि स्वरों की उत्पत्ति और प्रयोग प्राकृतिक रूप से कंठ से ही मान्य है। कंठ्य स्वरों के अनुकरण पर वाद्यों से स्वर उत्पन्न किए गए। चतुर्विध वाद्यों में से तत और सुषिर को स्वर वाद्य कहने का यही कारण है कि उनमें भी कण्ठ की तरह विभिन्न स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। वाद्यों का प्रयोग मुख्य रूप से कण्ठ की संगति के लिए होता था यानी उनमें गीत का अनुकरण अथवा वादन किया जाता था।

पाश्चात्य संगीत के बारे में यह ध्यान देने की बात है कि उसमें गीत और वाद्य में से वाद्य ही प्रधान रहा है इसलिए म्यूज़िकॉलोजी में अधिक कार्य वाद्य-संगीत पर हुआ है।

पश्चिमी देशों में अध्ययन की एक नई धारा बनी है जिसमें किसी विषय का विशेष अध्ययन करके अन्य शास्त्रों अथवा ज्ञान की शाखाओं के साथ सम्बन्ध जोड़ने की प्रवृत्ति है। इसी धारा के अन्तर्गत म्यूज़िकॉलोजी के सन्दर्भ में इन शास्त्रों की सहायता से अध्ययन किया जाता है—acoustics, aesthetics, ethnology, physiology, psychology, sociology, anthropology, pedagogy. म्यूज़िकॉलोजी के सन्दर्भ में इन पर भी कुछ विचार करना ज़रूरी है। संगीतशास्त्र में इनका क्या स्थान रहा है अथवा हो सकता है इस पर भी साथ-साथ कुछ विचार किया जायगा।

Acoustics (ध्वनि-विज्ञान)—इसमें ध्वनि की उत्पत्ति, प्रसार, ग्रहण, प्रयोग आदि से सम्बन्धित मूल सिद्धान्तों का विज्ञान और गणित की भाषा में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अध्ययन और निर्धारण किया जाता है। संगीत में इसका सीधा उपयोग वाद्यों के निर्माण, संगीत के सभाभवनों के निर्माण, ध्वनि-मुद्रण और ध्वनि-प्रसारण के रूप में है। पश्चिम में ध्वनिविज्ञान एक बड़ा क्षेत्र है और संगीतोपयोगी ध्वनि का अध्ययन इसी के अन्तर्गत किया जाता है। भारतीय संगीतशास्त्र में भी 'अकाउस्टिक्स' के मूल विषयों का विवेचन तो किया गया है लेकिन पद्धति स्थूल विज्ञान पर आधारित न होकर दार्शनिक है। ध्वनि के सभी मूल सिद्धान्तों से हमारे शास्त्रकार अच्छी तरह परिचित थे, यह आगे के उदाहरणों से स्पष्ट होगा, लेकिन उनकी भाषा और पद्धति भिन्न है।

'शारीरी' वीणा में ध्वनि का उत्पत्ति स्थान ऊपर की ओर होने पर स्वर के ऊँचा होने और स्थान नीचे होने से स्वर नीचा होने के जिस तथ्य का उद्घाटन उन्होंने किया उसमें तार की लम्बाई और कम्पन की आवृत्ति का सिद्धान्त अन्वित है। 'दारवी' वीणा में नीचे की ओर आघात करने वाली वीणा में शारीरी वीणा से उल्टा काम होता है यानी ऊपर चढ़ने से स्वर नीचा और नीचे जाने से स्वर चढ़ता है। तार के जितने हिस्से में कम्पन होते हैं उसी के अनुसार स्वर की तारता होती है, इसी बात को वहाँ दूसरे ढंग से व्यक्त किया गया है।

न्याय-दर्शन में वायु तरंग की मण्डलाकार गति 'कदम्बमुकुलन्याय' के द्वारा और वायु के रुख की ओर ध्वनि के अधिक प्रसार को 'वीचीतरंगन्याय' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। संवाद सिद्धान्त से हमारे शास्त्रकार बहुत अच्छी तरह परिचित थे। स-प और स-म संवाद तो दोनों ग्रामों की रचना का मूल आधार ही हैं। इसके अलावा म-ध अन्तराल के रूप में स-ग संवाद को भी वे जानते थे। ग्राम-रचना की विधि में 'धैवतीकृते गांधारे' इसका प्रमाण है। आजकल भी विभिन्न देशों के संगीत में यही मुख्य प्राकृतिक अन्तराल माने जाते हैं। इसी प्रकार संगीतशास्त्र के ध्वनि-सम्बन्धी अन्य कई सिद्धान्त भी आज के विज्ञान की भाषा में व्यक्त किये जा सकते हैं।

Aesthetics (सौन्दर्यशास्त्र)—कला द्वारा चित्त पर पड़ने वाले प्रभाव यानी आनन्दानुभूति के अध्ययन का शास्त्र पश्चिमी देशों में आज अत्यन्त विकसित माना जाता है। वहाँ हर कला का स्वतन्त्र सौन्दर्यशास्त्र है। पिछले प्रायः डेढ़ सौ वर्षों में musical aesthetics के रूप में सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धान्तों को संगीत से जोड़कर अध्ययन किया जाने लगा है। वहाँ truth (सत्य), good (शिव) और beauty (सुन्दर)—इन तीन गुणों के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधार पर अध्ययन के क्रमशः तीन भिन्न क्षेत्र हैं—metaphysics, ethics और aesthetics.

भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर यह है कि यहाँ एकता में ही अनेकता खोजने का प्रयत्न रहा है; पश्चिम में अनेकता में एकता का। भारतीय दर्शनशास्त्र में किसी भी सत्ता के तीन तत्त्व माने गए हैं—सत्, चित् और आनन्द। सौदर्न्य का समावेश आनन्द में ही हो जाता है क्योंकि आनन्दात्मक स्वरूप सौन्दर्यमय अवश्य होगा। 'आनन्द' का ही नाम 'रस' है क्योंकि कलाओं के द्वारा अनुभूति में आने वाला आनन्द ही रस है। पाश्चात्य विचारधारा में सौन्दर्य में आनन्द की उपलब्धि मानी गई है जब कि हमारे यहाँ आनन्द में ही सौन्दर्य का समावेश किया गया है। सौन्दर्यानुभूति का विवेचन नाट्य के सन्दर्भ में रस के रूप में ही किया गया और कलामात्र से प्राप्त होने वाले आनन्द को 'रस' संज्ञा दी गई। इसीलिए अलग से सौन्दर्यशास्त्र की रचना नहीं हुई और न कभी संगीत में उन तत्त्वों को लागू करके अलग से विचार करने की ज़रूरत समझी गई। लेकिन 'म्यूज़िकल एँस्थेटिक्स' के रूप में पश्चिमी देशों में 'एँस्थेटिक्स' के सिद्धान्तों को संगीत में लागू करके काफ़ी अध्ययन किया गया है।

Ethnology—मानव जातियों के विकास का अध्ययन ethnology है और इस सन्दर्भ में संगीत का अध्ययन ethnomusicology है। पाश्चात्य देशों में और विशेष रूप से अमेरिका में इस नाम से जो कार्य किया जाता है वह मानव जातियों के विकास के सन्दर्भ में न होकर पाश्चात्य 'क्लासिकल म्यूज़िक' के अतिरिक्त अन्य देशों की संगीत पद्धतियों का तथा पाश्चात्य दृष्टि से 'oral tradition' (मौखिक परम्परा) के अन्तर्गत आने वाले संगीत का अध्ययन होता है। इसकी प्रायः सौ वर्षों से अधिक पुरानी परम्परा नहीं है और वास्तव में यह 'एँथ्नोम्यूज़िकॉलोजी' का विकृत रूप है। इस प्रकार के अध्ययन को अमेरिका में आज बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में भारतीय विद्वानों की आपत्ति के कारण अमेरिका के कुछ म्यूज़िकॉलोजिस्ट भी इस ग़लत प्रयोग पर आपत्ति करने लगे हैं, फिर भी इस प्रकार का अध्ययन आज भी जारी है।

Sociology और Anthropology—संगीत के सन्दर्भ में ये दोनों शाखाएँ भी 'एँथ्नोम्यूज़िकॉलोजी' से मिलती-जुलती और उसकी अनिवार्य सहयोगी मानी जाती हैं। सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन 'सोशियॉलॉजी' का विषय है और मनुष्य के शरीर के क्रमिक विकास के रूप में अध्ययन 'एँन्थ्रोपॉलोजी' के अन्तर्गत आता है। संगीत को इनके साथ जोड़ कर म्यूज़ि-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कॉलोजी का विकास बहुत थोड़े वर्षों का है। समाज में मनुष्य संगीत के माध्यम से किस प्रकार व्यवहार अथवा अभिव्यक्ति करता है यही संगीत का सामाजिक अध्ययन है जिस पर पश्चिम में काफ़ी बल दिया गया है और गम्भीर अध्ययन हुआ है। संगीत के सामाजिक अध्ययन का सच्चा रूप यह है कि किसी विशेष प्रकार की व्यवस्था से युक्त समाज में संगीत की क्या स्थिति रही और समाज में परिवर्तन के साथ क्या परिवर्तन हुए। इस प्रकार का अध्ययन पाश्चात्य देशों में हुआ, भारत में नहीं। हाँ, समाज में संगीत का क्या स्थान रहा इस बारे में स्मृतियों में उल्लेख अवश्य मिलते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में संगीत की अपार महिमा कही गई है और उसे मोक्षप्राप्ति का साधन माना गया है। इस बारे में निम्न श्लोक प्रसिद्ध ही है—

> वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
> तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं हि गच्छति॥

दूसरी ओर मनुस्मृति में उसे अत्यन्त हेय कहा गया है जो उस समय के समाज में संगीतज्ञ की स्थिति का संकेत देता है। वहाँ आजीविका का साधन मात्र बनाने वालों की दृष्टि से संगीत को हेय कहा गया। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि संगीत के सामाजिक अध्ययन का सीधा अथवा स्पष्ट प्रयास न होकर फुटकर उल्लेखों के रूप में ही संकेत मिलता है।

Physiology—मानव शरीर के दो अंगों—श्रवणयन्त्र (कान) और ध्वनियन्त्र (कण्ठ)—का अध्ययन संगीत की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। कण्ठ में ध्वनि की उत्पत्ति और कान द्वारा उसके ग्रहण सम्बन्धी विभिन्न पक्षों पर 'फ़िज़ियॉलॉजी' में विस्तृत विचार किया गया है। ध्वनि का ग्रहण कान के द्वारा होने के कारण कान की बनावट और उस पर तथा मन पर ध्वनि के प्रभाव का विशेष अध्ययन प्रसिद्ध निदान-विशेषज्ञ हॅल्महॉल्ट्स ने किया है जो संगीत की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

हमारे यहाँ भी दर्शनशास्त्र में शब्द-विचार के अन्तर्गत श्रवणयन्त्र और श्रवणशक्ति का अध्ययन किया गया और ध्वनि-निरूपण भी हुआ। लेकिन पद्धति-भेद के कारण भिन्न प्रकार से हुआ जिसमें शरीर रचना की उपेक्षा नहीं थी किन्तु केवल स्थूल बनावट का वर्णन भी नहीं था। शरीर का निरूपण योग की क्रियाओं के आधार पर हुआ। मनुष्य देह को एक यन्त्र कहा गया जो षट्चक्रों से बना हुआ है और इनके स्थान शरीर में निर्धारित हैं। मन्द्र, मध्य और तार स्वरों की उत्पत्ति हृदय, कण्ठ और मूर्धा से होती है। संगीतरत्नाकर के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पिण्डोत्पत्ति प्रकरण में भ्रूण के गर्भ में आने से लेकर जन्म तक और उसके बाद के विकास की सारी अवस्थाओं का निरूपण है। ध्वनि की उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार कही गई है कि पहले आत्मा में विवक्षा (कुछ कहने की इच्छा), आत्मा से मन को प्रेरणा, मन द्वारा देह में स्थित अग्नि पर आघात फिर अग्नि द्वारा प्राणवायु को प्रेरणा, प्राणवायु का अग्नि से संयोग और फिर वायु को ऊपर उठने की प्रेरणा, तब वायु संचरण द्वारा ध्वनि की उत्पत्ति होती है। ध्वनि-उत्पत्ति का यह अध्ययन जितना सूक्ष्म और पूर्ण है उतना ही वैज्ञानिक भी। यह पाश्चात्य 'फ़िज़ियॉलॉजी' या 'अकाउस्टिक्स' का विषय नहीं, विशुद्ध दार्शनिक प्रक्रिया है। लेकिन मनोविज्ञान या शरीर रचना विज्ञान द्वारा प्रमाणित है। वर्णों की उत्पत्ति, उनके स्थान, उच्चारण, स्वर-व्यंजनों का क्रम आदि का भी जितना वैज्ञानिक अध्ययन हमारे यहाँ हज़ारों वर्ष पूर्व हुआ उतना संसार के किसी देश में विज्ञान की सहायता से भी नहीं हो सका है। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारे यहाँ दार्शनिक पद्धति से जो विश्लेषण हुआ वह भले ही 'फ़िज़ियॉलॉजी' के दृष्टिकोण से नहीं हुआ किन्तु उसके विपरीत नहीं है।

Psychology—पश्चिमी देशों में विकसित 'साइकॉलॉजी' यानी मनोविज्ञान में मन की प्रक्रिया का, सामान्य भाषा में मनुष्य के व्यवहार का, अध्ययन किया जाता है। किसी कारण के उपस्थित होने पर मन में क्या विकार होते हैं, फिर अनुभूति कैसे होती है और मनुष्य कैसे व्यक्त करता है—यह मनोविज्ञान का मूल विषय है। संगीत के द्वारा भी अनुभूति मन को ही होती है इसलिए संगीत और मनोविज्ञान को जोड़कर पश्चिमी देशों में काफ़ी अध्ययन किया गया है। इस संबंध में कार्ल ई० सीशोर की पुस्तक 'Psychology of Music' महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। उसमें संगीत के जिन विषयों को मनोविज्ञान की भाषा में समझाने का प्रयत्न किया गया है वे इस प्रकार हैं—सांगीतिक मन, सांगीतिक माध्यम, संगीतविज्ञान, सांगीतिक अलंकरण, तारता-आवृत्ति, तीव्रता, कालमान, विशेषगुण, ध्वनिघनता, संवादतत्त्व, लय, संगीत में सीखना, प्रतिमिति-चिंतन, भावों का स्वरूप, बैंड, वृन्दवाद्यों का विशेष गुण, कंठध्वनि, संगीत में मार्गदर्शन के सिद्धान्त, सांगीतिक जन्मजात प्रतिभा के मापदंड, आदिम संगीत, सांगीतिक विद्वत्ता का विकास, सांगीतिक सौंदर्यशास्त्र आदि। इनसे यह अनुमान किया जा सकता है कि म्यूज़िकॉलोजी में मनोवैज्ञानिक पक्षों का कितने विस्तार से अध्ययन हुआ है।

भारत में भावानुभूति और भावाभिव्यक्ति का अध्ययन तो विस्तार से और बहुत सूक्ष्म तथा गहराई में जाकर हुआ है लेकिन बिल्कुल भिन्न रूप में। यह रस-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शास्त्र का विषय रहा है। रसशास्त्र के विभाव, अनुभाव और भाव मनोविज्ञान में कारण (stimulus), प्रतिक्रिया (response) और भाव (emotion) हैं। मनोविज्ञान का 'माइण्ड' (mind) या 'कॉन्शसनेंस' (consciousness) रसशास्त्र में 'चेतना' है जिसकी तीन अवस्थाएँ—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—कही गई हैं। चेतना के विभिन्न कार्यों के अनुसार उसे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार कहा गया। सत्-असत् में विवेक करने वाली चेतना को बुद्धि तथा अनुभव कराने वाली को चित्त कहा गया। चित्त के विषय में सारा रसशास्त्र समा जाता है। योग के चित्तवृत्ति-निरूपण के समकक्ष पाश्चात्य मनोविज्ञान में कुछ नहीं है। वहाँ केवल निरूपण की दृष्टि है जबकि हमारे यहाँ चित्तवृत्ति-निरूपण का प्रयोजन है कि मनुष्य उनका निरोध करे। संगीत के द्वारा चित्तवृत्ति-निरोध आसानी से हो जाता है क्योंकि संगीत के शुरू होते ही मन एकाग्र हो जाता है जो चित्तवृत्ति निरोध के लिए सबसे ज़रूरी है।

इससे यह सिद्ध होता है कि दार्शनिक पद्धति के द्वारा संगीत के जिन विषयों का अध्ययन हुआ उनमें मनोविज्ञान, शरीर-रचना विज्ञान, सौंदर्यशास्त्र आदि के सिद्धान्तों का समावेश अवश्य है।

Pedagogy—शिक्षणशास्त्र के आधार पर पश्चिम में संगीत-शिक्षण पर भी काफ़ी विचार हुआ है। नर्सरी कक्षा से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक संगीत के विभिन्न अंगों के शिक्षण को मनोवैज्ञानिक तरीक़ों का प्रयोग करके अधिकाधिक वैज्ञानिक और उत्तम बनाने के लिए पश्चिमी देशों में निरंतर प्रयोग होते रहे हैं। इस प्रकार से जो सिद्धांत स्थिर हुए हैं उनका musical pedagogy के रूप में एक अलग शास्त्र बन गया है। हमारे यहाँ गुरु-शिष्य के गुणों के छुट-पुट उल्लेख तो मिलते हैं लेकिन एक शास्त्र के रूप में संगीत शिक्षण के सिद्धान्त स्थिर नहीं किए गए।

सहायक शाखाओं के संदर्भ में म्यूज़िकॉलोजी के अध्ययन की पद्धति और भारतीय पद्धति में उसके स्वरूप को समझने के बाद संगीतशास्त्र में घुली-मिली अन्य शाखाओं और उनके प्रभाव को भी संक्षेप में देख लें।

वैदिक आगमिक दर्शन—भारतीय वैदिक साहित्य में आगमिक दर्शन यानी तंत्र अनुपम है। उसके समकक्ष पश्चिम में कोई साहित्य नहीं है। संगीतशास्त्र पर तंत्र-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट और बहुत गहरा है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये दिये जा रहे हैं। 'बृहद्देशी' के शुरू में नादोत्पत्ति संबंधी श्लोक विशुद्ध तंत्र-पद्धति के हैं। तंत्र का प्रभाव राग-ध्यानों में भी दिखाई देता है। 'बृहद्देशी' में देशीराग

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रकरण के शुरू में देवी का जो मंगलाचरण है वह भी तांत्रिक है। 'संगीतराज' में भी देशीरागों में तांत्रिक ध्यान दिए हैं। उनमें मतंग का नाम बार-बार आने से उस पर मतंग का तांत्रिक प्रभाव प्रमाणित होता है। 'औमापतम्' नाम का एक छोटा-सा संगीत-ग्रन्थ प्राप्त होता है जो तांत्रिक शैली में ही लिखा गया है। नादोत्पत्ति के क्रम का पहले उल्लेख किया जा चुका है। संगीत के मूल तत्त्व नाद का जैसा सूक्ष्म अध्ययन आगमिक दर्शन में हुआ, और जो संगीत के शास्त्र-ग्रन्थों में भी चला आया, वैसा म्यूज़िकॉलोजी या उससे संबद्ध विषयों में नहीं हुआ है।

वैदिक धारा का केन्द्र बिन्दु यज्ञ है। विभिन्न प्रकार के यज्ञों के नाम प्राप्त हैं और मतंग ने भरत की ८४ मूर्च्छना-तानों के वही यज्ञ नाम दिये हैं। इसका यह आशय है कि विशेष यज्ञों को करने से जो फल प्राप्त होते हैं वही फल उन-उन यज्ञनाम वाली मूर्च्छनाओं के प्रयोग से भी प्राप्त होते हैं। वेदों और स्मृतियों में भी ऐसा कहा गया है जिसका उल्लेख व उद्धरण कल्लिनाथ की संगीतरत्नाकर की टीका में प्राप्त है। इनके अतिरिक्त संगीत की महिमा का वर्णन करते समय उसे सर्वोच्च पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति का साधन कहा गया है।

काव्यशास्त्र—'गांधर्व' में स्वर और ताल के साथ पद का ग्रहण होने से उससे संबद्ध काव्यशास्त्र के सभी विषयों का ग्रहण और उन पर विचार हुआ। गुण, अलंकार, वृत्ति, स्वर, व्यंजना, छंद आदि को पद-विचार में लिया गया। पाश्चात्य poetics में ऐसे विषय नहीं हैं जिनका संगीत में ग्रहण किया जा सके। इस प्रकार काव्यशास्त्र भारत की अनुपम उपलब्धि है।

छन्दःशास्त्र—वैदिक साहित्य में ६ वेदांगों में से एक 'छन्द' है जिसमें विविध प्रकार के छन्दों का वर्णन है। भरत के 'नाटयशास्त्र' में पदगत-विधि में भी छन्द-निरूपण है। साथ ही नाटयोपयोगी गेय छन्दों का भी ध्रुवाओं के अन्तर्गत विस्तृत निरूपण है। नान्यदेव के 'भरतभाष्य' में भी छन्द पर अलग अध्याय था जो आज प्राप्त नहीं है, 'संगीतराज' में भी छन्द हैं। भारत में छन्द का अत्यन्त विकसित शास्त्र है और उनके ग्रन्थों की लम्बी परम्परा रही है। अन्य शास्त्रों की भाँति इनमें भी बड़ा विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन है जो संगीत में ताल और पद दोनों की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। पाश्चात्य prosody के नाम से जो थोड़ा-बहुत 'मीटर' का शास्त्र है वह सिर्फ accent यानी विशेष वर्णों पर बल पर आधारित है। उसमें कुछ गिने-चुने 'मीटर' हैं जो किन्हीं विशेष सिद्धान्तों के आधार पर नहीं बल्कि accent (बल) और unaccent

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(अबल) के आधार पर बनाये गये हैं, और उनका संगीत से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार भारतीय छन्दःशास्त्र विश्व साहित्य में बेजोड़ है।

नाटचशास्त्र—नाट्य के अंग के रूप में संगीत का विशेष स्थान होने के कारण जीवन की विभिन्न और विशिष्ट परिस्थितियों में संगीत का क्या और कैसा उपयोग है अथवा होना चाहिए इसका महत्त्व होने के कारण नाट्य और संगीत में अटूट सम्बन्ध रहा है। विशेष रस-भाव-परिस्थिति में विशेष जाति अथवा राग के प्रयोग के निर्देश 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्त है। भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, कला आदि नहीं है जिसका समावेश नाट्य में न होता हो। नाट्य के मूल सिद्धान्त कमोबेश मात्रा में सब पर लागू किये जा सकते हैं। नाटचशास्त्र जैसा कोई विकसित शास्त्र संसार के अन्य देशों में नहीं है।

आयुर्वेद—संगीतशास्त्र में सिद्धान्तों के निरूपण में भारतीय आयुर्विज्ञान—आयुर्वेद—से भी तत्त्वों का ग्रहण किया गया है। वात, पित्त, कफ—इन तीन धातुओं का कंठ के गुण के सन्दर्भ में जिस रूप में निरूपण हुआ है वह पाश्चात्य 'मेंडिकल साइन्स' की धारणा से बिलकुल भिन्न हैं। पित्त सिर्फ़ 'बाइल' (bile) यानी पीला द्रव नहीं, वात सिर्फ़ वायु नहीं और बलग़म के रूप में निकलने वाला पदार्थ ही कफ नहीं है। ये तीनों ऐसे तत्त्व हैं जो पूरे शरीर में व्याप्त हैं और शरीर के अस्तित्व को धारण करने के कारण ही 'धातु' कहलाते हैं। ये अपने प्रकृत रूप में रहने पर, शरीर में व्याप्त होते हुए भी, दिखाई नहीं देते लेकिन शरीर की रचना, प्रकृति व स्वभाव के निर्माण और कंठ के विशेष गुण (quality या timbre) में इनका विशेष महत्त्व है। 'संगीतरत्नाकर' में इन धातुओं के आधार पर कंठ ध्वनि का वर्गीकरण और उसके गुणों का निरूपण किया गया है। 'प्रबन्धों' में भी प्रबन्ध के शरीर को धारण करने वाले अंश के रूप में 'धातु' शब्द का ग्रहण और वीणावादन की शैली को धारण करने वाले विशेष प्रकार के प्रहारों के लिए 'धातु' संज्ञा का ग्रहण आयुर्वेद के धातु के सिद्धान्त पर आधारित है।

पद्धतियों की भिन्नता और एक दूसरे से भिन्न अपनी-अपनी विशेषताओं के होते हुए भी म्यूजिकॉलोजी और संगीतशास्त्र में अनेक समानताएँ भी हैं। संगीत की धारणा-सम्बन्धी मौलिक बातें हर पद्धति में रहती हैं। तदनुसार स्वर का अध्ययन दोनों में हुआ, यद्यपि विकास क्रम भिन्न है। पाश्चात्य संगीत में 'हार्मनी' के विकास के कारण स्वरसाधृत स्वर क्रम (tempered scale)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर और हमारे यहाँ स्वर के क्रमिक प्रयोग के विकास (melody) के कारण 'ग्राम' के रूप में विचार किया गया। पश्चिम में 'ऑक्टेव' और यहाँ 'सप्तक' सिद्धान्त-स्थापना का आधार अवश्य है लेकिन मूल स्वर दोनों में सात ही हैं।

भारतीय संगीत का विकास जाति, राग के रूप में होने से संगीतशास्त्र में इनका विवेचन हुआ तो पाश्चात्य संगीत 'हार्मनी', 'काउण्टर पॉइंट' के रूप में विकसित हुआ इसलिए म्यूज़िकॉलोजी में इन पर विचार हुआ।

संगीत का दूसरा तत्त्व लय है। इसका भी दोनों पद्धतियों में अध्ययन किया गया। भारतीय संगीत में ताल के रूप में विशेष विकास हुआ जिसका बड़ा विकसित शास्त्र है। पश्चिम में ऐसी धारणा न होने से इसका तो वहाँ अस्तित्व नहीं है लेकिन लय (rhythm) का वैज्ञानिक निरूपण हुआ।

वाद्यों का विकास दोनों पद्धतियों में खूब हुआ। लेकिन वाद्यों का वैज्ञानिक वर्गीकरण सर्वप्रथम भारत में और अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ। चतुर्विध वाद्यों में से अवनद्ध वाद्य भारत की विशेषता है क्योंकि किसी विशेष स्वर में मिलाने की क्षमता वाले वाद्य और उनकी विशेष वादन शैली पाश्चात्य देशों में नहीं हैं। किन्तु पश्चिम में वाद्यों की निर्माण विधि, प्रयोग आदि के बारे में अतिविशिष्ट (specialised) अध्ययन हुआ है। भारत में उस तरह की वैज्ञानिक विधि या भाषा का तो प्रयोग नहीं हुआ लेकिन शास्त्रग्रन्थों में जो निर्माण विधि दी गई वह वैज्ञानिक अवश्य है। परम्परागत रूप में निर्माण विधि हस्तान्तरित होने की प्रक्रिया के कारण सारे ब्योरे निबद्ध नहीं किए गये।

'प्रबन्ध' अथवा composition पर भी दोनों पद्धतियों में अपने-अपने दृष्टिकोणों से लिखा गया। पाश्चात्य संगीत में कम्पोज़र द्वारा रचित 'कम्पोज़ीशन' ही गायन-वादन की एकमात्र सामग्री होने के कारण उसका बहुत अध्ययन किया गया। पाश्चात्य संगीत मुख्यतः वाद्य संगीत है और इसलिए 'कम्पोज़ीशन' के अधिकांश प्रकार भी वाद्य रचनाओं के हैं। भारतीय संगीत में गीत यानी गायन प्रधान होने के कारण भेद-प्रभेद भी गेय-प्रबन्धों के ही हैं। वाद्य रचनाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा इसलिए गीत से अलग वाद्यों के प्रबन्ध नहीं कहे गए।

प्रबन्ध के भेद-प्रभेदों को देखते हुए यह तो कहा जा सकता है कि निबद्ध यानी पूर्वरचित रचना का महत्त्व तो भारतीय संगीत में भी रहा लेकिन इसकी प्रमुख विशेषता अनिबद्ध और तात्कालिक विस्तार (improvisation) ही रही है इसलिए रागालप्ति, रूपकालप्ति आदि के रूप में उसका निरूपण हुआ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाश्चात्य 'क्लासिकल म्यूज़िक' में तो improvisation के लिए कोई गुंजाइश नहीं है लेकिन जाज़ संगीत में कुछ स्थान है जिसका अध्ययन आजकल म्यूज़िकॉलोजी के अन्तर्गत किया जा रहा है।

१९वीं २०वीं सदी में संगीतशास्त्र में कुछ काम हुआ है। वह जिन परिस्थितियों में हुआ है उसका भी अल्प परिचय कर लें। पिछले लगभग ८०० वर्षों में संगीतशास्त्र में किसी ऐसे मौलिक ग्रन्थ की रचना नहीं हुई जैसे नाट्यशास्त्र, बृहद्देशी, संगीतरत्नाकर आदि थे। 'संगीतराज' में प्राचीन सिद्धान्तों का निरूपण और स्पष्टीकरण तो किया गया लेकिन समसामयिक संगीत पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। जो इने-गिने व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गये वे शायद लक्ष्य को प्रभावित नहीं कर सके। अपने अत्यन्त लचीले और अनिबद्ध तथा व्यक्तिगत अभिव्यक्ति-प्रधान स्वरूप के कारण संगीत को लिपिबद्ध किया नहीं गया। इसलिए म्यूज़िकॉलोजी की तरह लिपिबद्ध संगीत के आधार पर प्राचीन संगीत का संकलन, संग्रह, सम्पादन, स्वरूप-निर्धारण आदि सम्भव नहीं है। आंशिक रूप में लिपिबद्ध करना सम्भव होता तो भी मौखिक परम्परा से संगीत ऐसे गायक-वादकों को हस्तांतरित होता रहा जो निरक्षर होने के कारण स्वयं लिपिबद्ध कर भी नहीं सकते थे और करने देना भी नहीं चाहते थे। समाज में संगीत हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था इसलिए इस क्षेत्र में काम करना लगभग असम्भव सा था। प्राचीन ग्रन्थों की शैली, काल के बड़े व्यवधान और लक्ष्य तथा शास्त्र का सम्बन्ध टूट जाने से संगीतशास्त्र दुरूह हो गया था। शास्त्र के अध्येताओं द्वारा शास्त्र को समझ न सकने के कारण ऐसी धारणा बन गई कि प्राचीन सिद्धान्तों का वर्तमान लक्ष्य के साथ सम्बन्ध नहीं है इसलिये उनका अध्ययन करना व्यर्थ है।

किन्तु पिछले लगभग ३० वर्षों में प्राचीन सिद्धान्तों को यथातथ रूप में समझने के सफल प्रयास हुए हैं। फिर भी अनेक समस्याएँ हैं। प्राचीन ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त नहीं हैं अथवा खण्डित हैं या पाठ भ्रष्ट है जिससे उन्हें समझना बड़ा कठिन है। संकलन और संपादन के क्षेत्र में बहुत काम अपेक्षित है। वर्तमान लक्ष्य के सन्दर्भ में प्राचीन सिद्धान्तों का अध्ययन करना बहुत ज़रूरी है। पश्चिमी देशों में अध्ययन की दिशा में अधिक गम्भीर और व्यापक स्तर पर प्रयत्न हुए हैं।

पाश्चात्य और भारतीय अध्ययन की पद्धतियों के इस अवलोकन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दोनों की पद्धतियों में भारी अन्तर है। भारतीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पद्धति धार्मिक-दार्शनिक थी, जब कि पाश्चात्य पद्धति भौतिक-वैज्ञानिक और दृष्टिकोण उपयोगितावादी है। यहाँ मनुष्य शरीर को केवल अस्थि, माँस, मज्जा आदि का स्थूल ढाँचा नहीं माना गया और उसमें न सिर्फ़ भौतिक सुख की अपेक्षा रखी गई बल्कि अध्यात्म-चिन्तन भी आवश्यक समझा गया। वहाँ मनुष्य को बुद्धियुक्त पशु (rational animal) कह कर बुद्धि और पशुत्व का संयोग मात्र माना है। भारतीय चिन्तनधारा में मनुष्य में देवत्व से भी ज्यादा गौरव समझा गया है। इन विचार धाराओं के अन्तर का प्रभाव अन्य क्षेत्रों की तरह म्यूज़िकॉलोजी और संगीतशास्त्र में भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। लेकिन जैसा ऊपर संकेत दिया जा चुका है ज्ञान के विकास की विविध देशों में जो प्रगति हुई है उसे देखते हुए ऐसे कई क्षेत्र अभी अछूते पड़े हैं जिनमें संगीतशास्त्र को बहुत कार्य करना है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बहुल प्रयोग के कुछ प्राचीन शब्द

संगीत की पारिभाषिक शब्दावली में कुछ शब्द अथवा संज्ञाएँ ऐसी हैं जो आज भी या तो ज्यों की त्यों प्रयुक्त होती हैं अथवा उनके अर्थों में कुछ संकोच या विस्तार हो गया है। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका स्थान कुछ अन्य शब्दों ने ले लिया है। कुछ ऐसे भी हैं जिनसे सूचित होने वाला अर्थ या रूप तो जीवित है लेकिन नाम बदल गए हैं। ऐसे कुछ शब्द हैं श्रुति, अन्तर गान्धार, काकली निषाद, स्वयम्भू गान्धार, मूर्च्छना, प्रबन्ध, वस्तु, रूपक। इनके शास्त्रोक्त लक्षण देकर उनकी संक्षिप्त व्याख्या और परिभाषा देने का यहाँ प्रयत्न किया जा रहा है।

श्रुति

'श्रवण' यानी 'सुनना' अर्थ वाली 'श्रु' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगा कर बनने वाले 'श्रुति' शब्द का प्रयोग प्रायः सभी शास्त्रकारों ने 'सुनाई देने वाली ध्वनि' के अर्थ में किया है। जैसे—

विश्वावसु—श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत्।[1]

दत्तिल—श्रवणाच्छ्रुतिसंज्ञकाः।[2]

मतंग—श्रूयन्त इति श्रुतयः।[3]

शार्ङ्गदेव—श्रवणाच्छ्रुतयो मताः।[4]

पार्श्वदेव—श्रवणाच्छ्रुतिसंज्ञकाः।[5]

यह प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में हुआ है जो श्रुति शब्द के अर्थ अथवा उसके मौलिक गुण को तो सूचित करता है किन्तु श्रुति का स्वरूप अथवा लक्षण नहीं है। क्योंकि सभी सुनाई देने वाली ध्वनियाँ संगीत में श्रुति नहीं कहला सकतीं। विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा श्रुति और स्वर के सम्बन्ध पर जो चर्चा की गई है उसके आधार पर यहाँ श्रुति का सम्पूर्ण लक्षण देने का हम प्रयत्न करेंगे।

शार्ङ्गदेव ने श्रुति का लक्षण देते हुए कहा :—

श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते॥[6]

---

१. बृह०, पृ० ४। २. दत्ति०, ९। ३. बृह०, पृ० ४।
४. सं० र०, १।३।८। ५. सं० स० सा०, १।१।१८।
६. सं० र०, १।३।२४-२५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थात् श्रुति के अनन्तर होने वाला स्निग्ध, अनुरणनात्मक, श्रोता के चित्त का स्वतः रंजन करने वाला जो नाद है वह स्वर कहा गया है। इसमें प्रयुक्त 'अनन्तर' और 'अनुरणन' शब्द विशेष महत्त्व के हैं क्योंकि इन्हें लेकर टीकाकारों, परवर्ती शास्त्रकारों और आधुनिक लेखकों में श्रुति के लक्षण पर काफ़ी मत-मतान्तर दिखाई देते हैं।

'अनन्तर' का विच्छेद है 'नास्ति अन्तरम् अनन्तरं' अर्थात् जिसमें कोई अन्तर न हो यानी ठीक साथ होने वाला। इसके अनुसार 'श्रुत्यनन्तरभावी यः' का अर्थ 'श्रुति के ठीक साथ होने वाला' है, श्रुति के बाद होने वाला नहीं। तदनुसार श्रुति और स्वर में पहले-पीछे का क्रम नहीं होता बल्कि वे युगपत् यानी एक साथ व्यक्त होते हैं।

'अनुरणन' शब्द का अर्थ है 'रणन' के 'अनु' अर्थात् बाद होने वाला। 'रणन' और 'अनुरणन' को संस्कृत के काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में घंटे के उदाहरण के द्वारा और संगीत के शास्त्रग्रन्थों में तन्त्री की ध्वनि के द्वारा समझाया जाता रहा है। घंटे पर टकोर की या तार पर आघात की ध्वनि को 'रणन' और टकोर या आघात से उत्पन्न और देर तक सुनाई देने वाली ध्वनि को 'अनुरणन' कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि अभिनवगुप्त ने स्वर का लक्षण देते समय 'अभिघात' और 'अनुरणन' शब्दों का प्रयोग किया है—'श्रुतिस्थानाभिघात-प्रभवशब्दप्रभावितोऽनुरणनात्मा स्निग्धमधुर शब्द एव स्वर इति'।[७] शार्ङ्गदेव ने भी उसका अनुसरण करते हुए स्वर को 'अनुरणनात्मक' कहा है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि स्वर को अनुरणनात्मक तो कहा गया लेकिन श्रुति को रणनरूप नहीं। इसी प्रकार स्वर को 'श्रुति के बाद होने वाला'—यह भी शास्त्रकारों द्वारा नहीं कहा गया। रणन और उसके बाद होने वाले अनुरणन—इस क्रम को श्रुति और स्वर के साथ ठीक इसी रूप में संबद्ध करने का कार्य मुख्यतः शार्ङ्गदेव के टीकाकारों—सिंहभूपाल और कल्लिनाथ—ने किया है। और इस प्रकार श्रुति को रणनरूप तथा स्वर को रणन के बाद होने वाले अनुरणनरूप मानकर 'श्रुत्यनन्तर' का अर्थ 'श्रुति के बाद होने वाला' किया गया। यह विचारणीय है कि घंटे की टकोर और उसके अनुरणन में अन्तर स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है लेकिन तन्त्री पर आघात से उत्पन्न ध्वनि में श्रुति और स्वर के रूप में भिन्न ध्वनियाँ उत्पन्न नहीं होतीं और न कान से सुनी जाती हैं। सादृश्य आंशिक रूप में ही घटित होता है। जब रमणी के मुख

७. ना० शा०, अभि०, २८।२, पृ० ११, पं० १०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को चन्द्रमा कहा जाता है तो मुख को चन्द्र ही नहीं मान लिया जाता बल्कि उसकी कुछ विशेषताओं का उसमें सादृश्य ही समझा जाता है। इसी प्रकार रणन और अनुरणन तथा श्रुति और स्वर में उत्पत्ति-क्रम का सादृश्य नहीं है बल्कि जैसे रणन से ही अनुरणन होता है उसी प्रकार श्रुति से ही स्वर व्यक्त होते हैं, यह समझना चाहिए।

श्रुति और स्वर के बारे में यह चर्चा भी की जाती है कि श्रुति रंजक नहीं होती और स्वर रंजक होता है। वास्तव में इस सन्दर्भ में रंजक-अरंजक की चर्चा अनावश्यक है क्योंकि श्रुति प्रयोग की वस्तु नहीं है, शास्त्रीय संज्ञा है। किन्तु यदि इस पक्ष पर कुछ भी विचार करना हो तो यह सर्वप्रथम उल्लेखनीय है कि शास्त्रकारों ने श्रुति को रंजक अथवा अरंजक में से कुछ भी नहीं कहा जब कि स्वर के लक्षण में रंजकता को सभी ने अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है और श्रुति के द्वारा स्वर की अभिव्यक्ति मानी है। भारतीय दर्शन पर आधारित वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह सिद्ध है कि जो गुण या प्रभाव मूल अथवा बीज में न हो वह उसके द्वारा उत्पन्न या व्यक्त होने वाली वस्तु में नहीं हो सकता। जैसे बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता और बबूल का बीज बोने से आम का फल प्राप्त नहीं हो सकता। दूध में दही बनने का गुण अथवा क्षमता है इसीलिए इसमें ज़रा-सा दही डालने से वह दही बन जाता है और किसी अन्धेरे स्थान में पहले से घड़ा रखा हो तभी रोशनी करने पर वह प्रकाशित हो सकता है अन्यथा नहीं। इसलिए स्वर में भी रंजकता तभी आ सकती है जब उसके घटकों में भी रंजकता हो। इस दृष्टि से श्रुति में भी रंजकता माननी होगी। व्यावहारिक दृष्टि से भी यह उचित है जैसा कि अगले पैरा से स्पष्ट होगा।

श्रुतियों का प्रयोग या प्रत्यक्ष स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में सम्भव नहीं और न वे एक के बाद दूसरी के क्रम से प्रयुक्त होती हैं बल्कि स्वर के रूप में ही व्यक्त और अनुभूत होती हैं। सारणा-प्रक्रिया के फलस्वरूप जब २२ तारों पर भिन्न-भिन्न श्रुतियाँ स्थित होती हैं तब मूलतः स्वर के रूप में ही उन्हें सिद्ध करना पड़ता है और उस समय वे अत्यन्त रंजक होती हैं, अरंजक नहीं। अभिनवगुप्त के पूर्वोक्त स्वरलक्षण में 'आघात से उत्पन्न ध्वनि से प्रभावित' इस प्रयोग में भी यह संकेत है कि मूलध्वनि में भी स्निग्धता-मधुरता होनी चाहिए क्योंकि अगर श्रुति में वह न हो तो उससे प्रभावित स्वर में वह कैसे होगी? इसलिए श्रुत्यनन्तर, अभिघात, रणन, अनुरणन आदि शब्दों के आधार पर श्रुति को अनुरणनहीन और अरंजक मानना सिद्धान्त और प्रयोग—दोनों दृष्टियों से समीचीन नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भरत के 'श्रुतिनिदर्शन' यानी श्रुतियों के प्रत्यक्षीकरण के द्वारा श्रुतियों की परस्पर संवादिता और उनके भिन्न-भिन्न निश्चित नाप तो सिद्ध होते ही हैं, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतियाँ स्वरों के छोटे घटक हैं और वे सप्तक में स्वरों का स्थान निश्चित करती हैं।

ऊपरोक्त चर्चा के आधार पर श्रुति का लक्षण इस रूप में दिया जा सकता है—

"स्वर के अवयवरूप ऐसे छोटे घटक जो सुने जा सकें, जिन्हें संवाद के द्वारा सिद्ध किया जा सके, जिनके निश्चित नाप हों, जो सप्तक में स्वर का स्थान निश्चित करते हों और जो स्वर के रूप में अभिव्यक्त हो सकें श्रुति कहलाते हैं।"

अन्तर गान्धार, काकली निषाद और स्वयम्भू गान्धार

'अन्तर' संज्ञा को स्वर के साथ सम्बद्ध करते हुए भरत ने कहा।—

साधारणं नामान्तरस्वरता, कस्मात्, द्वयोरन्तरे भवति यत्तत्साधारणम्।[८]
अर्थात् साधारण का अर्थ अन्तरस्वरता है। क्यों? उत्तर है कि जो दो के अन्तर में होता है वह साधारण है। इसकी अभिनव ने इस प्रकार व्याख्या की :—

अन्तरे भवः आन्तरः स्वस्थानच्युतपरस्थानसंक्रान्तः।[९]
अर्थात् अन्तर में होने वाला, जो अपने मूलस्थान से हट कर दूसरे के स्थान में चला गया हो।

अपने मूलस्थान से चढ़ने की प्रक्रिया में स्वर अपनी श्रुतियाँ बनाए रखते हुए अगले स्वर की श्रुतियाँ भी ले लेता है इसलिए उसमें पूर्व और पर, दोनों स्वरों का प्रभाव रहता है। इसी को 'साधारणता' कहा जाता है। भरत ने इस स्थिति को निम्न उदाहरण के द्वारा समझाया—

छायासु भवति शीतः प्रस्वेदो भवति चातपस्थस्य च।
न च नागतो वसन्तः न च निःशेषः शिशिरकालः॥[१०]

अर्थात् जब छाया में सर्दी लगती है और धूप में पसीना आता है तो न तो यह कहा जा सकता है कि वसन्त नहीं आया और न यही कि शिशिर बीत गया। यह कालसाधारणता है। जब स्वरों में भी यही स्थिति हो तो 'स्वरसाधारण' कहलाता है।

---

८. वही, अ० २८, पृ० ३१।
९. वही, अभि०, पृ० ३१, पं० २४–२५।
१०. वही, २८–३४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

षड्जग्राम और मध्यमग्राम के मूल गान्धार-निषाद द्विश्रुतिक हैं यानी अपने-अपने पूर्ववर्ती स्वरों—ऋषभ धैवत—से दो-दो श्रुतियों की दूरी पर हैं। जब गांधार और निषाद अपने मूलस्थान से दो-दो श्रुति चढ़ जाते हैं तो वे 'अन्तर' स्वर कहलाते हैं क्योंकि वे क्रमशः मध्यम और निषाद की दो-दो श्रुतियाँ ले लेते हैं। इस प्रकार गान्धार और मध्यम के अन्तर में अन्तर गान्धार तथा निषाद और षड्ज के अन्तर में काकली निषाद स्थित होता है। उनकी स्थिति यह होती है—

गान्धार की पूर्व स्थिति	रि – ग – – – म
श्रुत्यंतर	२ ४
अन्तर गान्धार	रि – – – ग – म
श्रुत्यंतर	४ २
निषाद की पूर्वस्थिति	ध – नि – – – स
श्रुत्यंतर	२ ४
काकली निषाद	ध – – – नि – स
श्रुत्यंतर	४ २

उपर्युक्त स्थिति में गांधार और निषाद दोनों ही अन्तरस्वर हैं। लेकिन दो स्वरों के लिए एक ही संज्ञा का प्रयोग असुविधाजनक होने के कारण गान्धार को अन्तर गान्धार और निषाद को काकली निषाद कहा गया।

'अन्तर' संज्ञा की तरह 'काकली' संज्ञा भी सार्थक है। भरत के अनुसार 'कलत्वाच्च काकलीसंज्ञो भवति'[11] यानी 'कलत्व' होने के कारण 'काकली' संज्ञा होती है। अभिनवगुप्त ने कलत्व का अर्थ 'कलस्तीव्रभावः'[12] और 'तीव्रतरत्वात्-काकलीत्वम्'[13] दिया है। यानी तीव्रता का भाव कलत्व है और तीव्रतरता होने से काकली संज्ञावाला होता हैं। यों तो अन्तर गान्धार और काकली निषाद दोनों की स्थिति एक-सी होने के कारण दोनों में तीव्रता है इसलिए दोनों ही काकली स्वर हैं तथा दोनों ही दो स्वरों के अन्तर में होते हैं इसलिए अन्तर स्वर भी हैं। साथ ही दोनों में साधारणता का भाव भी है इसलिए साधारण स्वर भी हैं। लेकिन सामान्य रूप से साधारण संज्ञा दोनों के लिए तथा गांधार के साथ अंतर संज्ञा का और निषाद के साथ काकली संज्ञा का प्रयोग किया जाता

---

११. वही, पृ० ३२।

१२. वही, अभि०, पृ० ३५, पं० १२।

१३. वही, पृ० ३२, पं० २६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। श्रुति व्यवस्था की दृष्टि से अन्तर और काकली की स्थिति समान होते हुए भी निषाद को ही काकली कहा गया है क्योंकि किसी ध्वनि के भौतिक स्वरूप पर निर्भर होते हुए भी तीव्रता मानसप्रत्यक्ष यानी अनुभूति का विषय है। तीव्रता की अनुभूति दो श्रुति चढ़े निषाद में ही होती है, दो श्रुति चढ़े गान्धार में नहीं इसीलिए काकली संज्ञा का प्रयोग निषाद के लिए ही किया गया।

अन्तर गांधार को 'स्वयंभू' गांधार भी कहा जाता है क्योंकि किसी तंत्रीवाद्य के मन्द्र षड्ज के तार को छेड़ने पर स्वयं उत्पन्न होकर उपध्वनि के रूप में सुनाई देने वाली ध्वनि यही अन्तर गांधार है। लेकिन अन्तर गांधार के लिए 'स्वयंभू' विशेषण का प्रयोग भरत-परम्परा के संस्कृत के शास्त्रग्रन्थों में प्रायः नहीं किया गया है।

इस चर्चा के आधार पर अन्तरगान्धार और काकली निषाद की परिभाषा इस प्रकार होगी—

"'स्वरसाधारण' की प्रक्रिया से प्राप्त गान्धार का वह चतुःश्रुतिक रूप जो ग्राम के मूल द्विश्रुति गांधार के दो श्रुति चढ़ने से प्राप्त होता है तथा जो गांधार और मध्यम के 'अन्तर' में व्यक्त होता है अन्तर गांधार कहा जाता है।"

इसी प्रकार "'स्वरसाधारण' की प्रक्रिया से प्राप्त निषाद का चतुःश्रुतिक रूप जो ग्राम के मूल द्विश्रुति निषाद के दो श्रुति चढ़ने से प्राप्त होता है, जो निषाद और षड्ज के 'अन्तर' में व्यक्त होता है और जिसमें 'कलत्व' यानी 'तीव्रता' का भाव होता है वह काकली निषाद है।"

मूर्च्छना

विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा मूर्च्छना का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :—

भरत—एवमेताः स्वरक्रमयुक्ताः सम्पूर्णाः षाडवौडुवीकृताः स्वरसाधारण-
कृताश्चेति मूर्च्छनाश्चतुर्दश भवन्ति।[14]
क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनेति समाहिताः।[15]

मतंग—आरोहणावरोहणक्रमेण स्वरसप्तकम्॥
मूर्च्छनाशब्दवाच्यं हि विज्ञेयं तद्विचक्षणैः।[16]

---

१४. वही, अ० २८, पृ० २५।
१५. वही, २८।३२, अभिनव द्वारा दिया गया पाठ।
१६. बृह०, ९४-९५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शार्ङ्गदेव—क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
मूर्च्छनेत्युच्यते,....................... ।।[१७]

भरत ने क्रमयुक्त स्वरों अथवा सप्त स्वरों को मूर्च्छना कहा और मतंग तथा शार्ङ्गदेव ने उसे अधिक स्पष्ट करते हुए आरोह और अवरोहात्मक क्रम से युक्त ७ स्वरों को मूर्च्छना कहा। सिंहभूपाल ने यह स्पष्ट किया कि केवल क्रम को मूर्च्छना समझना चाहिए, क्रिया को नहीं। इस स्पष्टीकरण का आशय यह है कि प्रयोग यानी गान-वादन के लिए मूर्च्छना नहीं है बल्कि वह गान-वादन के लिए वीणा पर स्वरों की व्यवस्था मात्र देती है क्योंकि मूर्च्छना के स्वर ही वीणा पर स्थापित किये जाते हैं। मोटे रूप में, आज की भाषा में, मूर्च्छना केवल 'थाट' देती है।

क्रम का अर्थ है उलट-पुलट किए बिना यानी सप्तक में स्वर जिस मूलरूप में रहते हैं उसी रूप में रहें। जैसे, यदि क्रम को 'ग' से शुरू करें तो गमपधनिसरि—इसी प्रकार रहें। मूर्च्छना का प्रमुख लक्षण क्रमयुक्तता है जो ऊपर उद्धृत भरत के गद्य-अंश में बिलकुल स्पष्ट है। इसी आधार पर वहाँ सप्तस्वर क्रम को पूर्णा तथा ६ और ५ स्वर वाली क्रमयुक्त स्वरावलियों को षाडव और औडव मूर्च्छना के रूप में गिनाया है।

मूर्च्छना का प्रयोजन 'नाट्यशास्त्र' में तीन स्थानों (मन्द्र, मध्य, तार) की प्राप्ति कहा गया है। मत्तकोकिला जैसी २१ तारों वाली वीणा में क्रम से ७-७ तारों पर मूर्च्छना स्थापित करने से तीनों स्थानों की प्राप्ति हो जाती है।

भरत के अनुसार मूर्च्छनाएँ चार प्रकार की होती हैं—पूर्णा, षाडवीकृता, औडुवीकृता और साधारणकृता। इनमें से प्रथम तीन भेदों में क्रम से ७, ६ और ५ स्वर होते हैं तथा चौथे भेद में ग्राम के गान्धार के स्थान पर अन्तर गान्धार का अथवा निषाद के स्थान पर काकली का अथवा ग्राम के ग-नि के स्थान पर अन्तर और काकली का एक साथ प्रयोग होने से साधारणकृता मूर्च्छना के अन्तर्गत तीन सम्भावनाएँ होती हैं। इनमें पूर्णा आदि प्रथम तीन भेद स्वरों की संख्या पर और अन्तिम भेद यानी साधारणकृता मूर्च्छना स्वरों की साधारण (विकृत) अवस्था पर आधारित है। भरत ने इनमें से षाडवीकृता और औडुवीकृता को 'तान' भी कहा है।[१८]

शार्ङ्गदेव ने भरत के चार प्रकारों से भिन्न मूर्च्छनाभेद कहे हैं। उसके अनुसार शुद्ध, काकलीयुक्त, अन्तरयुक्त और अन्तरकाकलीयुक्त—ये चार भेद होते

१७. सं० र०, १।४।९।
१८. ना० शा०, २८।२७-२८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। उसने शुद्धा मूर्च्छनाओं के षाडव-औडव भेदों को तान कह कर मूर्च्छनाओं से अलग किया है।[१९] स्पष्ट है कि उसने सप्तस्वरता को मूर्च्छना का मूल लक्षण माना है इसलिए षाडव-औडव रूपों को मूर्च्छना के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उसके चार प्रकार स्वरों की शुद्ध-विकृत अवस्था पर ही आधारित हैं और सभी सात स्वरों से युक्त हैं। किन्तु भरत के मूर्च्छनाभेद पर अभिनवगुप्त की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि भरत ने क्रमयुक्तता को ही मुख्य लक्षण माना है। अभिनव के अनुसार 'अक्रम' होने पर मूर्च्छना नहीं होती।[२०] क्रमयुक्त होने के कारण ही ६ और ५ स्वर वाले भेदों को मूर्च्छना कहा गया है।

दत्तिल और मतंग ने भरतोक्त पूर्णा-आदि भेदों को भी स्वीकार किया है यद्यपि इन्होंने मूर्च्छना का लक्षण सप्तस्वरता दिया है और तान को मूर्च्छनाओं के षाडव-औडव भेद माना है।

भरत द्वारा मूर्च्छना-भेदों में पहले भेद को 'पूर्णा' और शार्ङ्गदेव द्वारा प्रथम भेद को 'शुद्धा' संज्ञा देना दोनों के दृष्टिभेद का सूचक है। षाडव-औडव प्रकारों के लिए पहला रूप पूर्ण होना चाहिए क्योंकि पूर्ण में से ही अपूर्ण प्रकार बन सकते हैं, अपूर्ण में से पूर्ण नहीं। किन्तु स्वरों के विकृत भेदों के आधार पर नये प्रकारों के निर्माण के लिए पहला रूप शुद्ध स्वरों से युक्त होना आवश्यक है।

मूर्च्छनाएँ दोनों ग्रामों में कही गई हैं इसलिए यह तो अन्वित ही है कि किसी विशेष ग्राम की मूर्च्छनाओं में उस ग्राम की मौलिक श्रुतिव्यवस्था का पालन होना अनिवार्य है। तदनुसार षड्जग्रामिक मूर्च्छनाओं के स रि ग म प ध नि में क्रमशः ४-३-२-४-४-३-२ वाली श्रुतिव्यवस्था का तथा मध्यमग्रामिक मूर्च्छनाओं के 'स' से शुरू होने वाले क्रमिक स्वरों में ४-३-२-४-३-४-२ वाली श्रुतिव्यवस्था का निर्वाह होता है। दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं में स्वरक्रम एक-सा होते हुए भी पंचम की ध्वनि में अन्तर सुनाई देने के कारण मूर्च्छनाएँ भिन्न होती हैं।

'मूर्च्छना' शब्द 'मोह' और 'समुच्छ्रय' (उभरना, चमकना, व्याप्त होना) अर्थ वाली 'मुर्छ' अथवा 'मूर्च्छ्' धातु से णिजन्त 'युच्' और स्त्री-प्रत्यय 'टाप्' लगा कर (मूर्च्छ् + णिच् + युच् + टाप्) बनता है। कल्लिनाथ के अनुसार धातु का मोह अर्थ मानने पर 'मूर्च्छना' का अर्थ यह होगा कि जिसके साधन बनने पर श्रोता मोहित होते हैं। व्याप्त होना अर्थ मानने पर अर्थ होगा—

१९. सं० र०, १।४।३, १६, २७।
२०. ना० शा०, २८।२७-२८ पर अभि०, पृ० २४, पं० १९-२०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिसके करण बनने पर राग व्याप्त होते हैं। मतंग ने केवल समुच्छ्रय का ग्रहण करके दूसरा अर्थ माना है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि मूर्च्छना के द्वारा सीधे राग ही व्याप्त होते हैं। श्रोताओं का मोहित होना एक सीढ़ी और चढ़ कर यानी रागों के द्वारा सम्भव होता है। फिर भी दोनों अर्थों का ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि रागों का व्याप्त होना और श्रोताओं का मोहित होना—दोनों का मूल साधन मूर्च्छना है।

इस चर्चा के आधार पर मूर्च्छना की यह परिभाषा हो सकती है—

"क्रमयुक्त स्वरों के आरोह-अवरोहात्मक ऐसे क्रम मूर्च्छना हैं जो मूलतः ७–७ स्वरों से युक्त हों, जो जाति-राग आदि के लिए ग्राम-विशेष की श्रुति-व्यवस्था के अनुसार प्रयोज्य स्वर दें, जिनके द्वारा तीन स्थानों की प्राप्ति हो, जिनके करण बनने पर श्रोताओं को सुख प्राप्त हो और जिनमें एक या दो स्वरों का लोप करके अथवा अन्तर काकली स्वरों का प्रयोग करके षाडव-औडव अथवा 'साधारण' प्रकार बनाए जा सकें।"

प्रबन्ध

'बँधना' अर्थ वाली 'बन्ध्' धातु से 'प्र' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय लगाकर (प्र + बन्ध् + घञ्) बनने वाले शब्द 'प्रबन्ध' का शब्दार्थ है 'प्रकृष्ट रूप से बँधा हुआ'। संगीतशास्त्र में निबद्ध, अनिबद्ध, प्रबन्ध संज्ञाओं का प्रयोग हुआ है जिनमें भी 'बन्ध्' धातु है। यहाँ ये शब्द पारिभाषिक बन कर विशेष अर्थों में तो अवश्य प्रयुक्त हुए हैं लेकिन धातु का मूल अर्थ 'बँधना' सभी में है।

'प्रबन्ध' संज्ञा का प्रयोग मतंग से लेकर सोमेश्वर, शार्ङ्गदेव, पार्श्वदेव, कुम्भा, दामोदर, अहोबल आदि सभी प्रमुख शास्त्रकारों ने किया है। शार्ङ्गदेव ने उसका लक्षण देते हुए कहा—

निबद्धमनिबद्धं तद् द्वेधा निगदितं बुधैः ॥
बद्धं धातुभिरङ्गैश्च निबद्धमभिधीयते ।
आलप्तिर्बन्धहीनत्वादनिबद्धमितीरिता ॥[२१]

यहाँ गान के दो भेद कहे—निबद्ध और अनिबद्ध। 'धातु' और 'अंगों' से बँधा हुआ 'निबद्ध' कहा गया और बन्धनहीन होने के कारण 'आलप्ति' को 'अनिबद्ध' कहा गया।

प्रबन्ध और निबद्ध पर्याय हैं और निबद्ध-अनिबद्ध में मुख्य भेद यही है कि निबद्ध बँधा हुआ है और अनिबद्ध बँधा हुआ नहीं है। अनिबद्ध यानी आलप्ति

२१. सं० र०, ४।४–५।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के स्वरूप को देखें तो यह समझ में आता है कि यों तो उसमें भी कुछ बन्धन तो है। जैसे, रागालप्ति में स्वस्थानों यानी स्वर प्रयोग की सीमा पर आधारित खण्डों का और रूपकालप्ति के भेद-प्रभेदों में गीत के शब्दों, ताल और शब्दों के मूल कालमान का। किन्तु आलप्ति में स्वर के विस्तार में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है क्योंकि वह पहले से बँधी हुई यानी पूर्वरचित नहीं है। यद्यपि निबद्ध और अनिबद्ध दोनों में ही राग का बन्धन है लेकिन निबद्ध में स्वर, ताल और पद पूरी तरह बँधे हुए हैं। निबद्ध अथवा प्रबन्ध 'धातु' यानी विभिन्न खण्डों में और 'अंग'[२२] यानी विभिन्न प्रकार के शब्दों से बँधी हुई यानी पूर्वरचित रचना है जिसके मूल रूप में परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

प्रबन्ध की चार धातुओं (उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग) में से कम से कम दो धातुओं और ६ अंगों (पद, पाट, तेन, विरुद, स्वर और ताल) में से दो अंगों का होना आवश्यक है। प्रबन्ध को गेय बनाने के लिये यद्यपि स्वर अनिवार्य है फिर भी अंगों में 'स्वर' नामक जो अंग है उसमें स्वर ध्वनियाँ नहीं बल्कि स्वरों के वाचक स, रि, ग आदि स्वराक्षर अभिप्रेत हैं जिनका प्रयोग प्रबन्ध की शब्द रचना के अन्तर्गत होने पर स्वर नामक अंग समझा जाता है। अनेक प्रबन्धों में विशेष छन्द और ताल का नियम कहा गया है और कुछ ऐसे भी हैं जो छन्द या ताल से रहित हैं।

प्रबन्ध को गाते समय उसके मूल स्वरों में यत्र-तत्र कुछ परिवर्तन कर लिए जाते हैं किन्तु 'यह वही प्रबन्ध है' यह बोध बना रहता है क्योंकि उसका मूल-रूप वही रहता है। इसी रूप में प्रबन्ध अपरिवर्तनीय होता है।

भारतीय संगीत मूलतः कण्ठ पर आधारित रहा है इसलिए गीत, गीतक, ध्रुवा, प्रबन्ध आदि विभिन्न प्रकार की निबद्ध रचनाओं में शब्द को विशेष महत्त्व दिया गया और मुख्य रूप से गायन के लिए ही विभिन्न प्रकार के प्रबन्धों का निरूपण हुआ। प्रबन्ध शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ के अनुसार तो विशेष तत्त्वों से बँधी हुई किसी भी रचना को प्रबन्ध कहा जा सकता है फिर वह चाहे केवल स्वरबद्ध हो, केवल तालबद्ध हो, केवल सार्थक अथवा निरर्थक शब्दों से बद्ध हो, केवल वाद्याक्षरों से बद्ध हो अथवा केवल नृत्य के बोलों से बद्ध हो। लेकिन कोई शब्द विशेष सन्दर्भों, शास्त्रों, कलाओं या ज्ञान की शाखाओं में प्रयुक्त होकर भिन्न-भिन्न अर्थों का सूचक बनता है और इसीलिए वह पारिभाषिक कहा

---

२२. 'धातु' और 'अंग' के लिए देखें "ध्रुवपद का उद्भव, विकास और वर्तमान रूप।"

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाता है। प्रबन्ध शब्द भी संगीतशास्त्र में गेय रचना के सन्दर्भ में पारिभाषिक है। इसलिए इसकी निम्न परिभाषा दी जा सकती है—

"कम से कम दो धातुओं (खण्डों) और दो अंगों (विशेष प्रकार के शब्दों) से बँधी हुई ऐसी पूर्वरचित रचना जो अनिवार्य रूप से स्वरबद्ध और विशेष कालमान से युक्त हो, जो गेय हो, जो सामान्यतः ताल से भी बद्ध हो तथा निबद्ध रचना के रूप में जिसके मूल स्वरूप में परिवर्तन न किया जाय 'प्रबन्ध' कहलाती है।"

वस्तु, रूपक

'रहना' अर्थ वाली 'वस्' धातु से 'तुन्' (वस्+तुन्) प्रत्यय लगाकर 'वस्तु' शब्द बनता है जिसका अर्थ है पदार्थ, चीज़ या 'जिसमें कुछ रहे।'

'रूप के दर्शन' या 'करण' अर्थ वाली 'रूप' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय लगा कर (रूप+ण्वुल्) बनने वाले 'रूपक' शब्द का अर्थ है 'रूप अथवा आकृति देने वाला।' 'रूपयतीति रूपकं' के अनुसार भी यही अर्थ होता है। आकृति, अलंकार विशेष, नाट्य के भेद आदि सन्दर्भों में अन्यत्र होने वाले प्रयोगों के अलावा संगीत में प्रबन्ध के प्रकार, आलाप के प्रकार इत्यादि के लिए भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है किन्तु शब्द के मूल अर्थ के अनुसार यहाँ विशेष आकृति अभिप्रेत है।

प्रबन्ध, वस्तु और रूपक—इन तीन संज्ञाओं का एक साथ प्रयोग प्रबन्ध या निबद्ध के सन्दर्भ में किया गया है। यहाँ हम इसी सन्दर्भ में वस्तु और रूपक पर विचार करेंगे।

'संगीतरत्नाकर' में इन तीनों को निबद्ध के पर्याय के रूप में ही प्रयुक्त किया गया है :—

संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबन्धो वस्तु रूपकम्।[२३]

इसके लगभग समकालीन ग्रन्थ पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार' में भी इन तीनों को पर्याय के रूप में ग्रहण करके इनमें कोई तात्त्विक अन्तर न करते हुए इन संज्ञाओं की अन्वर्थता बताई गई है। वहाँ कहा गया है कि चार धातुओं और छह अंगों से बँधा होने के कारण प्रबन्ध कहलाता है। रागादि के आरोपण अर्थात् रागरूप को स्थापित कर देने (जमा देने) में कारण होने से 'रूपक' कहा जाता है और उद्ग्राह आदि चार धातुएँ और स्वर आदि छह अंग इसमें 'वास' करते (रहते)

२३. सं० र०, ४।६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं इसलिए 'वस्तु' संज्ञा होती है।[२४] 'वसन्ति अस्मिन् इति वस्तु'—इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी इसमें धातु और अंग वास करते या रहते हैं इसलिए वस्तु संज्ञा सार्थक है।

'संगीतराज' में वस्तु के साथ 'कानिचित्' विशेषण लगा कर यह अन्तर किया गया है कि जब कोई-कोई धातु और अंग रहें यानी सभी न रहें तो उसे वस्तु कहा जाता है और जब सभी अंग और धातु हों तो प्रबन्ध। किन्तु यह अन्तर किसी भी पूर्ववर्ती शास्त्रकार ने प्रायः नहीं किया है।

'संगीतनारायण' में पूरे अंगों और धातुओं से युक्त होने पर 'प्रबन्ध', ३ धातु और ५ अंगों से बँधा होने पर 'वस्तु' और २ धातु तथा २ अंगों से 'रूपक' कहा गया है।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि मूलतः वस्तु और रूपक प्रबन्ध की ही पर्यायवाची संज्ञाएँ अथवा प्रकार हैं। इसलिए प्रबन्ध से भिन्न इनकी किसी विशेष परिभाषा की आवश्यकता नहीं है।

---

२४. सं० स० सा०, ५।३-४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तन्त्रीवाद्यों की वादनशैली सम्बन्धी कुछ शास्त्रोक्त पारिभाषिक शब्द

संगीत की क्रिया और सिद्धान्त परम्परा के रूप में भारत में उस काल से अत्यन्त विकसित संगीत पद्धति रही है जब विश्व के दूसरे देश संगीत के क्षेत्र में विकास की दिशा में काफ़ी पीछे थे। संगीत सम्बन्धी सभी मूल सिद्धान्तों का निरूपण लक्ष्य यानी क्रियागत स्वरूप के आधार पर किया गया इसलिए लक्ष्य और लक्षण यानी क्रिया और सिद्धान्त अभिन्न रूप से जुड़े रहे।

संगीत के मूल तत्त्व ध्वनि से आरम्भ करके ध्वनि को वायु-आत्मक कह कर उसके दो भेद किए गए—अभिधानवान् और स्वरवान्। इनमें से पहले में सार्थक शब्द है इसलिए भाषा के आश्रित है तथा दूसरी केवल स्वररूप ध्वनि है इसलिए कण्ठ और विभिन्न वाद्यों के आश्रित है। मनुष्य कण्ठ और वाद्य—दोनों में स्वर उत्पन्न होता है इसलिये दोनों को 'वीणा' कहा गया और कण्ठ को 'शारीरी' वीणा और वाद्य को 'दारवी' वीणा नाम दिए गए। यों वीणा सभी तन्त्री यानी तत वर्ग के वाद्यों का पर्याय-शब्द था।

सप्तस्वरों की उत्पत्ति पहले मनुष्य कण्ठ में हुई। वहाँ से वीणा और वेणु में, फिर अवनद्ध में और इनसे घन में। गीत के शब्दों का ही अनुकरण स्वर अथवा प्रहारों के द्वारा वाद्यों में होता है इसलिए कण्ठ को ही आदर्श तथा मापदण्ड माना गया। रचना और शैली का निर्माण मूलतः गायन के लिए हुआ और इन्हीं का प्रयोग वाद्यों में भी हुआ। इसीलिए भारतीय संगीत के आद्य आचार्य भरत कहते हैं—यं यं गाता स्वरं गच्छेत् तमातोद्यैः प्रयोजयेत्।[1] अर्थात् गायक जिन-जिन स्वरों का प्रयोग करे उन्हीं का वाद्यों के द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए।

भरत ने वाद्यों के लिए 'आतोद्य' संज्ञा का प्रयोग करते हुए वाद्यों के चार वर्ग कहे :—

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।
चतुर्विधं तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्॥[2]

---

१. ना० शा०, ३०।१०; ३४।३४
२. वही, २८।१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चतुर्विध वाद्यों के तीन प्रयोजन माने गए—गीत की उत्पत्ति, उपरंजन और मान। तत और सुषिर के द्वारा गीत की उत्पत्ति, अवनद्ध के द्वारा उपरंजन और घन के द्वारा मान यानी माप होता था। अवनद्ध के लिए 'वितत' संज्ञा का प्रयोग भी बहुत प्राचीन समय से होता रहा है, यह उल्लेखनीय है। पहली-दूसरी सदी ईसा पूर्व के जैन ग्रन्थों में और बाद के संगीत सम्बन्धी ग्रन्थों में भी अवनद्ध वाद्यों को 'वितत' कहा गया है।

वाद्यप्रयोग को नाट्य की शय्या कहा गया है और वाद्यों तथा गीत के अवधानपूर्वक किए गए सम्यक् प्रयोग पर नाट्य की सफलता निर्भर मानी गई। चतुर्विध वाद्यों में प्रमुखता ततवाद्यों को दी गई और शास्त्र की स्थापना में भी इसी का आधार लिया गया। इसके अनेक कारण दिए गए हैं। तन्त्रीवाद्य में कण्ठ की तरह कठोरता या कर्कशता नहीं होती, वह सदा मधुर ही होता है। तार ठीक से कसा या खिचा हो तो स्वर में कमी-बेशी नहीं होती और अशिक्षित व्यक्ति द्वारा बजाए जाने पर भी स्वरप्राप्ति होती है। किसी स्वर विशेष को या अनेक स्वरों को ठीक उसी रूप में बार-बार बजा कर परस्पर तुलना की जा सकती है। स्वरों का जैसा स्पष्ट बोध तन्त्री में होता है वैसा कण्ठ में नहीं। तन्त्री वाद्यों के साथ अभ्यास करने से कण्ठ में अधिक मधुरता आती है।

तन्त्रीवाद्यों के शास्त्रोक्त पारिभाषिक शब्दों की चर्चा के आरम्भ में संगीत-शास्त्र में प्रयुक्त 'वाद्य' शब्द पर कुछ कहना आवश्यक है। इसका प्रयोग मुख्य रूप से तीन अर्थों में किया गया है—१. वादनक्रिया जिन पर की जाती है, जैसे—एकतन्त्री, किन्नरी, मृदंग आदि। २. हाथ की क्रियाएँ जो वाद्यों पर की जाती हैं, जैसे—'हस्तव्यापार' और उनके संयोग से बनने वाले 'वाद्य' प्रकार। ३. विभिन्न वाद्यों पर हस्तक्रियाओं के द्वारा जो कुछ बजाया जाता है यानी जो कथ्य (content) होता है। इसमें, आज की भाषा में, बन्दिश के प्रकार, 'उपज' या रागविस्तार के प्रकार, शैली आदि आ जाते हैं और इसे 'बाज' कहा जा सकता है। 'वाद्य' शब्द के ये तीनों अर्थ एक-दूसरे से अभिन्न हैं। इनमें से पहले अर्थ से तो सभी परिचित हैं लेकिन शेष दो अर्थों में 'वाद्य' संगीतशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। आगे जिन शब्दों पर प्रकाश डाला जा रहा है उनमें वाद्य भी है। वहाँ इस शब्द पर दूसरे अर्थ में चर्चा होगी। सुविधा की दृष्टि से तीसरे अर्थ के लिए प्रस्तुत लेख में आज प्रचलित 'बाज' शब्द का प्रयोग हुआ है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पारिभाषिक शब्द

ततवाद्यों की वादन शैली से सम्बन्धित मुख्य शब्द ये हैं—वीणा, कम्रा, सारणा, जीवा, पीडन-निपीडन-संपीडन, हस्तव्यापार, वाद्य, धातु, जाति, गीतानुगवाद्य, वृत्ति, कुतप, करण और निर्गीत। यहाँ इनके मूल अर्थ और भेद की तथा आज की वादन शैली में इनके स्वरूप को भी कुछ चर्चा करेंगे।

वीणा

पहले कहा जा चुका है कि वीणा शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से पूरे तन्त्री वाद्य-वर्ग के लिए किया गया है। इस दृष्टि से वीणा दो प्रकार की कही गई हैं—श्रुति वीणा और स्वर वीणा। इनमें से पहली केवल २२ श्रुतियों के प्रत्यक्षीकरण के लिए हैं। दूसरी में स्वर के विस्तार के लिए क्षेत्र होता है इसलिए इसी वर्ग की वीणाएँ 'वादन' के योग्य होती हैं तथा वादनशैली का सम्बन्ध भी इन्हीं के साथ है। तत वाद्यों की कितनी समृद्ध परम्परा भारत में थी यह इससे ही स्पष्ट है कि लगभग ५० प्रकार की वीणाओं का उल्लेख भरत, अभिनव, नान्यदेव, शार्ङ्गदेव आदि ने किया है। कुछ नाम इस प्रकार हैं—चित्रा, विपंची, कच्छपी, घोषा, वक्रा, कूर्मा, अलाबू, वल्लकी, मत्तकोकिला, ऐन्द्री, सरस्वती, संवादिनी, किन्नरी, परिवादिनी, नकुल, एकतन्त्री, त्रितंत्री, पिनाकी, कुब्जिका, ज्येष्ठा, जया, हस्तिका, औदुम्बरी, शततंत्री, रावणहस्तक, सारंगी, आलपनी आदि। इनमें उँगली, कोण, गज़, लकड़ी की छोटी-बड़ी डंडियों से अथवा अन्य किसी वस्तु से बजने वाली अनेक प्रकार की वीणाएँ हैं।

इनमें से मुख्यवीणाएँ 'अंगवीणा' और उनका 'उपरंजन' करने वाली यानी उन्हें अधिक रंजक या समृद्ध बनाने के लिए साथ में बजने वाली 'प्रत्यंग' वीणा कहलाती हैं। अंगवीणा वे हैं जिनमें सातों स्वर और तीनों स्थान होने से वादन के लिए बड़ा क्षेत्र होता है। जैसे, २१ तार वाली मत्तकोकिला, एक मुख्य तार वाली एकतन्त्री आदि। सीमित क्षेत्र वाली वीणाएँ मुख्यवीणा की सहायक होती हैं इसलिए प्रत्यंग कही गई। जैसे—स्वरमण्डल वर्ग की क्रमशः ७ और ९ तार वाली चित्रा और विपंची जिनमें एक ही स्थान के ७ शुद्ध अथवा दो विकृत मिला कर ९ ही स्वर उत्पन्न किये जा सकते हैं।

कम्रा

तिरछा धारण करने वाले सभी तन्त्रीवाद्यों की मूल या जननी एकतन्त्री नामक वीणा में तथा अन्य ततवाद्यों में भी बायें हाथ में 'वेणुदण्ड' यानी बाँस की डण्डी या कोई अन्य वस्तु लेकर उसके द्वारा बजाया जाता था। इसे 'कम्रा'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

या 'क्रमिका' कहा गया है। तिरछा यानी बायें कन्धे से ज़मीन की दिशा में रखे जाने वाले सभी भारतीय तन्त्री वाद्यों में आज स्वरोत्पादन प्रायः बायें हाथ की उँगलियों से ही किया जाता है। ग्रन्थोक्त अनेक वाद्यों में बायें हाथ के अलावा तुम्ब यानी धातु या काच के बट्टे, लकड़ी की डण्डी, कोण (चमड़े की पेशी) आदि के द्वारा बायें हाथ से वादन क्रिया की जाती है। ये माध्यम भी कम्रा कहलाते हैं। इनके अलावा दाहिने हाथ से जिस माध्यम के द्वारा तार पर आघात या घर्षण किया जाता है वह भी कम्रा कहलाता है, जैसे—धनुष यानी गज़। आज के जवा-मिजराब आदि को भी इसमें सम्मिलित किया जा सकता है।

सारणा

'सारणा' शब्द का मूल अर्थ सरकाने की क्रिया है। तंत्रीवाद्यों में बायें हाथ की कम्रा को ऊपर-नीचे (अथवा आगे-पीछे) ले जाते हुए की जाने वाली वादनक्रिया 'सारणा' है जिसके कुछ प्रकार ये हैं—कम्रा को तार पर रखकर तुरन्त हटाकर उस स्थान से दूर किसी स्थान पर फिर से रखकर बार-बार ऊपर नीचे सारणा करना, तंत्री को छूकर उठा लेना, दोनों क्रियाओं को एक-साथ करना, स्वरस्थान पर कम्पित करना। कम्रा और उसकी क्रिया दोनों को भी सारणा कहा गया है।

संगीतशास्त्र में स्वरों की श्रुतियों को सिद्ध करने की विधि में भी 'सारणा' शब्द प्रयुक्त होता है। वहाँ भी स्वरों को आगे-पीछे सरकाना या ले जाना सारणा का अभिप्रेत अर्थ है।

जीवा

तंत्री और पत्रिका (घुड़च पर रखी हुई लोहे की पट्टी) के बीच लगाई जाने वाली बाँस की छाल की धागेनुमा बारीक डोरी 'जीवा' है जो नाद की 'सिद्धि' (अर्थात् खुलापन लाने) के लिए लगाई जाती है। आज तम्बूरे की जवारी भी इसी तरह रेशमी, सूती या नायलॉन का धागा लगाकर खोली जाती है। जवारी का मूल 'जीवा' में है जो वाद्य-निर्माण से संबंधित पारिभाषिक शब्द है। जीवा यानी जवारीदार वाद्य को, जिसमें स्थूल (खुली) ध्वनि उत्पन्न होती है 'सकल-वाद्य' कहा गया है।

निपीडन-पीडन-संपीडन, हनन-आघात

बायें हाथ से तार को दबाने और दाहिने हाथ से छेड़ने की क्रियाओं के संदर्भ में कुछ अन्य शब्दों का प्रयोग भी जान लेना ज़रूरी है। बायें हाथ से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दबाने के लिये 'निपीडन', 'पीडन' या 'संपीडन' और दाहिने हाथ से तार को छेड़ने के लिए 'हनन' और 'आघात' कहा गया है। हनन बाएँ हाथ से भी किया जा सकता है लेकिन निपीडन दाहिने हाथ से नहीं। एकतंत्री जैसे वाद्यों में स्वर उत्पन्न करने की क्रिया बायें हाथ से ही होती है और कम्रा आदि के द्वारा तार को भिन्न-भिन्न स्थानों पर दबाकर या आघात करके ही ऐसा किया जा सकता है। दाहिने हाथ के द्वारा केवल तार पर आघात किया जाता है जो ध्वनि उत्पन्न करने के लिये ज़रूरी है। निपीडन और हनन में यही अर्थभेद अभिप्रेत है।

हस्तव्यापार

किसी भी वाद्य को बजाने का प्रमुख माध्यम हाथ ही होता है। भारतीय तंत्रीवाद्यों में हाथ के अलग-अलग हिस्सों से और विभिन्न उँगलियों के द्वारा आघात करके विविधता उत्पन्न करने की बड़ी अनूठी और अत्यन्त विकसित पद्धति रही है। हाथों द्वारा की जाने वाली क्रिया 'हस्तव्यापार' कहलाती है। इसके अनेक प्रकार थे जिनमें से दाहिने हाथ के ९, बाएँ के २ और दोनों के सम्मिलित १३ व्यापारों के नाम और हरेक का लक्षण-निरूपण ग्रन्थों में हुआ है। लक्षण देते समय यह बताया गया है कि किस हाथ की किस या किन उँगलियों से अथवा हाथ के किस भाग से क्या क्रिया की जाती है। उदाहरण के लिए, दाहिने हाथ के व्यापारों में केवल तर्जनी, केवल मध्यमा, दोनों से एक साथ, बाहर या भीतर आघात, क्रमशः चारों उँगलियों से द्रुत गति से भीतर आघात या इसी प्रकार नखों से आघात 'पार्श्वतंत्री' पर तर्जनी और अनामिका से आघात आदि प्रकार हैं। वर्तमान वादन में दाहिने हाथ के सीधे-उल्टे आघात (दा और रा) और 'चिकारी' के तार पर होने वाले आघात दाहिने हाथ के इन व्यापारों में हैं। 'उभयहस्तव्यापार' यानी दोनों हाथों की सम्मिलित क्रियाओं की विविधता आश्चर्य में डालने वाली है। आज भारत के प्रायः किसी भी वाद्य की वादनशैली में इस प्रकार की क्रियाओं की परम्परा लुप्त हो चुकी है। उदाहरण के लिए, अँगूठों को टिकाकर दोनों हाथों की चारों उँगलियों के नखों से क्रम से यानी एक के बाद एक द्रुत गति से बाहर की ओर आघात करना, दाहिने हाथ की अनामिका से भीतर की ओर आघात और बायें हाथ की मध्यमा से बाहर आघात। हथेली और अँगूठों के साथ विभिन्न उँगलियों के अनेक प्रकार के आघातों का वर्णन भी किया गया है। वर्तमान वादन में इनमें से बहुत कुछ हमने खो दिया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाद्य

हस्तव्यापारों के योग से बनने वाले विशेष प्रकारों को 'वाद्य' कहा गया है। दो या अधिक हस्तव्यापारों के सम्मिलित प्रयोग से वाद्य के अनेक भेद हो सकते हैं। शार्ङ्गदेव ने १० प्रकारों का निरूपण किया है। इनमें बायें हाथ की क्रियाओं की प्रधानता अथवा बाहुल्य यह सूचित करता है कि तत्कालीन वादन में दाहिने हाथ (यानी बोलों) के काम की अपेक्षा बाएँ हाथ (यानी स्वर) के काम की प्रधानता थी। यद्यपि दाहिने हाथ की क्रिया ध्वनि उत्पादन के लिए तो अनिवार्य है लेकिन वह स्वर के विस्तार या वैचित्र्य का साधन है, साध्य नहीं।

महाराणा कुंभा ने इनसे कुछ भिन्न १० प्रकारों का निरूपण किया है जिनका हाथ की क्रिया की अपेक्षा वादन के गुणधर्म या प्रभाव से अधिक सम्बन्ध है और उपमाओं के द्वारा इन्हें समझाया गया है। जैसे—कमलपत्र पर वर्षा की बूंदें गिरने से होने वाली ध्वनि जैसा, बादल की गम्भीर ध्वनि जैसा, झिल्ली की ध्वनि जैसा कर्ण स्फोटक आदि।

हस्तव्यापारों के आधार पर 'वाद्य' निरूपण वादन की तकनीक से संबंधित है और इसमें 'बाएँ हाथ के बाज' और 'दाहिने हाथ के बाज' का मूल है जो शार्ङ्गदेव का प्रकार है। किन्तु बाज से जो प्रभाव उत्पन्न होता है उसे आधार बनाया है कुंभा ने।

हस्तव्यापार हाथों की क्रियामात्र हैं किन्तु 'वाद्य' उन व्यापारों के संयोग से बनने वाले ऐसे प्रकार हैं जिनसे शैली या बाज का स्वरूप निर्मित होता है। हस्तव्यापार अभ्यास में विशेष उपयोगी होने के साथ-साथ गीत या वाद्य को निष्पन्न करने में सहायक होते हैं।

आज 'दा' और 'रा' के रूप में सीधा और उल्टा—दो ही प्रकार का आघात दाहिने हाथ से किया जाता है, यद्यपि मिजराब आदि से आघात करके कभी आवाज़ बन्द करना, कभी नोक से इस तरह आघात करना जिससे केवल एक ही तार से ध्वनि उत्पन्न हो—इस प्रकार दाहिने हाथ की क्रियाओं में भी कुछ विविधता उत्पन्न की जाती है फिर भी इनसे बाज नहीं बनता। दोनों हाथों की सम्मिलित क्रियाओं के द्वारा स्वरों का जिस प्रकार का काम होता है वही बाज है; जैसे—बायें हाथ का (आलाप प्रधान) बाज अथवा दाहिने हाथ का (बोल प्रधान) बाज।

'वाद्य' चार प्रकार का हो सकता है—१. गीतानुग—गीत का अनुगत होकर यानी गायन के साथ, २. नृत्तानुग—नृत्त के अनुगत होकर यानी नृत्त के साथ,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. द्वयानुग—दोनों (गीत और नृत्त) के अनुगत होकर यानी गीत और नृत्त के सम्मिलित प्रयोग के साथ, और ४. शुष्क—गीत-नृत्त से निरपेक्ष यानी स्वतन्त्र वादन। शुष्क के लिए 'गोष्ठी', 'निर्गीत', 'बहिर्गीत' संज्ञाएँ भी हैं।

धातु

व्याकरण के अनुसार 'धा' धातु से 'धातु' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'धारण करने वाली।' प्रहार से ही ध्वनि उत्पन्न होने के कारण प्रहार ही वादनशैली को धारण करते हैं। इसलिए विशेष प्रकार के प्रहारों से उत्पन्न ऐसे स्वरों को 'धातु' कहा गया है जो वीणावादन के स्वरूप को धारण करते हैं, उसे पुष्ट करते हैं और वादन में रक्ति लाते हैं।

मुख्य रूप से धातु चार प्रकार की हैं—विस्तार, करण, आविद्ध और व्यञ्जन। विस्तार के कुल १४ भेद हैं जो २-२ या ३-३ प्रहारों के ऐसे समूह हैं जिनकी रचना मन्द्र-मध्य अथवा मध्य-तार स्वरों के आधार पर होती है। करण के ५ प्रकार लघु-गुरु प्रहारों के मिश्रण से बने हैं जिनमें लघु प्रहार ज्यादा और अन्त में एक गुरु प्रहार है। आविद्ध के ५ भेदों में गुरु प्रहार अधिक और लघु कम हैं अथवा केवल लघु हैं। व्यंजन के १० प्रकार केवल अँगुलिभेद पर आधारित हैं। दोनों हाथों की उँगलियों और अँगूठों की जो विभिन्न क्रियाएँ व्यंजन के भेदों में बताई गई हैं उनमें से अनेक प्रकार आज के बाज में बिल्कुल दिखाई नहीं देते। जैसे—'कल' जिसमें दो भिन्न तारों पर एक साथ दोनों अँगूठों से प्रहार के द्वारा भिन्न स्थानों (मन्द्र, मध्य आदि) में एक ही स्वर उत्पन्न किया जाता है। 'अवमृष्ट' में दोनों अँगूठों और दाहिनी कनिष्ठा से तीन भिन्न तारों पर प्रहार करके एक ही स्वर मन्द्र, मध्य, तार—तीनों स्थानों में उत्पन्न होता है।

विस्तार, करण और आविद्ध में स्थानभेद, प्रहारों की संख्या और लघु-गुरु प्रहार ही आधार होने के कारण इनमें 'तैयारी' की बहुत गुंजाइश है। व्यंजन धातु में दोनों हाथों की ऐसी क्रियाएँ हैं जो बाज में मिठास या सुकुमारता लाती हैं जैसा कि आगे 'जाति' के अन्तर्गत 'ललिता' नामक भेद से स्पष्ट होगा।

भरत द्वारा कही गई धातुओं का सम्बन्ध मुख्यतः मत्तकोकिला आदि से यानी वर्तमान स्वरमंडल जैसे वाद्यों से है जिन्हें दोनों हाथों से बजाया जाता था। धातुओं की विविधता इस प्रकार के वाद्यों की शैली की समृद्धता का प्रमाण है। आज इस प्रकार के वाद्यों में ऐसी विविधता नहीं है। किन्तु इनका;

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशेष रूप से व्यंजन धातु का, प्रयोग इनकी शैली को अधिक समृद्ध कर सकता है।

जाति

धातुओं में से जिस वर्ग की धातुओं का प्रयोग ज़्यादा हो, उसके आधार पर जातियाँ कही गई हैं और वे धातुओं से निर्मित बाज के प्रभाव को सूचित करती हैं। विस्तार धातु में स्वर की प्रधानना से उदात्तता आने के कारण 'उदात्ता' जाति बताई गई है। व्यंजन धातु में प्रयोग की सुकुमारता से लालित्य के कारण 'ललिता' जाति होती है। आविद्ध में गुरु अधिक, लघु अल्प वाले प्रयोग में चातुर्य के कारण 'रिभिता' कही गई है और करण धातु में लघु प्रहारों के प्रयोग से घनता (निकटता) आने के कारण 'घना' जाति कही गई है।

गीतानुग वाद्य

गीत के साथ वाद्य के योग यानी सम्बन्ध को 'गीतानुग वाद्य' कहा गया है। यह तीन प्रकार का होता है—तत्त्व, अनुगत और ओघ। गीत के लय, ताल, वर्ण, पद, यति, गीति आदि के अनुसार गीत के साथ होने वाला वाद्य 'तत्त्व' है अर्थात् जैसा गाया जाय ठीक वैसा ही (साथ-साथ) बजाया जाय। 'अनुगत' में वाद्य गीत के पीछे-पीछे चलते हुए उसका अनुकरण तो करता है लेकिन बीच-बीच में कुछ भिन्नता भी हो सकती है। गीत के शब्द की उपेक्षा करते हुए द्रुतलय में लघु गुरु आघातों के द्वारा वादन करना 'ओघ' है।

गीतानुग वाद्य का सम्बन्ध गीत और वाद्य के संयुक्त प्रयोग से है किन्तु स्वतन्त्र वादन का मूल भी गायकी में ही होता है इसलिये तंत्री वाद्यों का स्वतन्त्र वादन भी किसी न किसी रूप में गीत यानी गायन से जुड़ा कहा जा सकता है। इस दृष्टि से गीतानुग वाद्य का कुछ रूप वर्तमान स्वतन्त्र वादन में भी देखा जा सकता है। आज के 'गायकी अंग' में तत्त्व और अनुगत का दर्शन किया जा सकता है क्योंकि गायकी अंग के वादन में या तो ठीक गायकी का वादन हाता है, जैसे—वायलिन में, अथवा उसका अनुकरण होता है, जैसे—सितार, सरोद में। 'बाज अंग' को ओघ के समकक्ष समझा जा सकता है क्योंकि उसमें गायकी का सीधा अनुकरण न होकर स्वतन्त्र शैली में वादन होता है।

वृत्ति

गीत और वाद्य के सम्मिलित प्रयोग से ही सम्बन्धित एक अन्य शब्द है 'वृत्ति' जिसके द्वारा सम्मिलित प्रयोग में गीत की प्रधानता या वाद्य की प्रधानता अथवा दोनों की समान स्थिति सूचित की जाती है। वृत्ति तीन प्रकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की होती है। वाद्य के प्रधान होने पर 'चित्रा' वृत्ति, गीत प्रधान होने पर 'दक्षिणा' वृत्ति और दोनों समान होने पर 'वृत्ति' नामक वृत्ति होती है। प्रधानता का अर्थ उत्कर्ष है इसलिए आशय यह है कि गीत और वाद्य के सम्मिलित प्रयोग में वाद्य का उत्कर्ष ज्यादा हो तो चित्रा, गीत का उत्कर्ष अधिक हो तो दक्षिणा और दोनों का समान उत्कर्ष होने पर वृत्ति नामक वृत्ति होती है।

आज की वादन शैली में इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है। जब गायक के साथ 'संगत' करते समय वादक उसके साथ-साथ या पीछे-पीछे बजाता है तो उस समय गायन की प्रधानता यानी उत्कर्ष होता है इसलिये दक्षिणा वृत्ति कही जा सकती है। यदि उस समय वादन प्रधान हो जाय यानी वादन का उत्कर्ष अधिक हो जाय तो चित्रा वृत्ति होगी। यद्यपि आज गायक-वादक के बीच इस प्रकार का प्रयोग दिखाई नहीं देता क्योंकि जब वादक बजाता है तो गायक चुप रहता है। द्रुत लय में या 'लड़न्त-भिड़न्त' में वाद्य और गीत दोनों का समान उत्कर्ष होता है तब वृत्ति नामक वृत्ति कही जा सकती है।

कुतप

तंत्रीवादन गीत और नृत्य के साथ अथवा मुख्य (अंग) और सहायक (प्रत्यंग) वाद्यों के सम्मिलित रूप में ही नहीं बल्कि समूह में भी होता था। इसे 'कुतप' कहा गया।

कुतप शब्द ऐसे प्रयोग का सूचक था जो नाट्य-प्रयोग को उज्ज्वल बनाता था और उसकी रक्षा करता था। स्पष्ट है कि कुतप के प्रयोग की परम्परा मूलतः नाटक से जुड़ी थी। तीन प्रकार के कुतपों (तत, अवनद्ध और नाट्य कुतप) में से एक 'तत कुतप' था। चतुर्विध वाद्यों में से इसमें तत वाद्यों की प्रधानता थी क्योंकि वहाँ स्वर का उत्कर्ष अभिप्रेत होता था, यद्यपि इसमें अवनद्ध और घन वाद्यों के वादक तथा गायक-गायिका भी होते थे। नाट्य के 'पूर्वरंग'[3] में 'सामाजिकों' (श्रोता-दर्शकों) के चित्त की एकाग्रता और अभिनय का उपरंजन करने अर्थात् उनके द्वारा होने वाली अनुभूति को अधिक तीव्र करने के लिए कुतप का प्रयोग होता था।

---

३. नाट्य की मूल कथा शुरू होने से पहले गीत, वाद्य, नृत्त और अभिनय से युक्त एक विशिष्ट प्रकार का प्रयोग किया जाता था जिसे 'पूर्वरंग' कहा गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभी तक जिन परिभाषिक शब्दों की चर्चा की गई वे वाद्य की वादन-विधि, गीत नृत्य आदि के साथ वादन के सम्बन्ध और कोमल-उदात्त आदि प्रभाव के प्रकारों से सम्बन्धित थे। वाद्यों के स्वतन्त्र-वादन सम्बन्धी मुख्य पारिभाषिक शब्द हैं करण और निर्गीत, जिन पर अब विचार किया जायगा।

करण

अंग और प्रत्यंग अर्थात् मुख्य और सहायक वीणा का पहले उल्लेख किया जा चुका है। गीत से स्वतन्त्र रूप में किए जाने वाले वादन का एक विशेष प्रकार 'करण' था जिसमें एक अंग वाद्य के साथ अन्य प्रत्यंग तंत्रीवाद्य का प्रयोग होता था। प्रत्यंग में जो कुछ बजता था वह 'करण' के अन्तर्गत आता है। 'करण' के ६ प्रकार हैं—रूप, कृतप्रतिकृत, प्रतिभेद, प्रतिशुष्क, रूपशेष और ओघ। इनके अन्तर्गत एक वीणा में एक आघात के काल में दूसरी में युगपत् दो आघात अथवा इसकी विपरीत क्रिया अथवा एक में विलम्बित लय में वादन के समय दूसरी में अतिद्रुतलय में वादन अथवा एक में जब विराम हो तब दूसरी में वादन करना आदि मुख्य प्रकार हैं।

वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में वादन में यह प्रयोग दिखाई नहीं देता क्योंकि प्रमुख वाद्य के साथ संगति या सहायक के रूप में किसी दूसरे तंत्रीवाद्य के वादन की परम्परा तो उत्तर में समाप्त हो गई है लेकिन युगलवादन (जुगल-बन्दी) और गायन की 'संगत' में कुछ करणभेद दिखाई देते हैं। कर्णाटक संगीत में मुख्य तंत्रीवाद्य के साथ किसी अन्य तंत्रीवाद्य का प्रयोग कुछ जीवित है और कभी-कभी करण के भेदों का कुछ रूप भी दिखाई देता है।

निर्गीत

देवस्तुति विषयक प्राचीन गीतों में से सार्थक शब्द के स्थान पर निरर्थक अक्षरों का प्रयोग करके उन्हीं की स्वर-ताल योजना में बनाई गई रचनाओं को 'निर्गीत' कहा गया है। ये मूलतः गेय थे और नाट्य की पूर्वरंग विधि में प्रयुक्त होते थे तथा तंत्री वाद्यों पर भी बजाए जाते थे। आगे चल कर निरर्थक अक्षरों से युक्त गेय रूप भी समाप्त हो गया और ये केवल वाद्य रचनाओं के रूप में रह गये। गेय रचनाओं का वाद्य रूप होने के कारण इनके वादन से मूल गीतों की अनुभूति होती थी इसलिए निर्गीतों को गीत की 'वाणी' (पद) की रक्षा करने वाला कहा गया। आज भी किसी बहुत प्रचलित गीत को किसी वाद्य पर बजाया जाय तो सुनने वाले के मन में गीत के शब्द साथ-साथ गूंजने लगते हैं। वाद्य पर बजने वाला गीत का यह रूप प्राचीन भाषा में 'निर्गीत' है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन निर्गीतों में लघु-गुरु प्रहारों की संख्या और उनका क्रम बताने के साथ-साथ निरर्थक अक्षर भी दिये गये हैं। कुछ निरर्थक अक्षर इस प्रकार हैं—

ऽऽ	।।।।	।।।।	।।।।	।।।।	।।ऽ
झण्टुं	जगतिय	वलितक	तितिझल	कुचझल	तितिचा

निर्गीतों को अगर गाया जाय तो इन अक्षरों के द्वारा गाया जा सकता है अन्यथा केवल वादन करने में इनके लघु-गुरु के अनुसार प्रहार करके बजाया जा सकता है। ऐसा करने में लघु प्रहार आज के दि, र के रूप में और गुरु प्रहार दा, रा के रूप में बजाया जायगा। जैसे—

ऽ ऽ	। । । ।	। । ऽ
झं टुं	ति ति झ ल	ति ति चा
दा रा	दि र दि र	दि र दा

निर्गीत के दस भेद कहे गये हैं—आश्रावणा, आरंभ, वक्त्रपाणि, संखोटना, परिघट्टना, मार्गासारित, लीलाकृत और ३ प्रकार के आसारित।

फुटकर पारिभाषिक शब्द

वाद्य-निर्माण की कला और विद्या भारत में अत्यन्त विकसित थी, यह वाद्यों की रचना सम्बन्धी ग्रन्थोक्त विवरणों से प्रकट होता है। किस वृक्ष की लकड़ी, किस पशु की तथा किस आयु के पशु अथवा पक्षी की हड्डी, ताँत आदि का प्रयोग किया जाय, उन्हें वाद्य के उपयोगी बनाने के लिए कैसे तैयार किया जाय—इन सब बातों का और उनके गुण-दोष आदि का भी निरूपण किया गया। इतना ही नहीं किस तरह की ज़मीन में उगे और विकसित हुए वृक्ष की लकड़ी उपयुक्त होती है इसका भी विचार किया गया। वाद्यों के निर्माण में प्रत्येक अंग का नाप आदि दिया गया है जिसे बताने के लिए 'हस्त' (हाथ), 'वितस्ति' (अँगूठे और तर्जनी को पूरा फैलाने से प्राप्त होने वाला नाप), 'मुष्टि' (मुठ्ठी), 'अंगुल', 'यव' (जौ) आदि शब्दों का प्रयोग दैनिक जीवन की और आसानी से प्राप्त होने वाली वस्तुओं की शास्त्र निरूपण में प्रयोग करने की भारतीय प्रवृत्ति का सूचक है। यह सहज रूप से समझा जा सकता है कि व्यक्ति भेद से इन अंगों के नाप में भिन्नता ज़रूर रहती होगी लेकिन शास्त्र में इनके नाप अवश्य निश्चित रहे होंगे।

तन्त्रीवाद्यों से सम्बन्धित ऐसे अन्य अनेक शब्द भी आज प्रचलित हैं जो शास्त्रीय परम्परा से आये हैं। संस्कृत का 'तुम्ब' आज 'तूंबा' कहलाता है, 'खेटक' 'खूंटी' बन गया है, 'जीवा' 'जवारी' के रूप में जीवित है, गज के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बालों पर रगड़ी जाने वाली वर्तमान 'राल' ग्रन्थोक्त 'राला' ही है, 'कीलक' का रूप आज 'कील' है।

वादक के गुण-दोष तथा हाथों के गुण आदि भी शास्त्रकारों की चर्चा का विषय बने हैं। इतने सांगोपांग निरूपण का प्रयोजन यह है कि वादन दोषरहित और अधिकाधिक रंजक बन सके।

तन्त्रीवादन में 'सताल' और 'अताल' यानी तालसहित और तालरहित— दोनों प्रकारों का उल्लेख है। आज के आलाप-जोड़-झाला का मूल अताल वादन में देखा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि रागालप्ति में गीत की बन्दिश शुरू करने से पहले राग की जो अताल किन्तु खण्डबद्ध विस्तृत आलप्ति की जाती थी वह ध्रुपद में नोम्-तोम् बनी और नोम्-तोम् ही बीन के माध्यम से वाद्यों में आलाप-जोड़-झाला के रूप में बाज का विशेष अंग बना। नोम्-तोम् के अन्तिम भाग में एक स्वर को प्रधान बना कर जो 'छन्द बाँधने' का काम किया जाता था उसी का वाद्यरूप 'झाला' है। प्राचीन गीतक और मध्यकालीन प्रबन्ध से छन कर ध्रुपद बना और ध्रुपद तथा निर्गीतों की थाती लेकर 'गत' का स्वरूप निर्मित हुआ। प्रबन्ध यानी बन्दिश गाने के बाद रूपकालप्ति के रूप में राग की जिस प्रकार बढ़त की जाती थी वह ध्रुपद में बोलबाँट, लयबाँट का बाना पहन कर आई और बाज में इसी से गत की बढ़त सुसज्जित हुई। एक प्रकार से यह कह सकते हैं कि आज भी गायन के आधार पर ही वादन होता है। भटियाली, ठुमरी, धुन आदि भी गेय ही हैं किन्तु आज वे बजाई भी जाती हैं। आज भी बड़े वादक यह कहते हैं कि बजाने के लिये गाने की तालीम ज़रूरी है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि मूलतः गायन पर आधारित होते हुए भी वाद्यों की अपनी विशेषताओं और सीमाओं के कारण 'गायकी' और 'बाज' अथवा 'ततकारी' अंग का निर्माण और अन्तर हुआ है। ये दोनों वादन की ही शैलियाँ होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। गज़ से बजने वाले वाद्यों में गायकी की अधिकांश अथवा प्रमुख विशेषताएँ बनाए रखना सम्भव है। प्रहार करने वाले वाद्यों की अपनी सीमाओं के कारण गायन की निजी विशेषताओं की पूरी रक्षा उन वाद्यों में नहीं हो सकती। किन्तु आदान-प्रदान मनुष्य की सहज वृत्ति है इसलिए वायलिन, सारंगी आदि में बाज अंग का और सितार, सरोद आदि में गायकी अंग का अनुसरण किया जाता है, इसीलिए आज दोनों प्रकार के वाद्यों में दोनों अंगों से वादन किया जाता है।

विभिन्न रागों के वादन में क्रियाएँ भिन्न होती हैं इसीलिए किन्नरी नामक पर्देवाले प्रथम भारतीय तन्त्रीवाद्य के निरूपण में अलग-अलग रागों की वादन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विधि का भी वर्णन किया गया है। यह समझना भी ज़रूरी है कि वाद्य, वादन क्रियाएँ और उनका कथ्य तथा प्रभाव एक-दूसरे पर अवलम्बित होता है। वाद्य की बनावट के अनुसार ही उसे बजाया जाता है और तदनुसार ही वाद्य की अपनो शैली बनती है। जैसे, सितार जैसे पर्देवाले और मिजराब से आघात करने वाले वाद्यों में ही तार को एक ओर खींचकर भिन्न-भिन्न स्वर उत्पन्न करना सम्भव है और वायलिन, सरोद आदि में ही घसीट की क्रिया की जा सकती है।

किसी कला की पारिभाषिक शब्दावली न केवल किसी देश की कला-विशेष की क्रियात्मक परम्परा की समृद्धि को सूचित करती है बल्कि कला की सूक्ष्म चिन्तन परम्परा की भी परिचायक होती है, क्योंकि कला को लम्बी परम्परा के आधार पर हुए दीर्घ चिन्तन का परिणाम होती है पारिभाषिक शब्दावली। भारतीय संगीतशास्त्र की शब्दावली जितनी विशाल है उतनी ही क्रियाओं की सूक्ष्मताओं और विविधता को समेटने वाली भी है। स्थूल आकार-प्रकार की दृटि से भले ही आज की सभी क्रियाएँ प्राचीन शब्दावली से स्पष्ट रूप में व्यक्त न होती हों, क्योंकि आकार या रूप देशकाल, वाद्य की बनावट, प्रयोक्ता की व्यक्तिगत रुचि के अनुसार बदलता रहता है, किन्तु क्रियागत विशेषताएँ मूल पारिभाषिक शब्दावली में अवश्य सूत्रित हैं।

ऊपर जो चर्चा की गई उससे यह भी स्पष्ट होता है कि वादन शैली से सम्बन्धित अनेक शब्द और बहुत सी क्रियाएँ आज हम खो चुके हैं। नई क्रियाओं और नये शब्दों को ग्रहण करना कला को जीवन्त बनाये रखने के लिए जितना ज़रूरी है उतना ही महत्त्वपूर्ण यह भी है कि अपनी कला संस्कृति को व्यक्त करने वाली शब्दावली का प्रयोग और बोध बना रहे। विदेशी मुहर लगने से ही कोई वस्तु टकसाली नहीं बन जाती। अपनी सम्पदा को ठीक से समझने, ग्रहण करने और उसकी रक्षा करने से ही कोई संस्कृति जीवित रहती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संगीत-लिपि का इतिहास

(भरत-काल से १७ वीं शताब्दी तक)

जिस प्रकार संप्रेषण के माध्यम के रूप में भाषा और लिपि सर्वप्रथम भारत की ही देन है उसी प्रकार सबसे अधिक विकसित संगीत पद्धति और उसे लिपिबद्ध करने की पद्धति भी सर्वप्रथम भारत ने ही विश्व को दी। किन्तु भारतीय संगीत में राग के रूप में गमकयुक्त अनिबद्ध की प्रधानता और प्रयोक्ता की स्वतंत्र अभिव्यक्ति के महत्त्व के कारण वास्तव में उसे संपूर्ण रूप में लिपिबद्ध करना संभव नहीं है इसलिए यूरोप आदि देशों की तरह यहाँ संगीत को बहुत अधिक लिपिबद्ध नहीं किया गया। दूसरी ओर पाश्चात्य संगीत में विपुल मात्रा में रचनाएँ लिपिबद्ध रूप में सुरक्षित रही यद्यपि वे नवीं शताब्दी के बाद की ही हैं। म्यूज़िकॉलोजिस्ट का एक प्रमुख कार्य उन रचनाओं को समकालीन रुचि के अनुसार यथायथ रूप में प्रस्तुत करने के योग्य स्वरूप देकर प्रकाश में लाना है। संगीत के ऐतिहासिक अध्ययन, संगीत-तकनीक, कालविशेष की सांगीतिक संस्कृति, शैली आदि के अध्ययन व खोज और प्रचलित संगीत को व्यवस्थित करने के कार्य में प्राचीन रचनाएँ ही आधार सामग्री होती हैं।

भारत में इस प्रकार की सामग्री प्राप्त न होने के कारण यह सामान्य धारणा है कि भारतीय संगीत में लिपिबद्ध सामग्री रही ही नहीं और न संगीत-लिपि को कोई महत्त्व दिया गया। लेकिन यह धारणा सही नहीं है। जैसा ऊपर संकेत दिया गया है, हमारे संगीत में निबद्ध की अपेक्षा अनिबद्ध का ही महत्त्व अधिक रहा है। केवल गीत या पद और पाटाक्षरों से युक्त बँधी हुई रचनाएँ संक्षिप्त ही होती थीं और उनके आधार पर आलाप, करण, वर्तनी, आलप्ति आदि का यानी अनिबद्ध का प्रयोग अधिक होता था। इसलिए लिपिबद्ध करने की बहुत अधिक आवश्यकता नहीं थी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि संगीत को लिपिबद्ध किया ही नहीं जाता था। विभिन्न बौद्धिक स्तर और भिन्न योग्यता के शिष्यों के लिए कुछ न कुछ लिखित सामग्री अवश्य रखी जाती होगी। मध्ययुग के कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। वेंकटमखी ने अपने गुरु तानप्पाचार्य के द्वारा रचित 'ठाय' (तालबद्ध निबद्ध आलाप-प्रकार) का उल्लेख किया है। लेकिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रायोगिक संगीत में सीखने-सिखाने में और रचना आदि को सुरक्षित रखने की दृष्टि से क्या किया जाता था, यह आज प्राप्त नहीं होता। जो कुछ प्राप्त है वह संगीत के शास्त्रग्रंथों में ही है। इस संदर्भ में यह ध्यान रखना होगा कि शास्त्रग्रन्थों में सिद्धान्त की पुष्टि के लिए उदाहरण के रूप में ही लिपिबद्ध संगीत दिया जा सकता है क्योंकि ये संगीत के संग्रह ग्रन्थ नहीं हैं जिनमें अनेक रचनाओं अथवा प्रयोग के अन्य रूपों का अंकन किया जा सके। उनके लेखक संग्रहकर्ता नहीं, शास्त्रकार थे इसलिए अंकित संगीत को सीमित रूप में ही देना उनके लिये संभव था। विशेष रूप से 'नाट्यशास्त्र' में संगीत-संबंधी अंश तो थोड़ा ही है क्योंकि वह नाट्य का शास्त्र है।

प्रस्तुत लेख में प्राचीन संगीतलिपि संबंधी सामग्री भरत, मतंग, शार्ङ्गदेव, वेंकटमखी, सोमनाथ आदि के ग्रन्थों के आधार पर दी जा रही है। इनके ग्रन्थों में स्वर, ताल, वाद्य, प्रबंध और छन्द के प्रकरणों में जो उदाहरण दिये गए हैं उन्हीं से तत्कालीन संगीतलिपि का परिचय मिलता है। यह परिचय नाट्यशास्त्र, बृहद्देशी, संगीतरत्नाकर, चतुर्दण्डि-प्रकाशिका और रागविबोध के क्रम से यहाँ प्रस्तुत है।

नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र के ३४ वें 'पुष्कराध्याय' में (कुछ संस्करणों में इस अध्याय की संख्या ३३ है) यानी अवनद्ध वाद्यों की वादन विधि में विभिन्न वर्ण व पाटाक्षर दिए हैं। ये पाटाक्षर अवनद्ध वाद्यों पर विभिन्न प्रकार के आघातों के संकेत हैं। इनमें द्रां, के, तां, त आदि निरर्थक वर्णों के योग से विभिन्न समूह बनाए गए हैं जो अवनद्ध वाद्यों में प्रयोग में आते थे। आलाप में स्वर ध्वनियों के साथ जिन वर्णों का प्रयोग होता था वे 'वाक्करण' कहे गए हैं, जिस प्रकार आजकल आलाप में नों, तों आदि का प्रयोग होता है। उनमें कुछ वाक्करण ये हैं—झंटुं, जगतिय, वल्तिक, दिगिनिगि, तितिझल, कुचझल, तितिचा। 'नोम् तोम्' आलाप में निरर्थक अक्षरों के प्रयोग की परम्परा वाक्करण के रूप में भारतीय संगीत में अति प्राचीन काल से रही है, वह कोई मुस्लिम काल की देन नहीं है।

बृहद्देशी

अंकन का कुछ अधिक परिचय बृहद्देशी में मिलता है। इसमें अलंकार-प्रकरण में अलंकारों का और जाति-प्रकरण में जाति के प्रस्तारों का अंकन हुआ है जिनमें मुख्य चिन्ह ये हैं:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१. अलंकार-प्रकरण में प्रसन्नादि, प्रसन्नांत आदि अलंकारों में षड्ज, ऋषभ आदि सप्त स्वरों के संकेत स, रि, ग, म, प, ध, नि सर्वप्रथम बृहद्देशी में ही प्राप्त हैं। भरत ने षड्जादि संज्ञाओं का ही प्रयोग नाट्यशास्त्र में किया है, संकेतों का नहीं।

२. स्वर का अंकन दो रूपों में हुआ है—ह्रस्व और दीर्घ। स्वर के ह्रस्व रूप अकारांत या इकारान्त हैं, जैसे—स, ग, म, प, ध और रि, नि। यही दीर्घ होने पर आकारान्त यानी सा, गा, मा, पा, धा और ईकारान्त यानी री, नी हो जाते थे।

३. काल की एक इकाई को कला कहा गया है और उसके भी दो रूप हैं—लघु और गुरु। लघु कला को ह्रस्व स्वराक्षर द्वारा और गुरु कला को दीर्घ अक्षर द्वारा अंकित किया गया है। जैसे—स रि ग—ये लघु कलाएँ हैं और सा री गा गुरु कलाएँ। एक कला के छोटे हिस्से दिखाने के लिए दो या अधिक स्वरों की शिरोरेखा जोड़ी गई है। जैसे—सा पा मग रिग सा।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि प्रत्येक स्वर का कालमान उस स्वर के साथ ही अंकित होता है, उसके लिये किसी भिन्न चिन्ह की आवश्यकता नहीं है।

४. बृहद्देशी में जातियों के जो प्रस्तार (स्वरूप निर्देशक स्वररूप) दिए हैं उनमें केवल स्वर हैं, शब्द नहीं हैं। किन्तु मूर्च्छनाओं में इन स्वर संकेतों का ही प्रयोग हुआ है।

इसके अतिरिक्त भी कुछ और लिपिबद्ध रूप शायद बृहद्देशी में रहा होगा, क्योंकि यह ग्रंथ आज जिस रूप में प्राप्त है वह बहुत खंडित और अधूरा है।

संगीतरत्नाकर

अंकन का कुछ रूप बृहद्देशी में मिलता ज़रूर है लेकिन व्यवस्थित पद्धति के रूप में अंकन सबसे स्पष्ट संगीतरत्नाकर में ही है। मुख्य रूप से स्वर, राग, प्रबन्ध, ताल और वाद्य इन पाँच अध्यायों में संकेत चिह्नों का प्रयोग हुआ है जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है :—

१. **स्वराध्याय**—वर्णालंकार प्रकरण में अलंकारों के स्वरूप, सप्त स्वरों के सांकेतिक नाम, ह्रस्व दीर्घ स्वरों का अंकन मतंग जैसा ही है। लेकिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मन्द्र व तार स्थान के लिये कमशः स्वर के ऊपर बिन्दु (गं) और खड़ी रेखा (गं) का तथा प्लुत के लिए स्वर के आगे ३ अंक का प्रयोग सबसे पहले इसी में है। जैसे—ग ३ ।

मतंग के जातिप्रस्तारों में केवल स्वर ही हैं लेकिन संगीतरत्नाकर में उन्हीं प्रस्तारों में स्वरों के नीचे शब्द भी दिये गए हैं जिससे प्रकट होता है कि जातिप्रस्तार निबद्ध रचनाएँ थीं। ये ठीक उसी रूप में बाद के ग्रंथों में भी मिलती हैं।

२. **रागाध्याय**—३२ ग्रामरागों में प्रत्येक के उदाहरणरूप गीत दिये गए हैं जिन्हें आक्षिप्तिका कहा है जिसे राग के स्वरों की फेंक अर्थात् राग में प्रवेश कराने वाला स्वरूप समझा जा सकता है। ये भी अपोरुषेय, अपरिवर्तनीय निबद्ध गीत माने जाते हैं जिनमें किसी की 'मुद्रा' या 'छाप' (रचयिता का नाम) नहीं होती।

ग्रामरागों में आलाप भी दिए हैं जो अनिबद्ध स्वर प्रस्तार हैं। इनके आलाप, करण, वर्तनी भेद किये गए हैं। आलाप में १, २ या ३ स्वरों की तथा वर्तनी में ४-४, ६-६ स्वरों तक की शिरोरेखा जोड़ी हुई है। करण में दोनों का मिश्रण है। यद्यपि करण और वर्तनी का भेद पूरी तरह स्पष्ट नहीं है फिर भी वर्तनी को संभवतः आज के 'जोड़' के रूप में समझ सकते हैं। इनके अलावा वाक्करण हैं जो भरत जैसे हैं।

३. **प्रबंधाध्याय**—इस अध्याय में छंद का अंकन और उसी आधार पर ताल का अंकन किया गया है। लघु, गुरु, प्लुत, के आधार पर छन्द रचना है जिनके सांकेतिक नाम और चिह्न इस प्रकार हैं :—

लघु	=	ल	।
गुरु	=	ग	ऽ
प्लुत	=	प	ऽ॑

इनके विभिन्न सन्निवेशों के आधार पर मात्रिक और वार्णिक छंदों की रचना है। वार्णिक छंद या वर्णवृत्त ८ वर्णगणों पर आधारित हैं। निश्चित लघु-गुरु क्रम से युक्त ३-३ वर्णों के समूह 'गण' कहलाते हैं। गण और उनके मात्रा संकेत इस प्रकार हैं :—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यगण	I S S
मगण	S S S
तगण	S S I
रगण	S I S
जगण	I S I
भगण	S I I
नगण	I I I
सगण	I I S

मात्रिक गण ५ कहे गये हैं—२, ३, ४, ५ और ६ मात्राओं के और उनके लिए क्रमशः द, त, च, प, छ वर्णों का संकेत के रूप में प्रयोग हुआ है। इनमें मात्राओं का क्रम नियत नहीं है लेकिन क्रम परिवर्तन से अनेक प्रकार बन सकते हैं। जैसे—

गण	प्रकार	सांकेतिक नाम
२ मात्रा के	I I, S	द
३ मात्रा के	I I I, S I, I S	त
४ मात्रा के	I I I I, I I S, S I I, S S, I S I	च
५ मात्रा के	I I I I I, I I I S, I S S, S I I I S S I, S I S	प
६ मात्रा के	I I I I I I, I I I I S, I I S S, S S S, S S I I, S I I I I, S I S I, I S I S, I S I I I, I I S I I, I I I S I, S I I S, I S S I	छ

द, त, च, आदि सांकेतिक नामों और IIS आदि चिह्नों का उपयोग वीणा की धातु और प्रबंध तथा तालों के निरूपण में हुआ है।

४. तालाध्याय—इसमें मार्गताल और देशीतालों का अलग-अलग निरूपण हुआ है। मार्गताल में मार्ग और कला—इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है। गीतकों के लक्षण देते समय पहले ताल व मार्ग बताए हैं। कला के मूल्य के आधार पर मार्ग बनता है। संगीतरत्नाकर में ध्रुव चित्र, वार्तिक और दक्षिण—ये चार मार्ग हैं। इनमें कला का मूल्य इस प्रकार है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुवमार्ग	में	कला=१	लघु
चित्रमार्ग	में	कला=२	,,
वार्तिकमार्ग	में	कला=४	,,
दक्षिणमार्ग	में	कला=८	,,

इनमें से किसी एक में परिवर्तन होते ही शेष सब उसी अनुपात में परिवर्तित हो जाते हैं। मार्ग का अर्थ है एक निश्चित दूरी। इस दूरी को द्रुत गति से नापें तो जल्दी पूरी होगी और विलम्बित गति से नापने पर देर से पूरी होगी। इसलिये कला की अवधि इन मार्गों में जैसे-जैसे बढ़ती है वैसे-वैसे लय घटती है और अवधि घटती है तो लय बढ़ती है यानी अनुपात उल्टा हो जाता है।

लय के मध्य, द्रुत, विलंबित नाम हैं लेकिन गीतों के ऊपर लय का उल्लेख न करके मार्ग का निर्देश किया है क्योंकि उसी के द्वारा लय सूचित हो जाती है।

नाट्यशास्त्र में ताल के संदर्भ में हाथों की दो प्रकार की क्रियाएँ कही गई हैं—सशब्द और निःशब्द। दोनों के चार-चार प्रकार हैं। सशब्द के चार प्रकार हैं—ध्रुव, शम्या, ताल और संनिपात। निःशब्द के भी चार प्रकार हैं—आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश। इनके भरतोक्त लक्षण इस प्रकार हैं:—

सशब्द क्रियाएँ—ध्रुव—चुटकी बजाते हुए हाथ नीचे की ओर ले जाना। शम्या—दाहिने हाथ से बाएँ हाथ पर आघात। ताल—बाएँ हाथ से दाहिने हाथ पर आघात। संनिपात—दोनों हाथों का परस्पर आघात।

निःशब्द क्रियाएँ—आवाप—ऊपर की ओर खुली हथेली रख कर उँगलियों को हथेली की ओर सिकोड़ना। निष्क्राम—हथेली नीचे करके उँगलियों को फैलाना। विक्षेप—हथेली ऊपर रख कर दाहिनी ओर फेंकना। प्रवेश—हथेली नीचे करके उँगलियों को सिकोड़ना।

नाट्यशास्त्र में इनके कोई संकेत चिह्न नहीं हैं। लेकिन संगीतरत्नाकर में ध्रुव को छोड़ कर शेष सबके संकेत हैं जिनका प्रयोग गीतकों के तालाधारित प्रस्तारों में किया गया है। चिन्ह इस प्रकार हैं:—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शम्या	श
ताल	ता
संनिपात	सं
आवाप	आ
निष्क्राम	नि
विक्षेप	वि
प्रवेश	प्र

देशीतालों के निरूपण में पाँच संज्ञाओं, उनके संकेताक्षरों और चिह्नों का प्रयोग हुआ है जो इस प्रकार हैं—

लघु	ल	।
गुरु	ग	ऽ
प्लुत	प	ऽ`
द्रुत	द	०
विराम		ŏ

इनमें से अन्तिम—विराम का प्रयोग स्वतंत्र रूप से नहीं बल्कि किसी अन्य इकाई के अपने मान में आधा मूल्य और जोड़ने के लिये उस इकाई के चिह्न के ऊपर लगाकर किया जाता था, जैसे—।ʻ = १½, ŏ = ¾। तालों के लक्षण इन इकाइयों के द्वारा प्रस्तार के रूप में दिये गये हैं, जैसे ऽ । । ० ऽ` ।

५. **वाद्याध्याय**—संगीतरत्नाकर के वाद्याध्याय में वाद्यों की वादन विधि के संदर्भ में उनके पाट दिए हैं और अवनद्ध वाद्यों के पाटों के विभिन्न प्रकार के सन्निवेशों के आधार पर प्रबंध बनाए गए हैं। चारों वर्गों के वाद्यों के पाट हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जा रहे हैं—

तत वाद्यों के पाटाक्षर—तकतिगि, तितिझल, तितिचा आदि। उल्लेखनीय है कि ये नाट्यशास्त्र के वाक्करण ही हैं।

अवनद्ध वाद्यों के पाटाक्षर—ट कु झें झें, खिरितु, थोंगिन, ततकिट, टगुनगु, खुंखुंधरि आदि।

घन वाद्यों के पाटाक्षर—किणि, टिणि आदि।

सुषिर वाद्यों के पाटाक्षर—हाहु, तत्तुत्तु, बुम् बुम्, द्गुं, दिगिदिगि, भुङ्‌ आदि।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऊपर जो विवरण दिया गया है उससे अंकन सम्बन्धी निम्न तथ्य सामने आते हैं :—

१. इनमें कहीं भी स्वरों की कोमल, तीव्र आदि संज्ञाओं का अथवा उनके चिन्हों का प्रयोग नहीं हुआ है। भरत के काल में प्रयोग का आधार ग्राम, मूर्च्छना व जाति थीं। विशेष श्रुतिव्यवस्था से युक्त स्वरों के स्थान व अन्तराल ग्राम में निश्चित थे। मूर्च्छंना परिवर्तन से उन्हीं स्वरों में मूल से भिन्न अन्तराल भी प्राप्त हो जाते थे। ग्राम और मूर्च्छंना के निर्देश से प्रयोज्य स्वरावली का और अंश से मन्द्र-तार सीमा का पता चल जाता था इसलिए स्वरों के विकृत आदि भेद कहने की या उनके लिए चिन्हों की ज़रूरत नहीं थी। यद्यपि शाङ्‌र्गदेव ने विकृत स्वर बताए लेकिन उनमें जो मुख्य विकृत स्वर थे वे भरतोक्त ही थे और वे ग्राम-मूर्च्छंना पद्धति के साथ संवद्ध होने से अंकित नहीं होते थे। मध्ययुग में जब ग्राम-मूर्च्छंना पद्धति का लोप हुआ; सा-प अचल हो गए तब विकृत स्वरों के नाम और उनके चिन्हों की ज़रूरत हुई क्योंकि मेल पद्धति के उद्‌भव से सारी व्यवस्था वदल गई।

२. छंदों के आधार पर पद और ताल रचना के कारण छंद के लघु, गुरु, प्लुत आदि प्रवन्ध और तालों की रचना का आधार थे। ताल के लघु गुरु क्रम से ही, आज की भाषा में, उसकी मात्रा संख्या, विभाग आदि का बोध हो जाता था। जब यह परंपरा लुप्त हुई तो लघु गुरु क्रम के स्थान पर ताल के मात्रा, विभाग आदि का सूचन ज़रूरी हो गया। धीरे-धीरे विभिन्न सशब्द और निःशब्द क्रियाओं का लोप होकर केवल एक सशब्द और एक निशब्द यानी 'ताली' और ख़ाली रह गए।

३. मार्ग और कला के लोप के साथ द्रुत-मध्य-विलंबित लय और ताल की मात्रा संख्या निश्चित करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार एक ही ताल के प्रयोगगत त्रिविध रूपों का लोप हो गया।

४. स्वरों के संकेत चिन्हों में ही उनके मान के अंकन की पद्धति के लोप से मात्रा मूल्य के अलग चिन्हों की ज़रूरत हुई।

चतुर्दण्डि-प्रकाशिका

१७वीं सदी के पूर्वार्धं में वेंकटमखी की 'चतुर्दण्डिप्रकाशिका' में सबसे पहले विकृत स्वरों के चिह्न मिलते हैं। उत्तर भारतीय संगीत के पाठक की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टि से वेंकटमखी की स्वर संज्ञाओं और उनके संकेतों के साथ-साथ उन स्वरों के उत्तर भारतीय समकक्ष स्वर भी नीचे दिए जा रहे हैं :—

वेंकटमखी के स्वर	संकेत	उत्तर-भारतीय स्वर
शुद्ध ऋषभ	र	कोमल ऋषभ
शुद्ध गान्धार	ग	शुद्ध ऋषभ
साधारण गान्धार	गि	कोमल गान्धार
अंतर गान्धार	गु	शुद्ध गान्धार
शुद्ध धैवत	ध	कोमल धैवत
शुद्ध निषाद	न	शुद्ध धैवत
कैशिक निषाद	नि	कोमल निषाद
काकली निषाद	नु	शुद्ध निषाद
पंचश्रुति ऋषभ	रि	शुद्ध ऋषभ
पंचश्रुति धैवत	धि	शुद्ध धैवत
षट्श्रुति ऋषभ	रु	कोमल गान्धार
षट्श्रुति धैवत	धु	कोमल निषाद
वराळी मध्यम	मि	तीव्र मध्यम

रागविबोध

सोमनाथ के 'रागविबोध' में वीणा की बीस गमकों के लिए विशेष चिह्न बनाए गए हैं। क्रियाओं अथवा गमकों के नाम, संकेताक्षर और चिह्न निम्नलिखित हैं :—

गमक-नाम	चिह्न	संकेताक्षर
प्रतिहति	स ∞	प्र०
आहति	स ०	आ०
अनुहति	‿स०	अनु०
अहति	स O	अ०
पीडा	स०	पी०
दोलन	ऽ स	दो०
विकर्ष	∽ स	वि०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गमक	सऽ	गम०
कंप	सं	क०
घर्षण	स̄	घ०
मुद्रा	स्	मु०
स्पर्श	सैं	स्प०
नैम्न्य	स़	नैम्न्य०
प्लुति	स~	प्लुति०
द्रुति	स रि ग	द्रुति
परता	स ऽ	पर०
उच्चता	ऽ स ऽ	उच्च०
परता निजता अथवा निजता परता	स ऽ 0	नि० पर०
उच्चता निजता अथवा निजता उच्चता	ऽ स ऽ 0	नि० उच्च०
शम	स 0	श०
मृदु	0 स	मृ०
कठिन	0 स	कठि०
पञ्चम्	स*	

संगीतलिपि की दृष्टि से वर्तमान भारतीय संगीत का संबंध मध्ययुग के साथ ही जोड़ा जा सकता है। १८ वीं सदी अभी अंधकारमय है इसलिए इस काल में क्या कार्य हुआ इसका कोई सही अनुमान अभी नहीं हो सकता। १९ वीं शताब्दी से संगीतलिपि स्थिर करने की दिशा में पूरे भारत में अनेक प्रयत्न हुए लेकिन कोई भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भरत, शार्ङ्गदेव आदि के काल में लक्ष्य को किस प्रकार अंकित किया जाता होगा इसके प्रमाण उपलब्ध होते तो वर्तमान संगीत को प्राचीन संगीत से जोड़ने और पूरे उत्तर भारत के लिए एक प्रामाणिक संगीतलिपि तैयार करने में बड़ी मदद मिलती। इसके अभाव में यह कार्य अभी शेष है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'अनिबद्ध' अथवा 'आलप्ति' की पृष्ठभूमि और स्वरूप

रंजकता संगीत का स्वरूप है। भारतीय संगीत में रंजकता को धारण करने वाले तत्त्व हैं—स्वर, राग, गीत, वाद्य और रंजकता का आधान करने वाले तत्त्व हैं—वर्ण, अलंकार, गमक, स्थाय, काकु आदि। स्वर का लक्षण ही है 'जो स्वतः श्रोता के चित्त का रंजन करे।'[१] राग शब्द की रचना 'रञ्ज्' धातु से है जिसका अर्थ है 'रँगना' और लक्षण है—'स्वर-वर्ण से विभूषित ऐसी ध्वनि-विशेष जो चित्त को रंजित करे।'[२] 'रंजक स्वर-संदर्भ' को गीत कहा गया है।[3] चतुर्विध वाद्य अभिनय तथा गीत का उपरंजन करते है।[४] वर्ण संगीत में गान की क्रिया[५] यानी स्वरों की गति के सूचक हैं अर्थात् एक स्वर की आवृत्ति अथवा दीर्घ प्रयोग, स्वरों का क्रमशः ऊपर की ओर चढ़ना, नीचे की ओर उतरना अथवा इन सबका मिश्रण—इन्हें स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी वर्ण कहा गया है। गीत को उज्ज्वल बनाने वाले, सूत्रित करने वाले, विकसित करने वाले और रंजित करने वाले[६] ऐसे लक्षण मूलतः अलंकार कहे गए जो गीति के सहजात यानी अभिन्न हैं और जिनके बिना गीति की सत्ता ही नहीं है। स्वर का ऐसा कम्प गमक है जो श्रोताओं के चित्त को सुख प्रदान करने वाला

---

१. स्वतो रञ्जयति श्रोतृचित्तं स स्वर उच्यते। सं० र०, १।३।२५।

२. योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रञ्जको जनचित्तानां स च राग उदाहृतः॥ बृह०, श्लो० २८१।

३. रञ्जकः स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते। सं० र०, ४।१।

४. तत्र चतुर्विधातोद्यमुपरञ्जकम्। उपरञ्जनीयश्चाभिनय इति ....।
अभि०, अ० २८, पृ० २, पं० २४-२५।
गीतं चतुर्विधाद्वाद्याज्जायते चोपरज्यते। सं० र०, ६।३।

५. गानक्रियोच्यते वर्णः। सं० र०, १।६।१।

६. कश्चिदलंकारो वर्णमुज्ज्वलयति, कश्चित् सूत्रयति, कश्चित् सुविकासयति, कश्चिद् रञ्जयतीति दृष्टान्तचतुष्केण सूचितम्। अभि०, अ० २९, पृ० ९२, पं० २२-२३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हो[७] और जो गीत के स्वरूप तक ले जाय अर्थात् गीत के स्वरूप की अनुभूति कराये।[८] राग के अवयव-रूप (भाग या अंश) तथा स्वर प्रयोग में विविधता लाने वाले तत्त्व 'स्थाय' हैं।[९] कंठ ध्वनि में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को 'काकु' कहा गया है जिनके कारण भाव की अभिव्यक्ति होती है।[१०]

राग, रंग, रंजक, रंजकता, रंजन, उपरंजन आदि शब्द संस्कृत की 'रञ्ज्' धातु से बनते हैं जिसका धात्वर्थ है 'रँग देना।' इसलिये इस धातु से बने उपर्युक्त सभी शब्दों में 'रँग देना' अर्थ अन्वित है। 'रँगना' क्रिया संगीत की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती है। रंग में जिस वस्तु को डुबोया जाता है वह वस्तु अपना मूल रंग खोकर उस रंगमय हो जाती है जिसमें उसे डुबोया जाता है। रंग अथवा रँगने की क्रिया से संबंधित इन शब्दों का ग्रहण जहाँ भी होता है वहाँ यह विशेष अर्थ अभिप्रेत होता है।

कलाओं को अध्यात्म-साधना का माध्यम बना कर प्राचीन महर्षि कलाओं को उच्चतम स्तर तक ले गए। लेकिन उन्हें लोक-परम्परा की भित्ति पर प्रतिष्ठित रख कर जीवन से विच्छिन्न होने से बचाया। कलाओं के लिये शब्दावली का चयन लोक से किया। भारतीय संगीत में 'राग' शब्द भी अपने भीतर अध्यात्म से लोक की सम्पूर्ण यात्रा का इतिहास समेटे हुए है। वस्त्र को रँगने पर उसकी जो अवस्था हो जाती है वही अवस्था 'राग' का 'रंग' चढ़ने पर चित्त की भी होती है। चित्त अपनी 'साम्यावस्था' (विकार-रहित) अथवा विकार-युक्त अवस्था को छोड़कर राग के स्वरों के रंग में रँग कर 'तद्रूप' और 'तन्मय' हो जाता है और उसका अपना मूल स्वरूप उसी तरह नष्ट हो जाता है जैसे रँग देने पर वस्त्र का मूल रंग नष्ट हो जाता है। जीवन में रँगने की इस क्रिया की संगीत में भी विलक्षण अनुभूति करके एक ओर संगीत को जीवन में ओत-प्रोत रखा गया और दूसरी ओर राग के द्वारा नादब्रह्म की साधना करके उसमें ब्रह्मानन्द के समकक्ष आनन्द की अनुभूति की गई। राग-रागिणियों के रूप में स्वरों के विशेष और विभिन्न व्यक्तित्वों की कल्पना, उनमें देवी-देवताओं की विशेष शक्तियों

---

७. स्वरस्य कम्पो गमकः श्रोतृचित्तसुखावहः। सं० र०, ३।८७।

८. स्वरूपं गमयेद्गीते गमकोऽसौ निरूपितः। सं० स० सा०, २।७२।

९. रागस्यावयवः स्थायः। सं० र०, ३।९७।

१०. 'काकु' के विवेचन के लिये द्रष्टव्य—वाचिक अभिव्यक्ति का प्राण—'काकु'।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का अधिष्ठान और उनके द्वारा 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की प्राप्ति—इस रूप में ऋषियों ने भारतीय संगीत को अमरत्व प्रदान किया।

'राग' रूपी व्यक्ति के तीन पहलू हैं—१. स्वर रूप, जो राग की बाह्य आकृति प्रस्तुत करता है, २. गीत, जो राग की विशेष भंगिमाओं को प्रकट करता है और ३. आलाप, जो राग का संपूर्ण व्यक्तित्व ही है। जैसे प्रथम दर्शन में व्यक्ति की केवल बाह्य आकृति का ही ग्रहण होता है, उसी प्रकार राग के स्वरों के श्रवण से उसकी स्थूल आकृति का ही परिचय होता है। किसी महिला को रसोई में काम करते, विद्यालय में पढ़ाते, कलाकृति बनाते देख कर उसके गृहिणी, अध्यापिका, कलाकार आदि विभिन्न रूपों के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार राग में रचित अलग-अलग गीतों के द्वारा उस राग की विभिन्न भंगिमाओं का दर्शन होता है। व्यक्ति के चलने, उठने, बैठने बात करने आदि संपूर्ण व्यवहार के द्वारा उसका पूरा व्यक्तित्व प्रकट होता है, उसी प्रकार राग के स्वरों का जिस प्रकार चलन होता है उसी से राग का स्वरूप भी व्यक्त होता है। स्वरों का यह व्यवहार ही राग का 'आलाप' है। मनुष्य के व्यक्तित्व में कंठ ध्वनि, त्वचा की स्निग्धता, चाल, नेत्रों की बनावट आदि सहजात गुणों का जो स्थान है, वही स्थान काकु, वर्ण, अलंकार, गमक, स्थाय जैसे स्वर से अभिन्न तत्वों का आलाप में है क्योंकि स्वरसाम्य होते हुए भी इन्हीं के कारण राग भिन्न हो जाते हैं अथवा एक ही राग में भिन्न-भिन्न भाव व्यक्त होते हैं, जैसे जुड़वाँ सन्तान एक सी दिखाई देने पर भी उनमें कुछ सूक्ष्म अन्तर रहता है जिसके आधार पर उन्हें अलग-अलग पहचाना जाता है।

शास्त्रग्रंथों में 'गान्धर्व' और 'गान' तथा 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' संज्ञाओं का प्रयोग 'आलाप' के संदर्भ में द्रष्टव्य है। इन शब्दों के विवेचन के लिये यहाँ अवसर नहीं है फिर भी इनका मूल अर्थ और अन्तर समझ लेना ज़रूरी है। 'गाधर्व' और 'गान' स्वर, ताल, पद के समुच्चय रूप हैं लेकिन 'गान्धर्व' अपरिवर्तनीय, देवता-परितोष का साधन और प्रयोक्ता को अदृष्ट फल देने वाला है। इसके विपरीत 'गान' परिवर्तनशील, श्रोता का रंजन करने वाला और दृष्ट फल देने वाला है।[११]

---

११. गांधर्व और गान के विवेचन के लिये देखें–भातखण्डे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ की स्वर्ण जयन्ती स्मारिका में प्रकाशित लेख—'मार्ग' और 'देशी' का विवेचन। ले०—सुभद्रा चौधरी।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निबद्ध और अनिबद्ध संज्ञाओं का प्रयोग भरत, मतंग, शार्ङ्गदेव आदि सभी ने किया है। भरत ने अत्यन्त व्यापक अर्थ में नियत अक्षर व संख्या के कारण नियत स्वरूप वाले, छन्दोबद्ध, तालबद्ध और सार्थक प्रयोग को 'निबद्ध' कहा है और अनियत स्वरूप वाले, छंदरहित, अताल और निरर्थक प्रयोग को 'अनिबद्ध' संज्ञा दी।[१२]

मतंग ने 'देशी' के दो भेद कहे--आलाप युक्त निबद्ध और आलाप विहीन अनिबद्ध और इन्हें 'मार्ग' और 'देशी' संज्ञाएँ दीं।[१३]

शार्ङ्गदेव ने प्रबंधाध्याय के आरंभ में 'गीत' के दो भेद 'गान्धर्व' और 'गान' कहे और इनमें से 'गान' के 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध'—ये दो भेद कहे। इनमें से निबद्ध वह है जो 'धातु' और 'अंगों' से बँधा हुआ है और बंधन रहित होने से 'आलप्ति' को अनिबद्ध कहा गया है।[१४] शार्ङ्गदेव ने यहाँ देशी शब्द का प्रयोग न करके 'गान' के भेद निबद्ध और अनिबद्ध कहे। उसके अनुसार आलप्ति बन्धहीन है इसलिये अनिबद्ध है और निबद्ध संज्ञा की सार्थकता इसमें है कि वह धातु और अंगों से बँधा हुआ है।

मतंग और शार्ङ्गदेव के कथनों में यह समानता यहाँ ध्यान देने योग्य है कि दोनों ने आलाप या आलप्ति को अनिबद्ध माना है और इससे भिन्न यानी जो बद्ध है उसे निबद्ध। यह अन्तर ज़रूर है कि मतंग ने इन्हें देशी के भेद कहा और शार्ङ्गदेव ने गान के। यहाँ यह समझ लेना प्रसंगप्राप्त है कि संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से गांधर्व को मार्ग और गान को देशी कहा है।[१५] मतंग ने निबद्ध और अनिबद्ध को

१२. निबद्ध-अनिबद्ध के विवेचन के लिये देखें—'भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान' पुस्तक। ले०—सुभद्रा चौधरी।

१३. निबद्धश्चानिबद्धश्च मार्गोऽयं द्विविधो मतः।
आप्ला(ला)पादिनिबंधो(बद्धो) यः स च मार्गः प्रकीर्तितः॥
बृह०, श्लोक १४।
आलापादिविहीनस्तु स च देशी प्रकीर्तितः। रागविबोध में उद्धृत, पृ० १०

१४. निबद्धमनिबद्धं तद् द्वेधा निगदितं बुधैः॥
बद्धं धातुभिरङ्गैश्च निबद्धमभिधीयते।
आलप्तिर्बन्धहीनत्वादनिबद्धमितीरिता॥ सं० र०, ४।४-५।

१५. सं० र०, ४।१ पर कल्लि०।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मार्ग और देशी से जोड़ कर यह संकेत दिया है कि आलाप विस्तार का मार्ग खोलता है इसलिये 'मार्ग' है और इससे भिन्न जो आलापरहित यानी केवल निबद्ध है उसमें विस्तार की विशेष गुंजाइश नहीं है और वह देश-विशेष से संबद्ध है इसलिये 'देशी' है। मतंग द्वारा दिया गया मार्ग का लक्षण हमारे विषय 'आलप्ति' के संदर्भ में बड़े महत्त्व का है क्योंकि आज के रागाधारित संगीत में कुछ व्यापक नियमों के होते हुए भी वे नियम राग में किये जाने वाले आलाप यानी राग के विस्तार की संभावनाओं को खोलते हैं, बाँधते नहीं।

शार्ङ्गदेव द्वारा आलप्ति को बन्धहीन कहने का आशय भी समझ लेना चाहिये। आगे यह स्पष्ट किया जाने वाला है कि आलप्ति दो प्रकार की है—रागालप्ति, जो प्रबन्ध (अर्थात् बन्दिश) के बिना होती है और रूपकालप्ति, जो प्रबन्ध के राग और ताल से उपलक्षित होती है। रागालप्ति स्वस्थान और राग के नियमों के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के बन्धन से रहित है। राग के अन्तर्गत किसी गीत और गीत के ताल से जुड़ी होने के कारण रूपकालप्ति में गीत के शब्द और ताल का बन्धन है। फिर भी इन्हें बन्धहीन कहने का आशय यह है कि, चाहे रागालप्ति हो या रूपकालप्ति, इनमें निबद्ध जैसा धातु और अंगों का बंध नहीं है और ये पूर्वरचित नहीं है, इस कारण ये अनिबद्ध हैं।

प्रस्तुतीकरण के स्तर पर गान-वादन के दो रूप होते हैं—एक वह जो सामान्यतः पूर्वरचित यानी पहले से बँधा हुआ है, जो 'वाग्गेयकार'[१६] का कर्म है और जिसे 'निबद्ध', 'प्रबंध', 'वस्तु', 'रूपक'[१७] कहा गया है। आज की भाषा में इसे 'बन्दिश', 'गत' कह सकते हैं। दूसरा रूप वह है जो सामान्य रूप से तत्काल स्फूर्त है, जो प्रयोक्ता यानी गायक-वादक का व्यापार है और जिसे 'अनिबद्ध', 'आलाप', 'आलप्ति' 'आलपन'[१८] कहा गया है। वर्तमान लक्ष्य की दृष्टि से इसे आलाप, शब्दालाप, बोलबनाव, बोलतान, तान, नोम्-तोम्,

---

१६. 'वाक्' (शब्द रचना) और 'गेय' (स्वरतालयोजना) की रचना करने वाला 'वाग्गेयकार' कहलाता है। विस्तृत लक्षण के लिये देखें—
सं० र०, ३।२-९।

१७. वही, ४।६।

१८. वही, ३।१८९-९० तथा कल्लि० की टीका।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आलाप-जोड़-झाला आदि कहा जा सकता है। यद्यपि बन्दिश की रचना कभी तत्काल भी हो सकती है किन्तु वह कम से कम स्वर, ताल के द्वारा नियत खण्डों में बाँध दी जाती है और एक बार बन जाने पर उसके मूल रूप में परिवर्तन नहीं किया जाता। आलापादि तो नित्य नवीन ही होना चाहिए।

भारतीय संगीत में निबद्ध का स्थान दो दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—१. राग की किसी विशेष भंगिमा को प्रस्तुत करने के कारण वह गायक-वादक को एक ऐसा दिशा संकेत करता है जिसे वह आलप्ति के द्वारा एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व बनाता है। जैसे—तोड़ी राग में करुणा के भाव से युक्त पद हो तो उस राग में आलापादि करने के लिये एक मूल भाव का आधार मिल जाता है। २. एक विशेष रूप (form) देता है जिससे अनिबद्ध विस्तार के प्रकार के चयन के लिए आधार प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ—ध्रुपद, ख्याल, टप्पा आदि विभिन्न प्रकार के निबद्ध रूप हैं। हरेक में गीत रचना के आधार पर अलग-अलग प्रकार का विस्तार किया जाता है। यथा—ध्रुपद में केवल लयाधारित बोलबाँट; ख्याल मे लयरहित या लयबद्ध आलाप, शब्दालाप, बोलतान, सरगम, तान आदि और टप्पा में केवल मुर्कीदार तानें। इस तरह विस्तार के प्रकार और क्षेत्र का निश्चित दिशासूचन बंदिशों के आधार पर होता है। यद्यपि एक राग के पूर्ण प्रस्तुतीकरण में लगने वाले कुल समय का एक छोटा भाग ही निबद्ध को प्राप्त होता है, लेकिन वह एक ऐसी भित्ति प्रदान करता है जिस पर संगीतकार अपने ध्वनिचित्र की रचना करता है। इसीलिये उत्तम वाग्गेयकार में स्वर, ताल, पद संबंधी सभी गुणों का समावेश भारतीय आचार्यों ने किया है। लेकिन दूसरी ओर संगीत का प्राण आलप्ति है जिसे गायक-वादक प्रस्तुत करता है और जिसमें आधार बनती है वाग्गेयकार की कृति। इसलिये अन्य गुणों के साथ विविध प्रकार की आलप्तियों में निपुणता[१९] भी वाग्गेयकार के लिये अनिवार्य माना गया और गायक के लिये प्रबंधगान में निष्णात होने के साथ आलप्तियों के तत्त्व का वेत्ता[२०] होना आवश्यक समझा गया।

शार्ङ्गदेव ने तीन संज्ञाओं का प्रयोग किया है—आलप्ति, आलपन और आलाप; इनमें से प्रथम दो का प्रकीर्णक-अध्याय में और तीसरी का

---

१९. वही, ३।९।
२०. वही, ३।१४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रागाध्याय में। आलप्ति का लक्षण देते हुए उसने कहा—'रागालपनमालप्तिः प्रकटीकरणं मतम्'।[२१] अर्थात् राग का आलपन यानी प्रकटीकरण (प्रकट करना) आलप्ति माना जाता है। टीकाकार कल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या करते हुए आलप्ति, आलाप और आलपन शब्दों में प्रत्यय भेद से होने वाले सूक्ष्म अर्थ भेदों को विस्तार से स्पष्ट किया है। सार रूप में उसे समझ लेना उपयोगी होगा। संस्कृत में 'कहना' अर्थ वाली 'लप्' धातु में 'आ' उपसर्ग तथा 'घञ्' प्रत्यय लगाकर 'आलाप', 'क्तिन्' लगाकर 'आलप्ति' और 'ल्युट्' लगाकर 'आलपनम्' शब्द बनते हैं जो क्रमशः पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग हैं। तीनों में 'कहना' अर्थ तो अन्वित है लेकिन प्रत्यय-भेद के कारण वे भिन्न फलों (परिणामों) के सूचक हैं। 'घञ्' प्रत्यय आविर्भाव का, 'क्तिन्' तिरोभाव का और 'ल्युट्' मध्यावस्था का सूचक है। इसलिये आलाप शब्द के द्वारा राग का आविर्भाव, आलप्ति के द्वारा तिरोभाव और आलपन के द्वारा किंचित् प्रतीयमानता (कुछ आविर्भाव और कुछ तिरोभाव) अर्थ विवक्षित है। इस प्रकार राग के विस्तार में जब राग का स्पष्ट स्वरूप व्यक्त होता है तो आविर्भाव होने के कारण आलाप कहा जाता है। जब राग का स्वरूप छिप जाता है तो तिरोभाव के कारण आलप्ति होती है और जब कभी आविर्भाव, कभी तिरोभाव होता है तो आलपन या प्रकटीकरण होता है। काव्य और संगीत में तीसरी स्थिति अत्यन्त आनन्ददायक मानी गई है। बादलों में से कभी झाँकता और कभी छिपता हुआ चंद्रमा और घूंघट में सलज्ज वधू का कभी झाँकता और कभी छिपता हुआ सौंदर्य कवियों और सहृदयों के लिये सदा आह्लाद का विषय रहा है। राग के स्वरूप में भी इसी लुका छिपी को कल्लिनाथ ने 'किंचित् प्रतीयमानता' के द्वारा व्यक्त किया है। आविर्भाव होने के बाद ही स्वरूप के कुछ छिप जाने पर तिरोभाव होता है और तिरोभाव की स्थिति में भी मूल स्वरूप किंचित् प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार आलप्ति में भी आलाप और आलपन दोनों के धर्म रहते हैं। इसीलिये शार्ङ्गदेव ने यहाँ 'आलप्ति' को प्रधान रखकर उसी में शेष दोनों का अन्तर्भाव कर दिया है।

आलप्ति के दो भेद हैं—रागालप्ति और रूपकालप्ति। रूपकालप्ति का लक्षण शार्ङ्गदेव ने इस प्रकार दिया है:—

२१. वही, ३।१८९।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रागालप्तिस्तु सा या स्यादनपेक्ष्यैव रूपकम् ॥
स्वस्थानैः सा चतुर्भिः स्यादिति गीतविदो विदुः ।
यत्रोपवेश्यते रागः स्वरे स्थायी स कथ्यते ॥
ततश्चतुर्थो द्व्यर्धः स्यात् स्वरे तस्मादधस्तने ।
चालनं मुखचालः स्यात् स्वस्थानं प्रथमं च तत् ॥
द्व्यर्धं स्वरे चालयित्वा न्यसनं तद् द्वितीयकम् ।
स्थायिस्वरादष्टमस्तु द्विगुणः परिकीर्तितः ॥
द्व्यर्धद्विगुणयोर्मध्ये स्थिता अर्धस्थिताः स्वराः ।
अर्धस्थिते चालयित्वा न्यसनं तु तृतीयकम् ॥
द्विगुणे चालयित्वा तु स्थायिन्यासाच्चतुर्थकम् ।
एभिश्चतुर्भिः स्वस्थानै रागालप्तिर्मता सताम् ॥
स्तोकस्तोकैस्ततः स्थायैः प्रसन्नैर्बहुभंगिभिः ।
जीवस्वरव्याप्तिमुख्यै रागस्य स्थापना भवेत् ॥[२२]

'रूपक' (बन्दिश) की अपेक्षा के विना रागालप्ति होती है और वह चार 'स्वस्थानों' में विभक्त होती है। 'स्थायी' स्वर से 'द्व्यर्ध स्वर' के नीचे-नीचे स्वर-चालन 'मुखचाल' अथवा प्रथम स्वस्थान तथा द्व्यर्ध तक चालन करने पर द्वितीय स्वस्थान होता है। द्व्यर्ध और 'द्विगुण' के बीच के यानी 'अर्धस्थित' स्वरों में चालन करना तृतीय स्वस्थान है तथा द्विगुण तक चालन करना चतुर्थ स्वस्थान है। इस प्रकार धीरे-धीरे विविध स्थायों और विविध भंगिमाओं के द्वारा 'जीवस्वर' को व्याप्त करते हुए राग की स्थापना होती है।

ऊपर उद्धरण चिह्नों (' ') में दिये हुए शब्द आलप्ति के संदर्भ में विशेष महत्त्व के हैं। प्रथम अंश को छोड़ कर शेष शब्द पारिभाषिक हैं जिनका स्पष्टीकरण ज़रूरी है। 'रूपक की अपेक्षा के बिना' का अर्थ है रूपक आरम्भ करने से पहले की जाने वाली आलप्ति, जैसे—आज ध्रुपद की बंदिश शुरू करने से पहले किया जाने वाला नोम्-तोम्, ख़्याल की बन्दिश शुरू करने से पहले किया जाने वाला आलाप अथवा गत शुरू करने से पहले किया जाने वाला आलाप-जोड़-झाला। आलप्ति करते समय स्वरों की ऊपरी सीमा के आधार पर स्वर-चालन करके आरम्भक स्वर पर लौट कर विश्रान्ति करने के कारण बनने वाले खंड 'स्वस्थान' हैं। 'स्थायी स्वर' अर्थात् राग का

२२. वही, १९०-१९६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आरम्भक स्वर, जो अंश बन कर राग में स्थायी रूप से विद्यमान रहता है; जैसे—वर्तमान लक्ष्य में षड्ज स्वर। स्थायी और उसके दुगने स्वर के बीच के आधे भाग पर स्थित स्वर यानी स्थायी से चौथे स्वर को द्व्यर्ध (द्वि+अर्ध) कहा गया है; जैसे—मध्य 'सा' के दुगने तार 'सा' के आधे भाग पर स्थित 'म'। राग के स्वरूप के सूचक स्वर मुख के समान होते हैं, उन स्वरों में चालन करना अर्थात् घूमना 'मुखचाल' कहलाता है। स्थायी स्वर का दुगना यानी तार स्वर 'द्विगुण' होता है; जैसे–मध्य 'सा' का दुगना तार 'सा'। द्व्यर्ध और द्विगुण के बीच के आधे भाग के बीच में स्थित स्वर 'अर्धस्थित' कहलाते हैं; जैसे–'म' और 'सा' के बीच के स्वर 'प ध नि'। 'जीवस्वर' राग का प्राणभूत स्वर है, जो अंश होता है।

रागालप्ति के बारे में निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहियें—१. बन्दिश के बिना होने के कारण इसमें बन्दिश के शब्दों का प्रयोग नहीं है। २. बन्दिश के अभाव के कारण तालबद्ध नहीं है। ३. आलप्ति चार खण्डों में की जाती है। पहले खंड में स्थायी स्वर से तीसरे स्वर तक, दूसरे खण्ड में चौथे स्वर तक, तीसरे खंड में सातवें तक और चौथे खंड में आठवें स्वर तक। ४. सभी खंडों की समाप्ति स्थायी स्वर पर ही की जाती है। ५. सभी स्वस्थानों में राग के नियमानुसार स्थायी से नीचे अर्थात् मंद्र-स्थान में जाने की छूट है। ६. चौथे खंड में आठवें स्वर से ऊपर यानी तार स्थान में राग के नियमानुसार स्वर प्रयोग की स्वतंत्रता है। ७. चारों खंडों में स्वरों की संख्या गिनते समय लोप्य (वर्ज्य) स्वरों को भी गिना जाता है।

इन विशेषताओं पर विचार करके यह कहा जा सकता है कि ध्रुवपद का 'नोम्-तोम्' रागालप्ति का ही रूप है, लेकिन उसमें निरर्थक अक्षर जोड़ दिए गए हैं। ख़्याल गाने से पहले अक्षरों का प्रयोग न करते हुए 'आ'कार में किया जाने वाला राग का आलाप रागालप्ति के सदृश है, यद्यपि इस प्रकार के विस्तृत आलाप की परंपरा ख़्याल-शैली से लगभग लुप्त हो चुकी है। 'आलाप-जोड़-झाला' रागालप्ति के समकक्ष कहा जा सकता है।

रागालप्ति का स्वरूप राग बिहाग में इस प्रकार समझा जा सकता है। राग के चलन को देखते हुए मध्य गान्धार तक प्रथम स्वस्थान, मध्यम तक द्वितीय स्वस्थान, निषाद तक तृतीय स्वस्थान और तार 'सा' तथा आगे के स्वरों में चतुर्थ स्वस्थान बनाये जा सकते हैं। नीचे रागालप्ति का स्वरूप इसी राग में प्रस्तुत है। रागालप्ति में प्रथम तीन स्वस्थानों में जिन स्वरों की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शिरोरेखा जोड़ी गई है उनका मध्यगति में बिना किसी स्वर पर रुके हुए प्रयोग करना चाहिए तथा अन्तिम स्वस्थान में चिन्हित अंश में शिरोरेखा से जुड़े स्वरसंचारों का तान की तरह लयबद्ध रूप में प्रयोग करना चाहिए।

प्रथम स्वस्थान

सा, रेनि़ – साग – –, ग – रेसा रेनि़ – साग – –, रेनि़ सानि़ – प़ – नि़साग – –, गरेसानि़ – ध़म़ प़-नि़सा ग –, साग रेगरे नि़रे सारेसा प़सा नि़सानि़ – साग – –, गनि़ – सा ग – प़ नि़ सा ग –, नि़ सा नि़ ग – –, प़रे सारेसानि़सा नि़ – प़ नि़ सा ग – –, साग – रेसा – –।

द्वितीय स्वस्थान

सा –, नि़ नि़सा साग – –, म ग – –, रेनि़सा साम-ग – –, ग म साग – रेसा – नि़–सा साम – ग – –, नि़ – सानि़ ग – नि़ – सानि़ म – ग – –, साम गमग साग – –, प़सा नि़सानि़ प़नि़ – साम – ग – – प़ – प़नि़ नि़ सा साम – ग – –, प़ सा नि़ रे सा म – ग – –, प़ सा – नि़ ग – सा म – ग – –, साग–रेसा –।

तृतीय स्वस्थान

सा –, प़रे सारेसानि़ नि़सा साग – –; साम गमगसा साग गम –, म पम ग प – –, प – म मग पम पग –, गसा सा मग गपम गप – म़ प – –, प – म़ग – म प नि – –, नि – धप –, म़ग पम धप पनि – –, धप – –, पनि धनिध म़ध पधप म़प – ग म प नि – –, नि – प नि – म़ प नि – ग म प नि – सा ग म प नि – नि़ नि – ध प –, म़ध पधपम़प म़ग –, सामगपम़धपनि –, नि – म़ नि – ग नि – नि़ नि – –, धम़-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प – म॒ग –, गसा साग गम ग गप – मग –, साम – ग –, ग –

रेनि॒सानि॒ –, प॒ नि॒ सा प – मग – म साग – रेसा –।

चतुर्थ स्वस्थान

प॒रे सा रेसानि॒साग – म॒ध प धपम॒प मनि – प – सां – निसां –,

प रें सां रें सांनिसां पनि – धप – म॒गमपसां – निसां –, ग

गम मप पनि – म॒ म॒प पनि निसां – निसां –, नि॒रे सा रेसा साम

गमग गप म॒ पम॒ म॒ध पधप प सां निसांनि पनि – प – सां – निसां –,

प नि सां गं – रें सां –, परें निसांनि – गधम॒पम॒ – पनिसांगं – रें सां –,

प॒रेनि॒सानि॒ – गधम॒पम॒ – पनिसांगं रें सां –, निसांनिगं – रें सां –,

सांपनिसांमंगं – रें सां –, निसां सांगं गंमं मंपं – मंगं – मं सांगं –

रेसां –, सांरें निसांनि – धप –, गमपनि – धप –, गमगप – मग –,

साम – ग, साग-रेसा रेनि॒ –, प॒नि॒साग – रेसा –।

नि॒सागगरेसा। गमपपमगरेसा। गमपनिधपमगरेसा। गमपनिसांनिधप-गमपनिधपगमपपमगरेसा। नि॒ सा ग म प नि सां – निपनिसांनिधपमगरेसा। गमपनिसांगं – मंमंगं मंमंगं मंगंरें सां सांनिधपमगरेसा। नि॒नि॒नि॒ गगगरेसा, गगग निनिनिधप, निनिनि गगंगंरें सां, सांनिधपमगरेसा। नि॒नि॒नि॒ गगग, गगग निनिनि, निनिनि गंगंगं पंपंमंगंरें सां निधपमगरेसा –। नि॒ ग ग नि नि गं – – पंमंगंरें सांनिधप मगरेसा।

ग म प नि सां गं पं – मं गं रें सां नि ध प –, सां नि ध प – म॒ ग म प नि – धप – ग म प – ग म साग – रेसा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूपकालप्ति का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

रूपकस्थेन रागेण तालेन च विधीयते ।
या प्रोक्ता रूपकालप्तिः सा पुनर्द्विविधा भवेत् ।।
प्रतिग्रहणिकैकान्था भंजनीत्यभिधीयते ।
विधाय स्थायमालप्ते रूपकावयवो यदि ।।
प्रतिगृह्येत सा प्रोक्ता प्रतिग्रहणिका बुधैः ।
भंजनी द्विविधा ज्ञेया स्थायरूपकभंजनात् ।।
यदा तत्पदमानेन स्थायो रूपकसंस्थितः ।
नानाप्रकारः क्रियते सा ज्ञेया स्थायभंजनी ।।
तैः पदैस्तेन मानेन समग्रं रूपकं यदि ।
अन्यथा चान्यथा गायेदसौ रूपकभंजनी ।।[२३]

रूपक में स्थित राग और ताल के द्वारा की जाने वाली रूपकालप्ति है, जो दो प्रकार की है—प्रतिग्रहणिका और भंजनी । राग के 'स्थायों' (स्वर संचारों) के द्वारा आलप्ति कर-करके रूपक के 'अवयव' (बंदिश के किसी भाग) को फिर-फिर पकड़ लेने पर 'प्रतिग्रहणिका' रूपकालप्ति होती है। भंजनी फिर दो प्रकार की होती है—स्थायभंजनी और रूपकभंजनी । 'स्थायभंजनी' में स्थाय यानी रूपक के अवयव के शब्द और मूल मान में परिवर्तन किये बिना उस अवयव को भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वरसंचारों के द्वारा नवीन रूप दिया जाता है। उसी प्रकार पूरे रूपक के शब्दों और मूल मान को बनाए रखते हुए अगर पूरे रूपक को 'अन्यथा-अन्यथा' यानी नए-नए प्रकार से गाया जाए तो 'रूपकभंजनी' रूपकालप्ति होती है।

बंदिश गाने के बाद की जाने वाली आलप्ति रूपकालप्ति है क्योंकि वह रूपक के राग और ताल के अनुसार की जाती है। 'प्रतिग्रहणिका' का अर्थ है छोड़-छोड़ कर पुनः-पुनः ग्रहण करने वाली। आज गीत के शब्दों के बिना किया जाने वाला संपूर्ण विस्तार, जिसमें आलाप, तान और सरगम के सभी प्रकार सम्मिलित हैं, प्रतिग्रहणिका रूपकालप्ति है।

'भंजनी' का अर्थ है तोड़ने वाली। बन्दिश (रूपक) के शब्दों को लेकर उनकी मूल धातु अर्थात् स्वरसंचारों को तोड़-तोड़ कर यानी बदल-बदल कर गाने पर भंजनी रूपकालप्ति होती है। इस प्रकार यों तो आज गीत के शब्दों

२३. सं० र०, ३।१९७-२०१ ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को लेकर किये जाने वाले शब्दालाप, बोलबाँट, बोलतान, बोलबनाव आदि इसके अंतर्गत आ सकते हैं लेकिन भंजनी आलप्ति के दोनों प्रकारों—स्थाय-भंजनी और रूपकभंजनी—में गीत के शब्दों का मूलमान नहीं बदलता। आज की भाषा में यों कह सकते है कि मूल गीत में जिस अक्षर को जितना काल (मात्रा या मात्रांश) दिया गया हो, उतना ही काल भंजनी आलप्ति करते समय भी अक्षरों को दिया जाना चाहिए। आज शब्दों को लेकर किए जाने वाले विस्तार में शब्दों के मूल मान को बनाए रखना ज़रूरी नहीं समझा जाता और रूपकभंजनी तो दिखाई ही नहीं देती। अगर रूपकालप्ति का यथावत् प्रयोग किया जाय तो विविधता, विचित्रता और नवीनता के लिये बड़ा क्षेत्र प्राप्त हो सकता है। यह उल्लेखनीय है कि कर्णाटक संगीत में 'संगति' और 'निरवल' में स्थायभंजनी का रूप आज भी मौजूद है क्योंकि इनमें शब्दों का मूलमान बना रहता है।

भंजनी रूपकालप्ति को स्पष्ट करने के लिये यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। मालकौंस राग में पहले एक बन्दिश स्वर-ताल योजना सहित प्रस्तुत है (देखें पृ० १५७-१५८, उदाहरण १)। फिर उसमें स्थायभंजनी के कुछ प्रकार और रूपकभंजनी का एक प्रकार देकर इन दोनों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

बंदिश में से 'लागो माँ' शब्दों को लेकर स्थाय भंजनी के कुछ उदाहरण भी यहाँ प्रस्तुत हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि बंदिश में इन अक्षरों को जितनी-जितनी मात्रा दी गई हैं, उतनी ही मात्रा आलप्ति में भी उन अक्षरों को दी गई हैं। (देखें पृ० १५९, उदाहरण २ और पृ० १६०-१६१, उदाहरण ३)

भंजनी आलप्ति कठिन है क्योंकि इसके दोनों प्रकारों में शब्दों के मूल मान को बदला नहीं जा सकता। इसके लिए रूपक यानी बन्दिश का अत्यधिक अभ्यास आवश्यक है जिससे नवीन प्रकार बनाते समय शब्दों का मूलमान खंडित न होने पाए। यह पूर्व रचित नहीं है इसलिए रूपकभंजनी में प्रयोक्ता के लिए यह ज़रूरी है कि राग में खूब घुल चुका हो और हर बार नए-नए प्रकार बना सके। इसमें हर बार बन्दिश ही नई-नई मालूम होती है। इसके लिए प्रयोक्ता में नवीन उद्भावना करने की शक्ति यानी प्रतिभा अनिवार्य गुण है।

(पृ० १५६ का उदाहरण १)

तीनताल
स्थायी

×				५				०				१३			
											नि॒गं॒	नि॒सां	निध॒	धग॒	म
											कै.	सो.	नी	.	को
नि॒	ध॒	—	—	—	—	—	म	मध॒	नि॒सां	धनि॒	नि॒गं॒	नि॒सां	निध॒	धग॒	म
ला	.	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	गो	मो.	. .	. .	कै.	सो.	नी	.	को
नि॒	ध॒	—	—	ग॒	सा	ग॒	म	ग॒	—	सा	—	सा	ग॒सा	ग॒	म
ला	.	ऽ	ऽ	गो	.	व	न	रा	ऽ	.	ऽ	मो	. .	री	.
ग॒	—	सा	सा	नि॒सा	ग॒म	धनि॒	सां	धनि॒	सां	—					
आँ	ऽ	ख	न	मों.	. .	. .	.	.	.	ऽ					

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंतरा

				मग्	—	म	म	नि्ध्	—	नि्सां	ध्नि्	नि्	सां	सां	सां
				आ	ऽ	वो	स	खी	ऽ	मि.	ल.	मं	.	ग	ल
सांगं्	नि्	सां	—	सां	गं्सां	मंगं्	मं	मंगं्	—	सां	सां	गं्गं्	सां,सां	सांनि्,	नि्नि्
गा.	.	वो	ऽ	आ	..	ज	मो	रे	ऽ	घ	र	का.	..	..	..
ध्,ध्	ध्म्,	मग्	ग्सा	नि्सा	ग्म	ध्नि्	सां	धनि्	सां	—					
..	..	ज.	..	माँ.	..	..	.	.	.	ऽ					

(पृ० १५६ का उदाहरण २)

	×				५				०				१३				
१.	मग्	ध्म	नि्ध्	सांनि्	गं्सां	मंगं्	म	मंगं्	ग्सां	सां नि्	ध्नि्,	नि्गं्	नि्सां	नि्ध्	ध्ग्	म
	ला	.	.	.	.	.	.	गो.	माँ.	. .	. .	कै.	सो॰	नी	.	को
२.	ग्म	-ग्,	मध्	-म,	ध्नि्	-ध्,	नि्सां	ध्नि्	सांगं्	सांनि्	ध्नि्,	नि्गं्	नि्सां	नि्ध्	ध्ग्	म
	ला.	S.,	. .	S.,	. .	S.,	. .	गो.	मा.	. .	. .	कै.	सा.	नी	.	को
३.	सांगं्	सां,नि्	सांनि्,	ध्नि्	ध्,म	ध्म	ग्म,	ग्म	ध्नि्	सांगं्	सांनि्,	नि्गं्	नि्सां	नि्ध्	ध्ग्	म
	ला.	.,.	..,	. .	.,.	. .	..,	गो.	माँ.	. .	. .	कै.	सा.	नी	.	को
४.	गं्सां	[illegible] ा,	सांनि्	ध्नि्,	नि्ध्	मध्,	ध्म	ग्म,	ग्म	ध्नि्	सां,	नि्गं	नि्सां	नि्ध्	ध्ग्	म
	ला.	..,	. .	..,	. .	..,	. .	गो.,	माँ.	. .	.,	कै.	सो.	नी	.	को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

५.	गं॒गं॒	सां,सां	सांनि॒,	नि॒नि॒	ध॒,ध॒	ध॒म	मग॒	ग॒सा,	नि॒ सा	ग॒म	ध॒नि॒,	सांगं॒	नि॒सां	नि॒ध॒	ध॒ग॒	म
	ला.	.,.	..,	..	.,..	..	..	गो.,	माँ.	..	..,	कै.	सो.	नी	.	को

रूपकभंजनी में पूरे रूपक के शब्दों का मूल मात बनाये रखते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत है। उदाहरण ३.

स्थायी

×				५				•				१२			
											सांगं॒	नि॒सां	नि॒ध॒	ध॒ग॒	म
											कै.	सो.	नी	.	को
नि॒	—	—	ध॒नि॒	सांगं॒	सांनि॒	सां	ध॒नि॒	ध॒म	ग॒म	ग॒सा,	सांगं॒	नि॒सां	ध॒	ग॒	म
ला	ऽ	ऽ	..	..	..	.	गो.	माँ.	..	..	कै.	सो.	नी	.	को

नि्	ध्	—	—	ध्--म	म--ग्	साग्	मध्	धम	मग्	ग्सा	सा	साग्	साग्	ग्म	ग्म
ला	.	ऽ	ऽ	गोऽऽ.	.ऽऽ.	ब.	न.	रा.	..	..	.	मो.	..	री.	..
मधम	मग्	ग्सा	सा	नि–साग्	सागम	गमध्	मधनि्	धनि्सां	– नि्	धनि्,					
आँ.	..	ख.	न	माँ.	..	..	..	..	ऽ.	..					

अंतरा

				गम्	ग्	मध्	म	धनि्	ध्	नि्सां	धनि्	नि्	सां	सां	सांनि्
				आ.	.	वो.	स	खी.	.	मि.	ल.	मं	.	ग	ल.
नि् सांगं धनि्	सांग्	सां	—	धनि्	सांग्	सांनि्	सांग्	मंग्	मंग्	सांनि्	सां	सां सां गं गं	सांनि्	नि् नि् सां सां	नि्ध्
गा.	..	वो	.	आ.	..	ज.	मो.	रे.	..	ध.	र	का.	..	..	..
नि्नि्	धम	ग्म	ग्सा	नि–साग्	सागम	गमध्	मधनि्	धनि्सां	– नि्	धनि्,					
..	..	ज.	..	माँ.	..	..	..	..	ऽ.	..					

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आलप्ति के सभी प्रकार अत्यन्त समृद्ध, विविध रूपों वाले और अनेक भंगिमाओं से युक्त हैं और उन्हें ऐसा स्वरूप वर्ण, अलंकार, गमक, स्थाय आदि के द्वारा प्राप्त होता हैं। इसीलिए आलप्ति के उपसंहार में शार्ङ्गदेव ने कहा :—

वर्णालंकारसंपन्ना गमकस्थायचित्रिता ।
आलप्तिरुच्यते तज्ज्ञैर्भूरिभंगिमनोहरा ॥[२४]

'आलाप' के दो प्रकार शार्ङ्गदेव ने रागाध्याय में कहे हैं—रागालाप और रूपकालाप। आलप्ति के दो भेदों में भी राग और रूपक भेद से रागालप्ति और रूपकालप्ति का निरूपण किया जा चुका है। रागालाप और रागालप्ति में कुछ संबंध दिखाई देता है लेकिन रूपकालाप और रूपकालप्ति में नहीं, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा।

रागालाप का यह लक्षण है:—

ग्रहांशमन्द्रताराणां न्यासापन्यासयोस्तथा ॥
अल्पत्वस्य बहुत्वस्य षाडवौडुवयोरपि ।
अभिव्यक्तिर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते ॥[२५]

जहाँ ग्रह, अंश, मंद्र, तार, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, वहुत्व, षाडव, औडव आदि स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हों वह 'रागालाप' कहा जाता है। इसमें राग के लक्षणों की स्पष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए।

रूपकालाप का लक्षण इस प्रकार दिया गया है:—

रूपकं तद्वदेव स्यात्पृथग्भूतविदारिकम् ।[२६]

रागालाप के समान ही रूपकालाप होता है लेकिन इसमें विदारियाँ यानी खण्ड दिखाई देते हैं। दोनों के अन्तर को कल्लिनाथ ने यह कह कर स्पष्ट किया है कि अपन्यास स्वरों पर विना रुके एकाकार रूप में किया जाने वाला रागालाप होता है और वही अपन्यास स्वरों पर रुक-रुक कर करने से रूपकालाप हो जाता है। 'रूपकालाप' में 'रूपक' शब्द प्रबंध (बन्दिश) का सूचक नहीं है, जैसा कि 'रूपकालप्ति' में है।

२४. वही, ३।२०२।
२५. वही, २।२।२३--२४।
२६. वही, २।२।२४।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस प्रकार आलाप और आलप्ति के भेदों के रूप में चार शब्दों से यहाँ परिचय हुआ—रागालाप, रूपकालाप, रागालप्ति और रूपकालप्ति। इनमें से रूपकालप्ति बन्दिश के शब्दों के द्वारा की जाती है, शेष तीन बन्दिश के बिना होते हैं। इसलिये इनमें से पहले तीन प्रकार मोटे रूप में एक वर्ग में आते हैं और रूपकालप्ति अलग रहती है। प्रथम तीन का परस्पर मुख्य अन्तर भी समझ लें। रागालप्ति में कभी आविर्भाव, कभी तिरोभाव और कभी प्रकटीकरण होने के कारण वह अनेक भंगिमाओं से युक्त होती है। रागालाप और रूपकालाप में केवल आविर्भाव होने के कारण अनेक भंगिमाएँ नहीं होती। रागालाप में अपन्यास स्वरों पर अधिक रुकने का निषेध है किन्तु रूपकालाप में इसकी छूट है। यह कहा जा सकता है कि स्वस्थानों के अनुसार की जाने वाली रागालप्ति है, स्वस्थानरहित और बीच में स्वरों पर ज़्यादा रुके बिना किया जाने वाला रागालाप है और स्वस्थानरहित लेकिन बीच में स्वरों पर कुछ रुकते हुए किया जाने वाला रूपकालाप है।

वर्तमान लक्ष्य में ऐसा कोई स्पष्ट अन्तर किया नहीं जाता है क्योंकि आज गायन की दो प्रमुख शैलियों—ध्रुपद और ख्याल—में से ध्रुपद में बन्दिश शुरू होने से पहले जो विस्तार किया जाता है उसमें 'नोम्-तोम्' आदि अक्षरों का प्रयोग अनिवार्य है और ख़याल में बन्दिश से पहले विस्तृत आलाप की परंपरा अब समाप्त हो गई है। फिर भी कुछ दशक पहले तक ख़याल में जो राग का आलाप किया जाता था उसके आधार पर रागालाप और रूपकालाप का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है। पहले बिहाग में रागालप्ति दी जा चुकी है। उसी राग में संक्षिप्त रागालाप और रूपकालाप भी दिया जा रहा है।

रागालाप—

नि् सा ग म प ग—, ग म प नि सा̍ नि—प, नि सा̍ ग̍ म̍ प̍ ग̍—
म̍ ग̍ रे' सा̍—प नि सा̍ ग̍—रे' सा̍ नि ध प, प सा̍—नि ध प ग म प नि—
ध म् प ग म प ग—म ग रे सा – –।

सा नि॒ ध॒ प॒ म्॒ प॒ नि सा—म ग रे सा नि् सा ग म—प सा̍ नि ध प
म् प नि सा̍—म̍ ग̍ रे' सा̍ नि सा̍ ग̍ म̍—प̍ म्', ग̍ म̍ ग̍ रे' नि सा̍—सा̍ सा̍
नि प नि ध प म् प—प प म्, ग म ग रे नि् सा– –।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रूपकालाप—

नि॒ सा ग – – – ग ग ग रे सा प॒ नि॒ सा ग – – – ग रे सा नि॒ सा ग
म प – – – प प प ^{ग}म ग ग म प नि – – – नि नि नि ध प म् प नि
सां॑ – – – सां॑ सां॑ सां॑ प नि सां॑ गं॑ – – – गं॑ गं॑ गं॑ सां॑ गं॑ मं॑ पं॑ – – – पं॑ पं॑
पं॑ मं॑ गं॑ रें॑ सां॑ – – – सां॑ सां॑ नि प नि ध प– प प प ग म ग रे सा - - - ।

वर्तमान लक्ष्य में अनिबद्ध अर्थात् 'उपज' आलाप और तान—इन दो मोटे वर्गों में विभक्त है। इनमें से आलाप में राग का स्वरूप और भावरूप व्यक्त होता है और तान में वैचित्र्य की सृष्टि होती है। आज प्रत्येक राग में दोनों का प्रयोग अनिवार्य सा हो गया है। किन्तु शास्त्रग्रंथों में तान का अलग उल्लेख नहीं मिलता। संभवतः तान आलप्ति का ही एक अंग रही हो या हर राग में तान का प्रयोग अनिवार्य न रहा हो अथवा तान को कोई विशेष महत्त्व न दिया गया हो। वास्तव में विशेष अलंकारों का लयबद्ध रूप में विशेष प्रकार से प्रयोग ही आज की तानक्रिया है जिसका समावेश आलप्ति के लक्षण में 'वर्णालंकारसंपन्ना' के अन्तर्गत हो जाता है।

आलाप, आलप्ति आदि शब्दों में जो 'लप्' धातु है उसमें 'कहना' अर्थ अभिप्रेत है। 'कह' कर तीन प्रकार की अभिव्यक्ति की जा सकती है—विचार की, घटना की अथवा भाव की। नाट्य-संवद्ध संगीत में तो ये सभी संभव हैं। लेकिन नाट्य से स्वतंत्र संगीत के द्वारा, यदि पद हो तो, सीमित रूप में विचार और घटना की अभिव्यक्ति संभव है और पद न हो अथवा 'रागदारी' संगीत में जब पद अत्यन्त गौण हो तब केवल भाव की ही अभिव्यक्ति संभव है। भारतीय संगीत का वास्तविक स्वरूप भावाभिव्यक्ति में ही है। इसी के कारण प्रत्येक राग अलग-अलग व्यक्तित्व बनता है। कला मात्र का प्रयोजन भावाभिव्यक्ति माना गया है। आलाप और तान में से आलाप में ही चित्त को रँग देने की सामर्थ्य है इसलिये वही संगीत में रंजकता लाता है। तान में केवल वैचित्र्य उत्पन्न करने की शक्ति है। सामान्य रूप से आज के शास्त्रीय संगीत में आलाप गौण और तान तथा 'तैयारी' के अधिक प्रधान होते जाने के कारण विचित्रता अधिक है। वह अच्छा तो लगता है और (सामान्य अर्थ में) 'मनोरंजक' भी लगता है लेकिन चित्त को अपने रंग में रँग नहीं पाता, श्रोता को 'तन्मय' नहीं कर पाता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुवपद या ध्रुपद का उद्भव, विकास और वर्तमान रूप

ध्रुपद के विकास की पृष्ठभूमि

नाट्यशास्त्र में निरूपित 'गांधर्व' और 'गान' अर्थात् गीतक और ध्रुवा के तत्त्वों को लेकर प्राचीन शास्त्रीय 'प्रबन्ध' का विकास हुआ। गांधर्व से स्वर, ताल और पद—ये तीन तत्त्व और गान से रस, भाव, प्रकृति आदि के अनुसार नियत छंदों में पदयोजना करके उन्हें गेय रूप प्रदान करना—इन विशेषताओं को लेकर प्रबंध का स्वरूप बना। गांधर्व में गेयांश और गान में पदांश की प्रधानता थी। प्रबंध ने दोनों को लगभग समान महत्त्व प्रदान करके 'धातु-मातु'-युक्त नवीन रूप धारण किया जिसका रचयिता 'वाग्गेयकार' कहलाया। इस नवीन रूप ने 'धातु' और 'अंग' से विशेष रूप से बद्ध होने के कारण 'प्रबंध' संज्ञा प्राप्त की। धातु के रूप में गेयांश यानी पूर्वोक्त 'धातु' का और अंग में पदांश यानी 'मातु' का समावेश हुआ।

धातु—प्रबंध में चार धातुएँ कही गईं—उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग। इनका सबसे पहले उल्लेख सोमेश्वर के 'मानसोल्लास' में इस रूप में मिलता है—

गीतमुद्ग्राह्यते तेन समुद्ग्राहः प्रकीर्तितः।
उद्ग्राहध्रुवयोः संधिः श्लेषान्मेलापको भवेत्॥
पौनःपुन्याद् ध्रुवत्वाच्च ध्रुवकः परिकीर्तितः।
ध्रुवस्याभोगकरणादाभोग इति संज्ञितः॥[1]

अर्थात् गीत का ग्रहण कराने के कारण 'उद्ग्राह', ध्रुव के साथ उद्ग्राह को जोड़ने वाला 'मेलापक', बार-बार प्रयुक्त होने और ध्रुव (अर्थात् स्थाई) होने के कारण 'ध्रुव' तथा ध्रुव का भोग कराने से 'आभोग' संज्ञाएँ हैं। संगीतरत्नाकर के अनुसार 'अन्तरा' नामक एक अन्य धातु का प्रयोग सालग-सूड नामक प्रबन्धों में ध्रुव और आभोग के बीच होता था।

अंग—शरीर के विभिन्न अंगों की तरह प्रबन्ध रूपी पुरुष के भी अंग कहे गये—स्वर, विरुद, पद, तेन, पाट और ताल। इनमें से तेन और पद (नेत्रों

१. मान०, ४।१६।४४१-४४२।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की तरह स्वरूप को प्रकाशित करने के कारण) नेत्रस्थानीय; विरुद और पाट (विरुद यानी यशदान में दान का सम्बन्ध मूलतः हाथ की क्रिया से और पाट यानी वाद्याक्षरों की उत्पत्ति भी हाथों से होने के कारण) हस्तस्थानीय तथा स्वर और ताल (पैरों की तरह प्रबन्ध को गति प्रदान करने के कारण) पादस्थानीय हैं। विभिन्न स्वरों के वाचक स, रि, ग आदि अक्षरों को 'स्वर'; विशेषण पदों को 'विरुद'; मुख्य रूप से ईश्वर के वाचक और मंगल अर्थ से युक्त शब्दों को तथा गौण रूप से 'त', 'न' आदि निरर्थक अक्षरों को 'तेन'; वाद्यों के अक्षरों को 'पाट'; विरुद, तेन, पाट से बचे हुए शब्दों को 'पद' और मंठ, कंकाल आदि को 'ताल' कहा गया।

प्रबन्ध के ६ अंगों में से ताल को छोड़ कर शेष ५ में 'मातु' यानी शब्द रचना का ही विश्लेषण है, क्योंकि इन पाँच अंगों का सम्बंध प्रबन्ध में प्रयुक्त होने वाले सार्थक या निरर्थक शब्द के प्रकारों से ही है। ताल के द्वारा पूरे प्रबंध का मान होता है और वह शब्द का प्रकार नहीं है। यद्यपि 'धातु' के रूप में स्वर भी ताल की तरह पूरे प्रबंध में व्याप्त रहता है लेकिन स्वरों के वाचक अक्षरों का गीत की शब्द-रचना में प्रयोग होने पर उन अक्षरों को ही 'स्वर' नामक अंग कहा गया है इसलिये इसका सम्बन्ध पदांश यानी मातु से है जब कि ताल के द्वारा पूरे प्रबन्ध के गेयांश को मापा जाता है इसलिये इसका सम्बन्ध धातु से है।

संगीतरत्नाकर आदि ग्रन्थों में प्रबन्ध-लक्षण में प्रबन्ध की चार 'धातु' यानी खण्डों की रचना और उनके गेय से संबंधित नियम भी दिये गये हैं। इस प्रकार शब्द-रचना और गेय-योजना—दोनों का समान रूप से ध्यान रखा गया है। जिन प्रबंधों के लक्षण विभिन्न ग्रंथों में प्राप्त हैं उन्हें देखने से पता चलता है कि प्रबंधों में बहुत विविधता थी। लेकिन सरलता और संक्षेप की जो प्रवृत्ति मध्ययुग में आई उससे संगीत भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। फलस्वरूप प्रबंध की परम्परा का ह्रास हुआ। नई रचनाओं में पदांश गौण हुआ और पद की अपेक्षा स्वरांश प्रधान होकर उभरने लगा जिसका संकेत 'संगीतपारिजात' में इस प्रकार मिलता है—

वर्णैरेतेषु स्वल्पत्वं स्वरैरत्र समीरणा।[२]

प्राचीन प्रबंधों से नये ध्रुवपद, दरु, अष्टपदी आदि गीतों का भेद स्पष्ट

२. सं० पा०, पृ० ५९८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करने के लिये यहाँ कहा गया है कि ध्रुवपद आदि में वर्ण अर्थात् शब्दों की अल्पता और स्वरों का विस्तार ज्यादा होता है। इसमें यह स्पष्ट संकेत है कि प्रबन्धों में शब्द का महत्त्व ध्रुवपदादि की अपेक्षा अधिक था और ध्रुवपदादि में स्वर का फैलाव अधिक था।

ध्रुवपद का लक्षण सबसे पहले मध्ययुगीय ग्रंथ 'अनूप-संगीत-रत्नाकर' में मिलता है जिसमें कहा गया है कि संस्कृत या मध्यदेशीय भाषा में रचित, दो या चार पंक्तियों से युक्त, स्त्री-पुरुष संबन्धी कथा वाला, शृंगार आदि रस और भावों से युक्त पद, रागालापयुक्त, अंत्यानुप्रास या पादांत यमकयुक्त, चार चरण सहित तथा उद्ग्राह, ध्रुव और आभोग से युक्त ध्रुवपद होता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रबन्ध की धातुएँ लेकर ध्रुवपद की रचना हुई।

ध्रुवपद के पद और घनाक्षरी का संबंध

घनाक्षरी के उद्भव और विकास के बारे में अनेक मत हैं। विद्वानों द्वारा घनाक्षरी को मूलतः छन्द मानकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, डिंगल आदि के छंदों से जोड़ने की कोशिशें की गईं। कुछ लोगों ने ध्रुवपद शैली या किसी अन्य गेय विधा से और बैजू तथा बख्शू से इसका संबन्ध बताया। इस संबन्ध में हमारी धारणा इस प्रकार है।[3]

घनाक्षरी की पद रचना में अक्षर ह्रस्व हों या दीर्घ, सबको ह्रस्व रूप में ही पढ़ा जाता है। कविवर सुमित्रानंदन पंत के अनुसार ऐसा करने से अक्षरों के पास-पास आ जाने के कारण उनमें घनता आ जाती है इसीलिये घनाक्षरी नाम पड़ा।

घनाक्षरी के मूल रूप में ८–८–८–७ अक्षरों की यति से हर चरण में ३१ अक्षर होते हैं। कभी-कभी १६–१५ पर भी यति हो सकती है। पहली योजना में चार चरणों में अन्तर प्रास और चारों चरणों के अन्त में अन्त्यानुप्रास होता है। घनाक्षरी के इन नियमों से घनाक्षरी के पाठक परिचित होंगे। लेकिन इस संबन्ध में हम इस ओर ध्यान दिलाना चाहेंगे कि छन्दःशास्त्र के नियम के अनुसार कभी-कभी किसी ह्रस्व अक्षर को दीर्घ या दीर्घ को ह्रस्व तो पढ़ा जा सकता है लेकिन हर अक्षर को लघु पढ़ने का

---

३. ध्रुवपद के उद्भव और विकास पर विशेष प्रकाश लेखिका की पुस्तक "भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान" में डाला गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नियम या छूट वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, डिंगल. हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं के छन्दों में नहीं थी। दूसरी ओर लघु को गुरु या प्लुत बनाने, गुरु को लघु या प्लुत करने अथवा एक मात्रा में अनेक अक्षरों के प्रयोग की पूरी छूट संगीत में है। संगीत की इस सुविधा का घनाक्षरी में प्रयोग किया गया है।

छन्द के शास्त्रकारों ने घनाक्षरी को छन्दःशास्त्र का ही छंद सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और सूरदास को प्रथम घनाक्षरी रचयिता भी कहा गया। लेकिन इनसे भी पहले नायक वैजू का घनाक्षरी का ध्रुवपद प्राप्त होता है। सूरदास के जन्म समय अर्थात् १४८४ ई० के लगभग बैजू मानसिंह तोमर के दरबारी गायक थे इसलिये वे सूरदास से पूर्ववर्ती हैं। इस आधार पर सूरदास नहीं, बल्कि बैजू घनाक्षरी के प्रथम रचयिता कहे जाने चाहिएँ। बैजू के निम्न ध्रुपद में घनाक्षरी की लय पूरी तरह सुरक्षित है, भले ही एकाध अक्षर कम ज़्यादा है जो मौखिक परम्परा का परिणाम हो सकता है:—

बोलियो न डोलियो ले आउँ हूँ प्यारी को सुन,
हो सुघर वर... ... ..., अवहीं मैं आउँ हूँ।
मानिनी मनाय के, तिहारे पास ल्याय के,
मधुर बुलाय के तो, चरण गहाउँ हूँ।
सुनरी सुंदर नार, काहे करत (करे) एती रार,
मदन डारत मार, चलत पत बुझाउँ हूँ।
मेरी सीख मान कर, मान न करो तुम ऐसे,
'वैजू' प्रभु प्यारे सों, बहियाँ गहाउँ हूँ।

मानसिंह तोमर के ही दरबारी गायक बख्शू के निम्न ध्रुवपद में भी घनाक्षरी है:—

बसन सुधार कहूँ, बासियत बार कहूँ,
पोइयत हार कहूँ, काम की कहल है।
कहूँ भुज ताड़ कहूँ, काढियत आड़ कहूँ,
मिलबे की चाड़ कहूँ, जोवन लहल है।

शाहजहाँ के दरबारी ध्रुवपद-गायक जगन्नाथ ने बैजू और गोपाल को बख्शू की अपेक्षा पूर्ववर्ती बताया है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि घनाक्षरी के सर्वप्रथम रचयिता भी बैजू हैं, सूरदास नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रबन्ध के तत्त्वों को लेकर विकसित हुई ध्रुवपद की नई शैली के लिये शब्द रचना भी विशिष्ट प्रकार की होना आवश्यक समझा गया होगा जिसमें नवीनता, सहज आकर्षकता और वैचित्र्य हो। इसलिये ऐसी पद रचना की गई जिसे विशेष ढंग से ताल में बाँध कर तो गाया ही जा सके, लेकिन बिना गाए केवल पाठ भी किया जाय तो भी ये सारे गुण उसमें बने रहें। इस प्रकार रचित नई पद शैली के रूप में घनाक्षरी अथवा कवित्त का उद्भव हुआ। यह इतनी आकर्षक थी कि कविगण उसे ग्रहण करने के लोभ का संवरण नहीं कर सके होंगे। फलतः संगीत की गेय विधा का काव्य के क्षेत्र में संक्रमण हुआ और आगे चलकर वह हिन्दी कवियों का 'लाडला' छन्द बन गया तथा बाद में, छन्द के मौलिक नियमों का भंग करने के बावजूद, छन्दःशास्त्र में भी 'मुक्तक' वर्ग के रूप में प्रवेश पा गया। दरबारों में संगीतज्ञ और कवि एक साथ रहते और परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते थे। इसलिये संगीतज्ञों से कवियों ने इसे ग्रहण कर लिया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। संगीत-जगत् के राग ध्यानों ने कवियों और मध्य युग के चित्रकारों को प्रभावित किया, यह सर्वविदित है।

अधिकांश ध्रुवपद मौखिक परम्परा से चले आए हैं। बख्शू के ध्रुवपदों का जो संग्रह 'सहसरस' के नाम से प्राप्त होता है उसमें या बैजू आदि अन्य गायकों के ध्रुवपदों में चौताल का उल्लेख नहीं मिलता। गुजराती के छंद-ग्रंथों के अनुसार घनाक्षरी छंद मूलतः गेय था जिसमें हर मात्रा में एक-एक अक्षर गाया जाता था। इसके अनुसार संभवतः १६ मात्रा के किसी ताल में गाया जाता होगा। लेकिन अबुलफ़ज़ल के अनुसार कवित्त, सवैये को बारह मात्राओं के ताल में गाया जाता था। आठ-आठ अक्षर के खंडों वाले पद को बारह मात्रा के ताल में गाने के लिये ४ मात्रा का कर्षण यानी ८ अक्षरों को १२ मात्राओं में खींच ले जाना अनिवार्य है जो किसी नियम के अनुसार किया जाता होगा। आज घनाक्षरी पद वाले ध्रुपदों में १, ३, ५, ७ संख्यक अक्षरों का कर्षण करके उन्हें २-२ मात्राओं में गाया जाता है। इस प्रकार छंद की ८ मात्राओं को ताल की १२ मात्राओं में बिठा कर ध्रुपद की गेय रचना बना ली जाती है। घनाक्षरी के अन्तिम ७ अक्षर वाले खंड में सातवें अक्षर को तीन मात्राओं में खींच कर मात्रा पूर्ति कर ली जाती है।

ध्रुवपद के गेयांश और पदांश का संबन्ध

ध्रुवपद के वर्तमान स्वरूप में एक विशेषता और भी दृष्टिगोचर होती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है और वह यह है कि या तो इनकी रचना ही त्रिकलात्मक होती है यानी उसमें तीन-तीन मात्राओं के खंड बन जाते हैं अथवा उसकी गेय-योजना ऐसी की जाती है जिसमें त्रिकल खंड बन जायँ। जैसे राग केदार के एक ध्रुपद का निम्न पद देखें :—

सरस सीस मोर मुकुट पाछन को राजत कुंडल
ललित कुटिल अलक भाल विशाल
तिलक मृगमद के नीके झलके।
भौंह धनुष नैन कमल नास कीर अधर बिंब
दशन कुंद कंठ कंबु तामध मणि कौस्तुभ शोभे झलके ॥[४]

इस ध्रुपद में प्रायः त्रिकल खण्ड हैं, केवल 'राजत कुंडल', 'नीके झलके' और 'कौस्तुभ शोभे झलके' में नहीं हैं। लेकिन स्वर-योजना ऐसी है जिसमें त्रिकल इस प्रकार बन जाते हैं—राऽऽ जतऽ कुंऽऽ डलऽ, नीऽके झलके, कौऽऽ स्तुऽभ शोऽभे झलके।

ध्रुपद में प्रयुक्त चौताल में तो चतुष्कल खण्ड बनते हैं लेकिन ऊपर बताई गई रीति से पद और गेययोजना त्रिकल होने के कारण ताल और गेय परस्पर एक दूसरे को काटते हुए चलते हैं। ध्रुपद में त्रिकल खंडों की योजना के बारे में यह संभावना व्यक्त की जाती है कि ध्रुपद में 'तिगुन' की लय का प्रयोग बहुत पुराना नहीं है। जब से इसका प्रयोग होने लगा तभी से ध्रुपद की रचना भी त्रिकल होने लगी क्योंकि गेय के चतुष्कल खंडों को तिगुन की लय में गाने में कठिनाई होती है लेकिन त्रिकल खंड होने पर तिगुन में प्रयोग करना आसान हो जाता है।

ध्रुपद का पद और 'पद'-परंपरा से उसका सम्बन्ध

ध्रुवपद अथवा ध्रुपद की कुछ विशेषताएँ हैं जो इस प्रकार हैं :—

१. शुरू में 'ध्रुव' अथवा 'टेक' जिसकी आवृत्ति होती है। २. पद के विभिन्न खंडों के अंत में समान तुक यानी अन्त्यानुप्रास की योजना। ३. कभी-कभी अवान्तर खंडों में भी प्रास की योजना। ४. अन्तिम कड़ी में कवि की 'छाप'। ये विशेषताएँ घनाक्षरी प्रकार के और अन्य प्रकार के ध्रुवपदों में भी मिलती हैं। यद्यपि घनाक्षरी में बँधे ध्रुपदों में ध्रुव या टेक अलग नहीं होती लेकिन घनाक्षरी की पहली विदारी ही ध्रुव बना ली जाती है।

४. संगी०, भाग ३—पं० ओमकारनाथ ठाकुर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपर्युक्त विशेषताओं का मूल प्राय: जयदेव के गीतगोविंद में माना जाता है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि संस्कृत में अन्त्यानुप्रास-युक्त गेय पद शैली का सर्वप्रथम रूप 'गीतगोविंद' में प्राप्त होता है। गीतगोविन्द पर बौद्धों के चर्यागीतों का बहुत प्रभाव है। इसके 'विहरति हरिरिह सरसवसन्ते' ध्रुव वाली अष्टपदी का ही रूप 'अकट हूँ भव इ गअणा' ध्रुवपंक्ति वाले चर्यागीत में है। लेकिन प्रबन्धों के रूप में चर्यागीतों की गेय परंपरा न मिलने के कारण उन्हें प्रबन्ध नहीं कहा जाता। गीतगोविंद को तो प्रबन्धगान का अवशेष माना ही जाता है।

इस सम्बन्ध में हम साहित्य और संगीत के जिज्ञासुओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहते हैं कि स्तोत्रों की परम्परा गीतगोविंद की अपेक्षा बहुत प्राचीन है और उसमें पदशैली की प्राय: सभी विशेषताएँ हैं। अनुप्रास, अंतरप्रास, अन्त्यानुप्रास, छोटी या बड़ी ध्रुव पंक्ति, शब्दमाधुर्य और गेयता—ये सभी उनमें हैं। आदि शंकराचार्य के नाम से ही कम से कम दो सौ स्तोत्र कहे जाते हैं। वे सभी उनकी रचनाएँ न भी हों तो भी कुछ के बारे में तो कोई संदेह व्यक्त नहीं किया जाता; जैसे-'शिवापराध समापन स्तोत्र' जिसमें 'क्षन्तव्यो मेऽपराध: शिव शिव शिव भो महादेव शंभो' ध्रुव पंक्ति है। 'भज गोविंदं मूढमते' स्तोत्र से संस्कृतानुरागी परिचित हैं। जयदेव ने जितने प्रकार की अष्टपदियाँ रची हैं, प्राय: उन सभी का मूलरूप स्तोत्रों में देखा जा सकता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'अष्टक' प्रकार के स्तोत्र भी अत्यन्त प्राचीन हैं। संभव है कि 'अष्टपदी' इनसे प्रभावित हो।

प्रबन्ध का सम्बन्ध 'ध्रुव' नामक प्रबन्ध, 'ध्रुव' नामक धातु, 'ध्रुव' अथवा 'ध्रुवपंक्ति' से भी जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। उल्लेखनीय है कि कुछ समय पूर्व तक ध्रुपद गायकों में 'प्रबन्ध' नाम से एक विशेष प्रकार के गीत का प्रचलन था जिसका ध्रुपद से बहुत साम्य है।

ध्रुपद के पद आज जिस रूप में मिलते हैं उनमें इस गीत की विषयगत विशेषताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें वर्ण्य विषय की विविधता है। नवरस वर्णन से लेकर भक्ति, राजस्तुति, ईशस्तुति, उत्सव-वर्णन, धर्मतत्त्व-निरूपण, पुराण-विषयक कथाएँ, मत सिद्धान्त-निरूपण, संगीतशास्त्र के सिद्धांत और विविध विषयों आदि का निरूपण होता है। बैजू, गोपाल, तानसेन, चिंतामणि आदि के ध्रुपद अत्यन्त प्रचलित हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुपद की गानशैली

ध्रुपद की गान शैली का आज जो स्वरूप है वह संगीतरत्नाकर में वर्णित 'आलप्ति' से घनिष्ठ सम्बंध रखता है। तदनुसार ध्रुपद का गान चार चरण में होता है। पहले चरण में 'रागालप्ति' यानी 'नोम् तोम्' आलाप है। दूसरे में ध्रुपद का 'प्रबन्ध' अर्थात् गीत आता है। तीसरा चरण लय प्रयोग यानी 'लयबाँट' को समेटता है और चौथे चरण में 'भंजनी रूपकालप्ति' यानी 'बोलबाँट' आती है। अन्तिम दो चरण एक साथ मिले-जुले भी हो सकते हैं। 'नोम् तोम्' में नों, तों, री, तन, दिरि, नुम् आदि जिन अक्षरों का प्रयोग किया जाता है उनका सम्बन्ध ईश्वर के वाचक 'ओम्' 'त्वम् अनन्तम्', 'हरिः' 'तेन' आदि अथवा त, न आदि निरर्थक वर्णों के रूप में बताये गये 'तेन' नामक अंग से बताया जाता है। इन वर्णों के द्वारा किया जाने वाला आन्दोलन मींड गमक-युक्त आलाप शुरू में लयरहित होकर क्रमशः लयबद्ध हो जाता है और अन्त में गमकयुक्त तान का रूप ले लेता है। गीतकों के निरर्थक अक्षरों से युक्त 'उपोहन' और 'प्रत्युपोहन' नामक अंगों और 'पंचतालेश्वर' प्रबंध के शुरू में किये जाने वाले 'अताल' आलाप से भी 'नोम तोम्' आलाप का संबंध हो सकता है। लेकिन चार 'स्वस्थानों' यानी खंडों के अनुसार की जाने वाली रागालप्ति का स्वरूप 'नोम् तोम्' में विशेष रूप से दिखाई देता है।[५]

इसके बाद ध्रुपद का पूरा गीत गाया जाता है जिसमें चार खण्ड होते हैं—स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग। प्रबन्धों में भी चार खण्ड (धातु) कहे गये हैं जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। उनमें से उद्ग्राह और मेलापक तो लुप्त हो गए हैं लेकिन पुनः पुनः प्रयोग और ध्रुवत्व के कारण 'ध्रुव' धातु की समानता ध्रुपद की 'ध्रुव'पंक्ति से है और ध्रुपद के 'स्थायी' नामक प्रथम खंड में उसका अवशेष कहा जा सकता है। 'अंतरा' धातु ध्रुपद में इस रूप में सार्थक है कि वह 'स्थायी' और 'संचारी' के 'अन्तर' (बीच) में है, यद्यपि प्रबन्ध में उसका स्थान ध्रुव और आभोग के बीच में था। संचारी नाम से प्रबन्ध में कोई खंड नहीं है। आभोग पूरे गीत का समग्र रूप से भोग कराता है इसलिये सार्थक है। जिन ध्रुपदों में केवल स्थायी और अन्तरा ही होता है उनमें अंतरा संज्ञा सार्थक नहीं होती क्योंकि वह गीत का अन्तिम खंड होता है। उस स्थिति में वह आभोग के समकक्ष रखा जा सकता है।

---

५. 'रागालप्ति' के लिये देखें " 'अनिबद्ध' अथवा 'आलप्ति' की पृष्ठभूमि और स्वरूप' " लेख।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुपद शैली का तीसरा चरण है लयबाँट या 'लयबन्त'। इसमें सरल और क्लिष्ट, सादे और त्रिरावृत्त यानी तिहाईदार अनेक प्रकार के लय-प्रयोग किये जाते हैं। यह ध्रुपद का बहुत कठिन भाग है जिसके लिये उर्वर मस्तिष्क, आशुबुद्धि, लय पर नियंत्रण, कंठ पर प्रभुत्व व स्थिरता और ताल का पक्कापन अनिवार्य है।

इसी से जुड़ा हुआ ध्रुपद गायकी का अन्तिम चरण है 'बोलबाँट' का। संगीतरत्नाकर की रूपकालप्ति के दो भेदों—स्थायभंजनी और रूपकभंजनी—का इसमें सरल रूप है। गीत के शब्दों को लेकर उसके गेयांश का भंजन करते हुए यानी विविध स्वर सन्निवेशों में सजाते हुए प्रयोग करना 'भंजनी रूप-कालप्ति' है। इसमें शब्दों के मूल मान को बदले बिना केवल स्वरयोजना बदली जाती है। आज इतना अंतर ज़रूर है कि बोलबाँट में मूल मान भी बदल जाता है। गीत के 'बोल' यानी शब्दों को विभिन्न प्रकार से बाँटने अर्थात् स्वर और काल दोनों के मूल रूप को विभाजित करके नई-नई योजना करने के कारण इसे 'बोलबाँट' कहा जाता है।

ध्रुपद की गानशैली का सौंदर्यतत्त्व-परक विश्लेषण

चित्त पर पड़ने वाले प्रभाव या अनुभूति की दृष्टि से ध्रुपद की गानशैली की कुछ निजी विशेषताएँ हैं। विलंबित लय से शुरू करके क्रमशः द्रुत की ओर बढ़ते हुए नोम् तोम् आलाप की क्रिया अत्यन्त आकर्षक और चित्त को क्रमशः द्रुति से दीप्ति की ओर ले जाती है। लयबद्ध और गमकयुक्त द्रुत आलाप के तुरन्त बाद मध्य विलंबित लय में पद के गान से जो वैपरीत्य खड़ा होता है वह, चित्त पर प्रभाव की दृष्टि से, ध्रुपद शैली का प्राण है। द्रुत लय और गमक आदि के कारण चित्त तनाव या खिंचाव (tension) की स्थिति में आ जाता है जो पद के शुरू होते ही समाप्त हो जाता है और श्रोता का मन पूरी तरह विश्रान्त हो जाता है, उसे एक चैन की अनुभूति होती है। लेकिन उत्कृष्ट भाव, कंठध्वनि के गाम्भीर्य, विलंबित-मध्य लय के योग और मृदंग की संगति के कारण गायन के प्रभाव में शिथिलता नहीं आती इसलिए चित्त को आनंदानुभूति होती है और वह ढीला नहीं पड़ता। नोम् तोम् आलाप की द्रुति और दीप्ति पूरी तरह समाप्त नहीं होती बल्कि कुछ शमन होकर चित्त 'प्रसाद' की स्थिति में आ जाता है और गीत के चारों खंड गाने तक स्थिर हो जाता है। इसके बाद होने वाले लय-वैविध्य से चित्त पर बड़ा अद्‌भुत प्रभाव पड़ता है और एक प्रकार की लोकोत्तरता के कारण चित्त चमत्कृत हो जाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। लय का काम संगीत के मर्मज्ञ और सामान्य सभी श्रोताओं को प्रिय लगता है क्योंकि लय और बोल से गुँथा हुआ बोलबाँट का काम स्वर, पद और ताल के वैविध्य के कारण सभी के लिए रंजक होता है।

इस प्रकार स्वर, पद और ताल—इन तीनों का उत्कृष्ट रूप ध्रुपद शैली में है। मृदंग अर्थात् पखावज जैसे गंभीर, मधुर और वातावरण को पूरित करने वाली ध्वनि से युक्त वाद्य का प्रयोग इस शैली की भव्यता में वृद्धि करता है। इसकी साधना कठिन और श्रमसाध्य होने और इसका गान सभी तरह के श्रोताओं के लिये हृदयरंजक होने के कारण इसे श्रेष्ठ स्थान दिया गया और ध्रुपद-गायक को भी श्रेष्ठ माना गया।

ध्रुवपद-गान के आश्रय स्थल

ध्रुपद गान के दो प्रमुख आश्रय-स्थान रहे हैं—वैष्णव मंदिर और राज-दरबार। ये दो धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होती रहीं और अनेक ध्रुपद एक से दूसरी में ग्रहण किये गये। मंदिरों में वहीं के वातावरण में पले और शिक्षित हुए भक्त गायक गान करते थे जिनका प्रमुख लक्ष्य ईशस्तुति था। इष्ट देवता के 'सेवा' समयों के अनुसार निश्चित समय पर नियत रीति से गान होता था। उसमें लोकरुचि या मनोरंजन का प्रश्न न होने के कारण प्रायः कोई बड़े परिवर्तन नहीं हुए। वहाँ के पद भी मूल रूप में सुरक्षित रहे। दूसरी ओर, दरबारों में आश्रयदाता की प्रसन्नता, दरबारियों की रुचि, वैचित्र्य की सृष्टि, 'वाहवाही' आदि अनेक कारणों से दरबारी ध्रुपद गान शैली में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। आज के शास्त्रीय संगीत का ध्रुपद इसी परम्परा की देन है।

ध्रुवपद गान का अभिनय तथा नृत्य से सम्बन्ध

मंदिरों में 'देवदासी' अथवा नृत्यांगनाओं की प्रथा से सभी परिचित हैं। ये मंदिरों के इष्टदेव के प्रति समर्पित होती थीं और वहाँ गाये जाने वाले पदों के साथ नृत्य व अभिनय करती थीं। इसी प्रकार राजदरबारों में भी ध्रुवपद के साथ नृत्य की परम्परा रही है, यद्यपि पिछले ६०–७० वर्षों में इसका लोप होता गया और आज पूरे भारत में इसका नाम ही शेष रह गया है। 'सहस रस' के ध्रुवपदों में 'पात्र' अर्थात् नर्तकी की शिक्षा से सम्बन्धित विषयों का जिस रूप में वर्णन है, उससे भी ध्रुवपद के साथ नृत्य की पुष्टि होती है। नेपाल के ध्रुपद गायक स्व० श्री० टी० ऍल्० राणा ने हमें बताया था कि कुछ वर्ष पूर्व तक नेपाल दरबार में इस प्रकार के गान-अभिनय-नृत्य की परम्परा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

थी। उन्होंने स्वयं अपनी गुरु बहनों द्वारा पखावज और गान की संगति के साथ गुरु माँ को लास्य प्रधान नृत्य करते देखा था। ध्रुपद के साथ वे ऐसा नृत्य करती थीं कि गुणी लोग भी चकित हो जाते थे, 'सहसरस' की भाषा में 'आपा-आपा' किया करते थे। स्व० ठाकुर जयदेव सिंह ने भी ध्रुपद के साथ नृत्य व अभिनय की पुष्टि, अपनी बाल्यावस्था में किये गये दर्शन के आधार पर, की थी। भावभट्ट के ग्रंथ 'संगीत-अनूपांकुश' में भी ध्रुवपद के उस रूप का उल्लेख है जिसमें ध्रुवपद के साथ नृत्त की बात कही गई है और उसे 'ध्रुवपदनृत्तम्' कहा गया है। इसके लक्षणों में उद्ग्राह, ध्रुव और आभोग धातुओं का उल्लेख भी किया गया है।

ध्रुवपद गायन और बानियाँ

ध्रुपद गान में डागर, खंडार, नोहार और गोवरहार बानियों का उल्लेख प्रायः किया जाता रहा है और उनका सम्बन्ध शुद्धा, भिन्ना आदि गीतियों से भी जोड़ा जाता रहा है। लेकिन इन बानियों और उनके साथ गीतियों के सम्बन्ध के बारे में कोई तर्कसंगत स्पष्टीकरण, विश्लेषण या भेदक विशेषताएँ प्राप्त नहीं होतीं और जो कुछ इस बारे में कहा जाता है उसकी पुष्टि उन बानियों के ध्रुपद गान से नहीं होती।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि गांधर्व, गान और प्रबन्ध की दीर्घ, सुदृढ़ और अत्यन्त विकसित परम्परा के तत्त्व लेकर अपनी मौलिकता का पुट देकर जिस ध्रुवपद शैली का विकास हुआ वह 'धातु' और 'मातु', गेय और पद दोनों दृष्टियों से उत्तम कही जा सकती है। इसमें गीत, वाद्य और नृत्य-अभिनय का एक साथ योग होने की स्थिति में संगीत की परिभाषा— 'गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते'—की दृष्टि से यह उत्कृष्ट शैली कही जा सकती है। परिवर्तन और सरलीकरण की प्रवृत्ति से प्रभावित होकर बीसवीं शताब्दी में इसका लोप होने लगा था। लेकिन पिछले लगभग १५ वर्षों में हुए प्रयत्नों के आधार पर यह आशा की जा सकती है कि ध्रुपद लुप्त नहीं होगा बल्कि फिर से नई जीवन शक्ति लेकर फूलेगा—फलेगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ख़्याल के 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' का विश्लेषण

ख्याल की पृष्ठभूमि

भरत ने 'गांधर्व' और 'गान' के तीन तत्त्व कहे—स्वर, ताल और पद। 'प्रबन्ध' भी इन तीनों के संयोग का परिणाम था क्योंकि उसके छह अंगों में स्वर, ताल और पद—यही तीन मुख्य अंग थे। इसी परम्परा में 'ध्रुवपद' अथवा 'ध्रुपद' का विकास हुआ। और ख़्याल की रचना भी इन्हीं तीन से हुई है।

मध्ययुग में सरलीकरण और संक्षेपीकरण की जो प्रवृत्ति सभी कलाओं में व्याप्त हुई, उसी के फलस्वरूप प्रबन्ध का परिवर्तित रूप ध्रुवपद का आकार लेकर आया। प्रबन्धों में शब्द का महत्त्व अधिक था और स्वरांश अपेक्षाकृत गौण। इसीलिये ध्रुवपद, दरु, अष्टपदी आदि स्वरप्रधान गीतों पर संगीत पारिजातकार ने यह टिप्पणी की—'वर्णैरेतेषु स्वल्पत्वं स्वरैरत्र समीरणा।' अर्थात् यहाँ (ध्रुवपद आदि में) वर्ण यानी शब्द की अल्पता और स्वरों का विस्तार अधिक होता है। स्पष्ट है कि प्रबन्धों की अपेक्षा ध्रुवपद में शब्दांश कम था, स्वरांश अधिक। स्वर की प्रधानता की यह प्रवृत्ति क्रमशः वृद्धि पाती गई और उसकी चरम परिणति ख़्याल में हुई।

लेकिन ध्रुवपद शैली अत्यन्त श्रमसाध्य और कठिन थी। साथ ही लोक-रुचि में परिवर्तन के कारण अधिक रंजक और सरल तथा नई स्वरप्रधान शैली के रूप में ख्याल उभर कर आया जिसमें न ध्रुवपद जितनी जकड़न थी और न वैसा शब्दों का बाहुल्य।

ख़्याल शब्द और उससे जुड़ी धारणाएँ

जौनपुर के सुलतान हुसैनशाह शर्की को ख़्याल का आविष्कारक कहा जाता है जिनका काल पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। कैप्टेन विलर्ड जैसे, भारतीय संगीत पर लेखनी चलाने वाले विदेशी लेखक ने अमीर ख़ुसरों को ख़्याल का आविष्कर्ता कहा। लेकिन विद्वानों द्वारा इसे प्रामाणिक नहीं माना जाता।

एक धारणा यह भी है कि फ़ारसी भाषा का 'ख़्याल' और संस्कृत का 'ध्यान' समानार्थक हैं इसलिये संभव है कि देशी रागों और राग-रागिणी परम्परा के साथ अभिन्न रूप से जुड़े ध्यानों से ख़्याल का संवन्ध रहा हो।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभिन्न प्रान्तों में 'ख्याल' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। उदाहरण के लिए—राजस्थान में नाटक, खेल, चित्रकार के लिये। इन प्रयोगों में ख्याल का मुख्यार्थ यानी कल्पना प्रधान है जिसका विशेष संबन्ध इन सभी से है। गायन के ख्याल में भी कल्पना के लिये बहुत गुंजाइश है। संभवतः इस कारण ख्याल नाम दिया गया हो।

बिहार में विवाह के अवसर पर झूमरा जैसे तालों में गाये जाने वाले गीतों को 'खयाल' कहा जाता रहा है। भारतीय संगीत में प्रचलित ख्यालों में आज भी विवाह प्रसंग के गीतों की प्रचुरता है।

सूफ़ियों के ख्याल से भी शास्त्रीय संगीत के ख्याल का संबन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। सूफ़ी परम्परा में काव्य-रचना का एक प्रकार खयाल था। इसमें कल्पना के लिये बहुत गुंजाइश थी और आध्यात्मिक सिद्धान्तों को साधारण शब्दों के माध्यम से अथवा अन्योक्ति के द्वारा व्यक्त किया जाता था। ख्याल-संबन्धी विभिन्न मतों में से ठाकुर जयदेव सिंह का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि चूंकि दोनों में ख्याल शब्द समान रूप से था इसलिये ख्याल गायन पर सूफ़ियों के ख़याल के प्रभाव की कल्पना कर ली गई। वास्तव में दोनों में कोई संबन्ध नहीं था।

ख्याल का निबद्धत्व

ध्रुवपद की ही तरह ख्याल के भी दो पक्ष हैं—प्रबन्ध यानी निबद्ध रचना और गान शैली। प्रबन्ध का अर्थ गीत या बंदिश है और गान शैली यानी उसमें किया जाने वाला विस्तार। 'संगीतरत्नाकर' की भाषा में ये क्रमशः 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' हैं। यद्यपि भारतीय संगीतशास्त्र में इन दोनों संज्ञाओं का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है लेकिन यहाँ उपर्युक्त अर्थ ही अभिप्रेत हैं।

'संगीतरत्नाकर' में निबद्ध यानी 'प्रबन्ध' के दो अंग कहे गये हैं—'वाक्' अथवा 'मातु' और 'गेय' अथवा 'धातु'। इनका रचयिता 'वाग्गेयकार' कहलाता है—

वाङ् मातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते।
वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः॥[1]

---

१. सं० र०, ३।२।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाक् अथवा मातु गीत की शब्द रचना है और गेय अथवा धातु स्वर-ताल योजना। ये दोनों ही गीत में निबद्ध हैं इसलिये ख़्याल के निबद्ध-अंश का विश्लेषण प्रस्तुत है।

ख़्याल की निबद्धगत विशेषताएँ

ख़्याल के गीत उत्तर भारतीय भाषाओं में होते हैं। अधिकांश पदों की भाषा ब्रज, राजस्थानी और हिन्दी मिश्रित पंजाबी होती है। वर्ण्य-विषय ध्रुपद की तरह विविध प्रकार के होते हैं; जैसे—ईश-स्तुति, राज-स्तुति, नवरस, नीति-संबंधी विषय, कृष्ण-लीला, नायक-नायिका भेद, ऋतु वर्णन, विवाह प्रसंग, संगीत के सिद्धान्त व अन्य विषय आदि। अधुना प्रचलित ख़्यालों में श्रृंगार रस-संबंधी विषय और विवाह प्रसंग से सम्बन्धित रचनाएँ सबसे ज़्यादा पाई जाती हैं।

ख़्याल के पद में दो खण्ड होते हैं जो 'स्थायी' और 'अन्तरा' कहलाते हैं। मध्ययुगीय प्रबन्धों में भी द्विखंड (द्विधातुक) प्रबन्ध होते थे। यद्यपि उनमें जो दो खण्ड अनिवार्य थे उनसे ख़्याल के खंड भिन्न हैं। प्रवन्ध में 'उद्ग्राह' और 'ध्रुव' की स्थिति अनिवार्य थी। 'अंतर' नामक खंड केवल 'सालगसूड' प्रबन्धों में ही होता था। 'उद्ग्राह' गीत का प्रथम खंड होने के कारण गीत का ग्रहण कराता था और 'ध्रुव' पुनः पुनः गाया जाने के कारण स्थायी रूप में होता था। स्वरूप की दृष्टि से ख़्याल के 'स्थायी' को ध्रुव के समकक्ष माना जा सकता है लेकिन 'अंतर' नामक खण्ड के साथ ख़्याल के 'अंतरा' का संबन्ध नहीं है क्योंकि वह गीत के 'अन्तर' यानी मध्य में होता था जब कि अन्तरा गीत के अन्त में होता है। इससे स्पष्ट है कि ख़्याल के खण्डों में कहीं नाम-भेद है तो कहीं स्वरूप-साम्य भी, फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध के तत्त्व ध्रुवपद में होते हुए ख़्याल को प्राप्त हुए।

ख़्याल के पद में वर्ण संख्या, मात्रा संख्या या गण आदि का नियम नहीं होता इसलिए ये प्रायः छन्दोबद्ध नहीं होते। कभी-कभी विलंबित ख़्याल में स्थायी खंड बहुत छोटा और अन्तरा अपेक्षाकृत बड़ा होता है। लेकिन दोनों खंडों में अन्त्यानुप्रास रहता है। इसलिए वर्ण साम्य से आने वाली छंद की छाया रहने के कारण एक प्रकार की वृत्त (छंद) की गंध कही जा सकती है। इस रूप में 'गद्य' प्रबंध के 'वृत्तगन्धि' नामक भेद से इसका साम्य है। ऐसे ख़्याल के पदों के कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१. स्थायी—फूली री बसंत बहारिया;
प्यारे की छब देखी मन में ।
अंतरा—बेला, चमेली, गेंदा, गुलाब
जाइ जुही और बेलरियाँ बन में ॥

२. स्थायी—पतियाँ ले जा 'प्रणव' पिया के देस ।
अंतरा—गल बिच माला, कानन बिच मुँदरा,
कर रही जोगन वारो बेस ॥

३. स्थायी—बुला ला आली, श्यामसुंदर बनमाली ।
अंतरा—देखहुँ नैन भरी रसिया की सोहनी सूरत
निराली मतवाली ॥

विलंबित ख़्याल की स्थायी में कम शब्दों की योजना का मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि ताल के एक आवर्तन में बोलतानों में स्थायी के पूरे शब्दों का समावेश आसानी से किया जा सके ।

ख़्याल-गायन में सदारंग, अदारंग, मनरंग, हररंग आदि की बन्दिशें बहुत प्रचलित और गायकों में सम्मानित रही हैं। पहले कहा जा चुका है कि यह शैली उसी परम्परा की एक कड़ी है जिसमें पद का महत्त्व अत्यंत गौण हो चुका था। इसीलिये ध्रुपद के गीतों की तरह इसके पदों में कसाव नहीं रहता। ध्रुपद में शब्द का अधिक कर्षण न होने और शब्दों में छन्द के ह्रस्व-दीर्घ का न्यूनाधिक पालन होने के कारण उसका गीत ढीला-ढाला नहीं मालूम होता। इसके ठीक विपरीत ख़्याल में शब्द कम और स्वरों का विस्तार बहुत होने तथा लय विलंबित होने के कारण किसी शब्द के अक्षर इतने दूर-दूर चले जाते हैं कि शब्द के अर्थ का बोध भी नहीं हो पाता और पद में ढीलापन आ जाता है। शब्द के गौण होने, कर्षण बहुत ज़्यादा होने, फल स्वरूप अर्थ की उपेक्षा होने और निरक्षर गायकों के हाथों में पड़ने से ख़्याल की बन्दिशों में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध विच्छेद हुआ। इसलिये आज प्राप्त अनेक ख़्यालों के पदों का सिर-पैर भी समझ में नहीं आता। वर्ण्य विषय, भाषा, भाव आदि की दृष्टि से बहुत से तो इतने अशुद्ध हैं कि उन्हें पद कहने में भी संकोच होता है।

ख़्याल दो भिन्न रचनाओं के रूप में होता है—एक विलंबित लय में गाने के लिये रचित बड़ा ख़्याल और दूसरा, मध्य या द्रुत लय में गाने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिये रचित छोटा ख़्याल। बड़ा ख़्याल पद की दृष्टि से छोटा और इसके विपरीत छोटा ख़्याल अपेक्षाकृत बड़ा होता है। लेकिन बड़े ख़्याल में विलंबित लय होने के कारण समय ज़्यादा लगता है इसलिए बड़ा ख़्याल कहलाता है। छोटे ख़्याल का पद अपेक्षाकृत लम्बा होने पर भी मध्य-द्रुत लय के कारण बड़े ख़्याल की अपेक्षा कम समय में समाप्त हो जाता है इसलिए छोटा ख़्याल कहलाता है। बड़े ख़्याल की अपेक्षा इसमें शब्दों का कर्षण कम होने के कारण कसाव ज़्यादा होता है, शब्द का महत्त्व भी अधिक होता है इसलिए इनके पद बड़े ख़्याल के पदों जितने भ्रष्ट नहीं हुए।

अभी तक ख़्याल की मातु अर्थात् पदगत विशेषताओं पर विचार किया गया। लेकिन इसका दूसरा अंग है धातु अर्थात् स्वर-ताल योजना। ख़्याल के पद को 'बंदिश' का रूप देने वाले अंग स्वर और ताल ही हैं।

स्वर-ताल योजना की दृष्टि से बड़े और छोटे ख़्याल में बहुत अंतर रहता है। इनमें से प्रथम की लय विलंबित होने के कारण हर मात्रा की लंबाई ज़्यादा होती है इसलिये उस अवधि के भीतर अनेक स्वरों और खटके-मुर्की आदि छोटे अलंकरणों के प्रयोग के लिए बहुत गुंजाइश रहती है जो ध्रुपद या छोटे ख़्याल में नहीं है। स्वरों के घुमाव, लोच, मींड आदि के प्रयोग में बाधा न आए इसीलिए अक्षर कम होते हैं और दूर-दूर रहते हैं। स्वर-संचारों में कभी-कभी मात्रा के ऐसे विषम अंशों का प्रयोग होता है जिनमें नियमित लय दिखाई नहीं देती और ध्रुपद की तरह निश्चित खाँचे नहीं बनते। लेकिन कसेपन की यह कमी उसमें प्रयुक्त होने वाले अलंकरणों और विविध प्रकार के स्वर-संचारों के कारण महसूस नहीं होती। स्वरों की गति वक्र रहती है और कभी-कभी मात्रा के सोलहवें अंश तक के स्वरों का प्रयोग होता है। इनमें एकताल, तिलवाड़ा, झूमरा, आड़ा चौताल आदि तालों का विलंबित लय में प्रयोग होता है। सबसे ज़्यादा प्रिय व प्रचलित ताल एकताल और तिलवाड़ा हैं। इसके विपरीत छोटे ख़्याल में लय मध्य अथवा द्रुत होने के कारण कर्षण या अलंकरणों के लिए उतना स्थान नहीं होता जितना बड़े ख़्याल में। हर मात्रा की अवधि छोटी होने के कारण मात्राएँ पास-पास रहती हैं इसलिए अक्षर भी पास-पास रहते हैं। स्वर, ताल और पद का परस्पर संबंध बना रहने के कारण गीत में स्पष्ट खाँचे बनते चलते हैं और कसाव दिखाई देता है। एक मात्रा में चार स्वरों से अधिक का प्रयोग नहीं होता। मध्य अथवा द्रुत त्रिताल, एकताल, आड़ा चौताल, झपताल, रूपक आदि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तालों का प्रयोग होता है। इनमें भी तीनताल या त्रिताल गायकों का 'लाडला' ताल रहा है। त्रिताल के ख्यालों में खाली यानी नवीं और बारहवीं मात्रा से शुरू होने वाली बंदिशें सबसे ज्यादा प्रचलित हैं। इनके अतिरिक्त त्रिताल में सम, पाँचवीं, सातवीं और दसवीं मात्रा से शुरू होने वाले छोटे ख्याल भी प्राप्त होते हैं लेकिन वे कम प्रचलित रहे हैं।

ख्याल का अनिबद्धगत वैशिष्ट्य

भारतीय संगीत में अनिबद्ध का जो स्थान और महत्त्व है वह अन्य किसी संगीत पद्धति में नहीं है—यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है क्योंकि किसी राग की प्रस्तुति में निबद्ध बहुत छोटा और गौण अंश है, चाहे वह ध्रुपद हो चाहे ख्याल। यद्यपि निबद्ध में शब्द अनिवार्य रूप से रहते हैं, फिर वे सार्थक हों अथवा निरर्थक, स्वराक्षर (स, रि, ग आदि) हों अथवा पाटाक्षर (धुम-किट, गदिगन आदि) लेकिन उनका स्थान बहुत गौण होता है क्योंकि वे गायन के मुख्य अंग अनिबद्ध के लिए सहायक-मात्र हैं। स्वर और ताल (जो निबद्ध के मुख्य अंग है) का प्रयोग निराधार यानी किसी सहारे के बिना नहीं हो सकता। इसीलिए अभिनवगुप्त ने कहा कि गांधर्व में स्वर प्रधान है और पद गौण होकर उसके आधार के रूप में रहता है। यद्यपि यह कथन गांधर्व और गान के भेद के संदर्भ में किया गया है लेकिन ऊपर संक्षेप में बताये अनुसार ख्याल शैली को भी यह लागू होता है।

पूर्ववर्ती शैलियों की अपेक्षा ख्याल में अनिबद्ध के लिए बहुत अधिक क्षेत्र है इसलिये इसका विस्तार भी बहुत ज़्यादा है और इसमें विविधता भी है। ध्रुपद से विकसित होने के कारण ख्याल की गायन शैली में भी ध्रुपद की छाया दिखाई देती है। लेकिन ख्याल गायन की शैली का मूल और काफ़ी हद तक स्वरूप भी 'संगीतरत्नाकर' की 'रूपकालप्ति' में है। यह संबंध किस हद तक दिखाई देता है इस पर आगे विचार किया जायगा।

ख्याल गायन का आरंभ करने की दो शैलियाँ प्रचलित रही हैं। इनमें से एक में ख्याल की बन्दिश शुरू करने से पहले राग के स्वरूप को स्थापित करने के लिए अकारादि में संक्षिप्त आलाप किया जाता है। ग्वालियर घराने की गायकी में कभी-कभी यह आलाप विस्तार से भी किया जाता था। लेकिन उस स्थिति में बड़े ख्याल में आलाप शब्दालाप के रूप में या संक्षिप्त रहता था। दूसरी शैली में बंदिश शुरू करने से पहले राग के स्वरूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के निदर्शक आलाप ध्रुपद के 'नोम् तोम्' के ढंग से कुछ विस्तार के साथ किए जाते थे।

इनमें से पहली शैली के औचित्य का आधार यह है कि ख्याल शैली की विशेषता बंदिश गाने के बाद किए जाने वाले विस्तृत आलापादि हैं। पहले विस्तृत 'नोम् तोम्' आलाप करके बंदिश गाने के बाद फिर से आलाप में पुनरावृत्ति और अनावश्यक विस्तार होता है इसलिये आरंभ में उतना ही आलाप वांछनीय है जिससे राग व्यक्त हो जाय और राग का वातावरण बनना शुरू हो जाय। यह भी ध्यान देने योग्य है कि निबद्ध और अनिबद्ध परस्पर सहयोगी होते हैं इसलिए जैसा गीत हो उसके अनुरूप ही विस्तार होना चाहिए अथवा जैसा विस्तार करना हो उसके अनुकूल ही गीत भी होना चाहिए। ध्रुपद शैली में खटके, मुर्की, कण आदि और द्रुत गति की तानें नहीं ली जातीं क्योंकि ये चंचलता लाते हैं जो ध्रुपद की गंभीरता के विपरीत हैं। दूसरी ओर ख्याल में खटके, मुर्की आदि बहुल होते हैं। इन परस्पर विपरीत शैलियों का मिश्रण उतने अंश में ही होना चाहिए जितने में वे एक दूसरे की विशेषताओं को नष्ट न करें। 'नोम् तोम्' करने से ध्रुपद शैली छाने लगती है उसके तुरन्त बाद ख्याल की बन्दिश और विस्तार के साथ उसका सहज संबंध नहीं हो पाता इसलिए इस शैली में 'नोम् तोम्' नहीं किया जाता। लेकिन बड़े ख्याल में की जाने वाली विविध लयों पर आधारित बोलतानें ध्रुपद की बोलबाँट और लयबाँट की याद दिलाती हैं। इस शैली में ध्रुपद से ख्याल के विकास का वह स्वरूप दिखाई देता है जिसमें यह अनुभूति होती है कि ख्याल ने ध्रुपद से जो कुछ भी लिया है उसे दूध में शकर की भाँति घोलकर, अपने में एकरूप करके अपना स्वतंत्र स्वरूप निर्मित किया है।

पहले कहा जा चुका है कि ख्याल की गायन शैली का मूल रूपकालप्ति में है।[२] रूपकालप्ति का लक्षण यह है:—

रूपकस्थेन रागेण तालेन च विधीयते।

अर्थात् जो आलप्ति रूपक (अर्थात् बंदिश) में स्थित राग और ताल के द्वारा की जाती है वह रूपकालप्ति है। इसका आशय यह है कि गीत

२. रूपकालप्ति का विस्तृत स्पष्टीकरण 'अनिबद्ध अथवा आलप्ति' संबंधी लेख में उदाहरण सहित किया जा चुका है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिस राग और ताल में बद्ध हो उसी में यह आलप्ति की आती है। बंदिश के साथ संबद्ध होने से यह तो निश्चित ही है कि बंदिश गाने के बाद होती है। रूपकालप्ति के दो भेद हैं—प्रतिग्रहणिका और भंजनी। भंजनी के दो प्रभेद हैं—स्थायभंजनी और रूपकभंजनी। स्वर संचारों का प्रयोग कर-करके अगर गीत के अवयव (मुखड़ा या कोई एक अंश) का प्रतिग्रहण (बार-बार ग्रहण) किया जाय तो वह प्रतिग्रहणिका कहलाती है। जब गीत के कुछ शब्द लेकर उनके मूलमान को स्थिर रखते हुए उनमें विविध स्वर संचारों का प्रयोग किया जाता है तो वह स्थायभंजनी होती है। मूलमान को स्थिर रखने का अर्थ यह है कि गीत में जिस अक्षर को जितनी मात्रा या मात्रांश दिया गया हो उसे न बदला जाय, केवल उसके स्वर बदल कर नए-नए प्रकार बनाए जायें। इसी प्रकार पूरे गीत के शब्दों के मूलमान को स्थिर रखते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार से गाने पर रूपकभंजनी होती है। इसमें और स्थायभंजनी में यह अन्तर है कि स्थायभंजनी में गीत के कुछ शब्दों को लेकर विविध प्रकार बनाए जाते हैं और रूपकभंजनी में पूरे गीत के शब्द के आधार पर। इसमें पूरे गीत की स्वर-योजना कुछ न कुछ बदल जाने के कारण पूरा गीत ही हर बार नया सुनाई देता है। इस प्रकार के गायन के लिए राग, ताल और लय पर पूरा नियंत्रण, गीत के शब्दों का कालमानसहित पक्कापन और तीव्र स्मरण शक्ति का होना आवश्यक है अन्यथा पूरे गीत की नई-नई स्वर योजना करते समय मूलमान छूट जाने या राग रूप बिगड़ जाने की संभावना है।

ख्याल में किये जाने वाले विस्तार का रूप रूपकालप्ति के निकट है। ख्याल गाने के बाद विविध स्वरसंचारों का प्रयोग करके यानी आलाप करके ख्याल का मुखड़ा पकड़ना ख्याल शैली का सबसे प्रमुख अंग है। प्रतिग्रहणिका का भी यही रूप बताया गया है। स्थायभंजनी में विविध स्वर संचार करते समय गीत के शब्दों का प्रयोग किया जाता है लेकिन उनका मान नहीं बदलता। आज किए जाने वाले 'शब्दालाप' में भी गीत के कुछ शब्दों को लेकर तो आलाप किए जाते हैं लेकिन उनके मूलमान को स्थिर रखना अनावश्यक है और यह ख्याल की मुक्त, बंधहीन शैली के अनुरूप है। बोल-तानों में रूपकभंजनी का कुछ रूप है यद्यपि बोलतानों में केवल स्थायी के ही पूरे शब्द लेकर विविध संचार बनाए जाते हैं, पूरे गीत के नहीं और उनका मूलमान भी स्थिर नहीं रखा जाता। इस कारण रूपकभंजनी और बोलतान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में बहुत अंतर हो जाता है फिर भी बोलतानों के विकास का मूल रूपक-भंजनी में है। रूपकालप्ति की विधि आज कठिन प्रतीत होती है लेकिन उसमें विविधता भी स्पष्ट है। कठिन को सरल बनाने की पूर्वोक्त प्रवृत्ति के कारण रूपकालप्ति बोल-आलाप, बोलबाँट, बोलतान आदि का रूप धारण करके प्रयोग में आई हो, यह बहुत संभव है।

आजकल आलाप गाने के बाद ख़्याल में 'सरगम' का काम करने का काफ़ी प्रचलन हो गया है जिसे प्रायः ६०-७० वर्ष पहले तक बहुत स्वीकृति नहीं थी क्योंकि भावाभिव्यक्ति में वह बाधक होती है। इसका ग्रहण कर्णाटक संगीत के प्रभाव से हुआ है। 'सरगम' के द्वारा भावाभिव्यक्ति तो नहीं होती लेकिन वैचित्र्य अवश्य उत्पन्न होता है जो आज की रुचि के अनुकूल है।

सरगम के बाद बोलतान और फिर आकार की तानों का प्रयोग होता है। कुछ घरानों में बोलतान नाममात्र के लिए रहती हैं। तानों में सपाट, वक्र, गमकदार और अन्य प्रकार की तानों का प्रयोग होता है। विविध लयों के संयोग से इस अंश में चमत्कार पैदा होता है। 'सरगम' और 'तान' के प्रयोग का कोई उल्लेख आलप्ति में नहीं मिलता।

छोटे ख़्याल में मध्य-द्रुत लय के कारण लंबे आलाप के लिए अधिक क्षेत्र नहीं होता इसलिए उसमें छोटे-छोटे आलाप किए जाते हैं लेकिन मुख्य अंग है बोलबाँट और आकार की तानें। गीत के मुखड़े को विविध प्रकार के स्वरसंचारों से सजा कर स्थायभंजनी का कुछ रूपान्तर के साथ प्रयोग किया जाता है। यह क्रमशः शब्दयुक्त छोटी तानों का रूप ग्रहण कर लेता है और यहीं गायक शब्द छोड़ कर धीरे से तान के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है।

छोटे ख़्याल के बाद कभी-कभी तराना भी गाया जाता है जो यद्यपि बंदिश और गायन शैली की दृष्टि से ख़्याल से भिन्न है लेकिन किसी राग की प्रस्तुति के अंतर्गत बड़े और छोटे ख़्याल के तुरंत बाद गाए जाने के कारण ख़्याल के साथ संबद्ध कर लिया जाता है। फिर भी उसे ख़्याल शैली का अंगभूत नहीं कहा जा सकता, इसलिए उस पर यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

ख़्याल-गायन की शैलियाँ अर्थात् 'घराने'

ख़्याल गायन के घरानों को शैलियाँ कहा जा सकता है या नहीं इस पर विशेष विचार करने का यहाँ अवसर नहीं है। लेकिन गायन की विशिष्ट और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभिन्न रीतियाँ, जो विभिन्न घरानों के निर्माण का आधार हैं उन्हीं से यहाँ तात्पर्य है। घरानों पर विचार करने के संदर्भ में भारतीय संगीत के मुख्य उपकरण स्वर और ताल ही कहे जा सकते हैं क्योंकि घरानों के निर्माण या परस्पर भेद में पद का कोई ख़ास महत्त्व नहीं है। इनमें से भी स्वर ही प्रधान है, जो मूलतः मनुष्य के कंठ से उत्पन्न होता है। घरानों में कंठ ध्वनि का भी कुछ वैशिष्ट्य अवश्य रहा है। इन तत्त्वों में से किसी की प्रधानता, अन्य की गौणता अथवा दोनों के संतुलन के आधार पर विभिन्न घरानों का अन्तर समझा जाता है। घराने की अपनी विशेषता स्वर के लगाव और 'बर्ताव' में, राग के विस्तार के विभिन्न पक्षों के स्वरूप और उनमें प्रधानता-गौणता या संतुलन में और आवाज़ लगाने के ढंग में निहित होती है।

ख़्याल गायन के मुख्य चार घराने माने गये हैं। इन घरानों की मूल और प्रमुख विशेषताओं को यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है।

१. ग्वालियर घराना—ख़्याल गायकी का सर्व प्रमुख और मूल घराना यही माना जाता है जिसमें ध्रुपद से ख़्याल के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं। ध्रुपद के बोलबाँट जैसी बोलतानें, मध्य-विलंबित लय और ध्रुपद की तरह विविध लयों का इसमें प्रयोग होता है। ध्वनि के तीन तत्त्वों—तारता, तीव्रता और गुण—का संतुलन भी इस घराने की विशेषता है। आलाप, बोलतान, सपाट तथा वक्र और गमकदार तथा दानेदार तान लय-वैचित्र्य आदि गायकी के सभी अंगों का पूरा विकास, बंदिश का महत्त्व और शब्दों का स्पष्ट उच्चारण इस शैली की विशेषताएँ रही हैं। बुलन्द, खुली और भरावदार आवाज़ इस घराने की पहचान रही है। साथ ही 'काकु' प्रयोग को भी इस शैली में उचित स्थान दिया गया है। आवाज़ लगाने के ढंग पर इस घराने में शिक्षण काल से ही विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। देश भर में सबसे अधिक प्रसार इसी गायकी का हुआ और सबसे अधिक संगीतज्ञ भी इसी ने देश को दिये। स्व० पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर इस घराने के प्रतिनिधि थे जिनमें ग्वालियर घराने की गायकी मूर्तिमन्त हुई थी। उनके शिष्यों में स्व० पं० ओम्कारनाथ ठाकुर ने इस गायकी को एक विशेष स्वरूप देकर उच्चतम शिखर पर पहुँचाया और लगभग ५० वर्षों तक देश-विदेश में श्रोताओं को रस विभोर किया।

२. किराना घराना—आलाप-प्रधान, बोल तान और तान गौण, ताल और बंदिश के प्रति लगाव कम—ये इस घराने की प्रमुख पहचान रही हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ताल गौण होते हुए भी स्वरांश को इस हद तक मधुर, लोचयुक्त और सूक्ष्म बनाया कि ताल की कमी महसूस न हो। इस गायकी को स्व० अब्दुल क़रीम ख़ाँ ने अमरता प्रदान की। यहाँ तक कि किराना गायकी और अब्दुल क़रीम पर्याय बन गये।

३. पटियाला घराना—स्वर-प्रधान, स्वर की सच्चाई, तानों की सफ़ाई और तैयारी तथा पंजाबी 'हरकतों' से युक्त, ठुमरी अंग की ओर झुकता हुआ पटियाला घराना अपना अलग स्थान रखता है। यद्यपि ग्वालियर जैसा स्वर ताल का पूर्ण संतुलन इसमें नहीं, लेकिन किराना की तरह एकांगी यानी स्वर के ही इर्द-गिर्द घूमने वाला भी नहीं रहा। स्वर की प्रधानता तो इसमें भी है लेकिन ताल उपेक्षित नहीं। स्व० बड़े ग़ुलाम अली ख़ाँ में यह शैली बिल्कुल सजीव होकर स्फुट हुई। पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों की लोक शैली के प्रभाव, टप्पा अंग की तानों और पंजाबी हरकतों के साथ ठुमरी अंग के प्रभाव के कारण ख़्याल शैली के 'ख़्यालपन' में कुछ अंतर आया। लेकिन लोक रुचि के अनुकूल होने के कारण उनकी गान शैली अनेक दशकों तक श्रोताओं को आकृष्ट करती रही और ख़्याल शैली को एक विशेष मोड़ प्रदान कर गई। किराना गायकी को शांत कहें तो पटियाला को शृंगारिक कहा जा सकता है।

४. आगरा घराना—यह घराना ख़्याल की बन्दिश से पहले ध्रुपद जैसे 'नोम् तोम्' आलाप, लय और लयकारी की प्रधानता, टेढ़ी तानों, बोलतान बोल बाँट की प्रधानता वाली शैली के लिये विख्यात रहा है। एक छोर पर स्वर प्रधान किराना घराना है तो दूसरे छोर पर ताल प्रधान आगरा घराना जिसमें ताल व लय का चमत्कार भरा हुआ है लेकिन स्वर की मिठास तथा भाव प्रवणता लगभग उपेक्षित। किराना घराना मंदिर है तो आगरा घराना युद्ध क्षेत्र जिसमें तीरों की चारों ओर से होने वाली बौछार की तरह तानों की बौछार रही है। स्व० फ़ैयाज ख़ाँ इस घराने के प्रतीक थे जिन्होंने आगरा घराने की विशेषताओं को चरम सीमा तक पहुँचाया। उनकी गायकी के रँगीलेपन के कारण यह 'रँगीले' घराने के नाम से ही जाना जाने लगा। लेकिन स्वर के माधुर्य, लोच और भाव में डुबो देने की शक्ति की उपेक्षा तथा आवाज़ के खरखरेपन, खुरदरेपन और धातु की सी खनक के कारण वह आनंद या हृदय को छूने की वैसी शक्ति नहीं थी जो पूर्वोक्त घरानों में भरपूर है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ख़्याल की गान शैली का सौंदर्यबोधात्मक विश्लेषण

सौंदर्यबोधात्मक विश्लेषण की दृष्टि से भारतीय संगीत में 'स्वर' और 'राग' शब्दों का विशेष महत्त्व है, फिर विश्लेषण चाहे प्रबन्ध का हो अथवा ध्रुपद का अथवा ख़्याल का। इन दोनों शब्दों का प्रयोग संगीत में आनंदानुभूति की अनिवार्यता का सूचक है। अभिनवगुप्त द्वारा दिये गए स्वर-लक्षण का सार यही है कि चित्त को विकाररहित अवस्था से छुड़ा कर पिघला कर अपने माधुर्य के कारण चित्त पर अपना आक्षेप करने यानी अपने में पूरी तरह लीन कर देने के कारण 'स्वर' कहा जाता है।[३]

'राग' शब्द की रचना 'रञ्ज्' धातु से हुई है जिसका मूल अर्थ 'रँगना' है। राग का सामान्य लक्षण यह है कि विशिष्ट नियमों से युक्त स्वरों की ऐसी रचना जो श्रोताओं के चित्त का 'रँजन' करे। 'रंजन' शब्द भी 'रञ्ज्' धातु से बना है। धातु एक होने के कारण 'रँगना' अर्थ यहाँ भी अवश्य है। इस धातु के अर्थ और भारतीय संगीत में उसके महत्त्व पर एक लेख में प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि विशिष्ट गेय धुनों के लिए राग शब्द का प्रयोग भी इसी तथ्य का सूचक है कि उनमें इस प्रभाव की अनुभूति की गई कि वे चित्त को अपने रंग, भाव अथवा रस में इस तरह डुबो देते हैं कि उसका अलग रूप नहीं रह जाता। स्व० पं० ओमकारनाथ ठाकुर द्वारा मालकौंस, नीलांबरी, बागेश्री, तोड़ी, जोगी, गौरी, भैरवी आदि रागों को जिन्होंने सुना है उन्होंने इस तथ्य की प्रत्यक्ष अनुभूति पाई है।

उपर्युक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ख़्याल शैली पर विचार करना उचित होगा। यद्यपि स्वर तो किसी भी संगीत पद्धति का मूल तत्त्व या आधार है लेकिन राग भारतीय संगीत की ही विशेषता है। वर्तमान शास्त्रीय संगीत राग-संगीत का पर्याय ही है। यद्यपि ध्रुपद भी राग में ही गेय होते हैं लेकिन उनमें बंधन ज्यादा हैं, ख़्याल की तुलना में शब्द का महत्त्व अधिक है तथा मींड, गमक, आन्दोलन आदि के अलावा अन्य अलंकरणों के निषेध और पखावज की संगति के कारण पूरी शैली में स्वर-विलास या भावाभिव्यक्ति के लिए ख़्याल जितनी गुंजाइश नहीं है। दूसरी ओर ख़्याल में बंधन कम है, कल्पना को उड़ान भरने के लिए पूरा अवकाश है; स्वर के विस्तार-वैविध्य के

३. ना० शा०, अ० २८, पृ० १०-११।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिये अनंत क्षेत्र है, भावाभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवसर है तथा तैयारी और वैचित्र्य प्रदर्शन के लिये भी पूरा क्षेत्र है। ख्याल के बोल-आलाप, बोल तान आदि आकार-इकारादि की समरसता को दूर करने व विविधता लाने के उपाय कहे जा सकते हैं। ताल के निश्चित आवर्तन के कारण बंधन और आवर्तन के भीतर लय की स्वतंत्रता के कारण छूट, कभी मींड, कभी खटके, कभी मुरकी, कभी सीधे कभी वक्र स्वर-प्रयोग, लम्बे-छोटे स्वर सन्निवेश, गमक, आन्दोलन, काकु प्रयोग आदि सभी प्रकार के छोटे-बड़े अलंकरणों के प्रयोग के कारण गंभीर और चंचल—इन विविध प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए पूरा अवसर रहता है। इन सब दृष्टियों से यह कहा जा सकता है कि ख्याल शैली में स्वर का 'स्वरत्व' और राग का 'रागत्व' पूरी तरह सार्थक होता है।

विलंबित ख्याल में आलाप की प्रधानता के कारण भावपक्ष और मध्य-द्रुत ख्याल में बोलबाँट, तान आदि के कारण कलापक्ष उभरता है। साथ ही अत्यधिक विलंबित और अतिद्रुत— इन दोनों छोरों का मिश्रण होने से इसमें भाव और चमत्कार दोनों की पराकाष्ठा दिखाई देती है, जिससे ध्रुपद वंचित रह जाता है। गंभीर रागों की गम्भीरता और चंचल रागों की चंचलता-तरलता को मूर्त होने के लिए ख्याल में ही पूरा अवसर मिलता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ख्याल को भारतीय संगीत की अनमोल संपदा कहा जा सकता है। स्थायित्व और परिवर्तन की साथ-साथ चलने वाली प्रवृत्ति ने ख्याल में भी मूल स्पन्दन को रखते हुए उसमें नवीन प्रवृत्तियों को स्थान दिया है। यह स्वाभाविक क्रम है जिसे न रोका जा सकता है और न रोकना वांछनीय हैं क्योंकि जो कला देश और काल की चेतना से अनुप्राणित नहीं होती वह जड़ बन जाती है। लोकरुचि की विविधता और विभिन्नता संगीत में होने वाले परिवर्तनों के लिये ज़िम्मेदार होती है। पिछले लगभग पच्चीस वर्षों में ख्याल गान के स्वरूप में भी जो अंतर आया है उसके फल-स्वरूप आज उसका मूल रूप बहुत कम सुनने में आता है। आलाप का सिकुड़ना, तान का फैल जाना, ठुमरी अंग का प्रवेश, अतिविलंबित और अति द्रुत लय का आकर्षण, तैयारी के प्रदर्शन का मोह—ये कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो ख्याल को चारों ओर से लपेट रही हैं। आने वाले समय में ख्याल का स्वरूप और भी परिवर्तित हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ख़याल-सम्बन्धी कुछ विचारणीय तथ्य

कला की शैली या स्वरूप दीर्घ परम्परा के विकास का परिणाम होती है। उसमें पूर्ववर्ती शैलियों के तत्त्वों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव अवश्य रहता है। देश या प्रदेश की संस्कृति और लोकमानस की रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही शैली ढलती है। ख़्याल शैली के आविष्कार का श्रेय सुल्तान हुसैन शाह शर्की के काल को दिया जाता है और सदारंग-अदारंग उसके उन्नायकों में माने जाते हैं। वास्तव में यह आविष्कार नहीं, विकास है। प्राप्त प्रमाणों और उल्लेखों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ध्रुपद से भिन्न गीत और गायन शैली के रूप में ख़याल के निश्चित स्वरूप की प्रतिष्ठा और प्रचलन १८वीं शताब्दी में हुई।

'ख़्याल' संज्ञा की सार्थकता

ख़्याल संज्ञा के ग्रहण के बारे में प्रायः यह माना जाता है कि ख़याल शब्द का अर्थ कल्पना है और ख़याल शैली में कल्पना की प्रधानता है इसलिए इस शैली के लिए ख़याल शब्द का ग्रहण किया गया। इस बारे में यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि कल्पना की प्रधानता ही आधार है तो ख़्याल के स्थान पर इस शैली को 'कल्पना' या कोई अन्य भारतीय नाम क्यों नहीं दे दिया गया, जो भारत की धरती पर विकसित और भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित शैली के लिए अधिक उपयुक्त होता? दूसरा प्रश्न यह भी है कि क्या इसी शैली में कल्पना की प्रधानता है अन्य विधाओं में नहीं?

विश्व-इतिहास इसका साक्षी है कि विजेता देश या जाति की संस्कृति विजित देश की संस्कृति पर हावी होती आई है। भारत में भी मुग़ल और ब्रिटिश शासन में यहाँ की संस्कृति कुचली गई। उस काल में भी कलाओं के क्षेत्र में, विशेष रूप से संगीत में, दो धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होती रहीं—एक मुग़ल दरबारों व राज्यों के आश्रय में, जो आश्रयदाता की रुचि के अनुसार सतत परिवर्तित होती रही और दूसरी सम्राटों व महाराजाओं के प्रभाव क्षेत्र से दूर मन्दिरों तथा धर्मकेन्द्रों के अन्तर्गत। इसमें बाहरी प्रभाव नहीं के बराबर था इसलिए यह अपने परम्परागत स्वरूप को काफ़ी हद तक सुरक्षित रख सकी। इन दोनों धाराओं के स्पष्ट प्रमाण दरबारी और वैष्णव मन्दिरों की ध्रुपदगान शैली में मिलते हैं। ख़्याल शैली ध्रुपद की तुलना में अधिक अनियन्त्रित, स्वच्छंद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और लचीले स्वरूप वाली थी इसलिए वह मन्दिरों में स्थान न पा सकी और राज्याश्रय में ही पली, विशेष रूप से मुग़ल दरबारों में। इसलिए ख़याल संज्ञा के ग्रहण पर मुस्लिम आधिपत्य का प्रभाव माना जा सकता है।

कल्पना की प्रधानता के कारण यह संज्ञा दी गई हो यह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि कलामात्र में सर्जन के लिए कल्पना और संवेदनशीलता महत्त्व रखती है। जिन कलाओं में अभिव्यक्ति का माध्यम स्थूल है, जैसे—चित्र, मूर्ति आदि, उनकी अपेक्षा अमूर्त माध्यम के आधार पर अभिव्यक्ति करने वाली कलाओं में तो उपर्युक्त दोनों गुण सर्वोपरि हैं क्योंकि उनमें माध्यम के प्रयोग और अभिव्यक्ति दोनों के लिए कल्पना बहुत सक्षम और संवेदनशीलता अत्यन्त सूक्ष्म होनी चाहिए। संगीत के मूल उपकरण स्वर और लय पूरी तरह अमूर्त हैं। शब्द और उसके अर्थ की तरह स्वर-लय और भाव में कोई नियत या निश्चित सम्बन्ध नहीं होता। संगीत में चाहे प्रबन्ध हो या गीत, चाहे आलाप हो या तान अत्यन्त सबल कल्पना के बिना प्रतिक्षण नवीन सर्जन असम्भव है। आज शास्त्रीय संगीत में ध्रुपद, टप्पा, तराना, ठुमरी आदि ऐसी विधाएँ हैं जिनकी शैली बिल्कुल स्वतन्त्र और विशिष्ट है। उन्हें प्रस्तुत करने में भी वैसी ही कल्पना की आवश्यकता है जैसी ख़याल की प्रस्तुति में।

सत्रहवीं शताब्दी तक के किसी भी प्राप्त शास्त्रीय ग्रन्थ में ख़याल का किसी विशेष विधा या गेय शैली के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। अहोबल ने 'संगीत-पारिजात' में दक्षिण के 'दरु' और उत्तर के 'ध्रुवपद' नामक गीतों का उल्लेख तो किया है लेकिन ख़याल का नहीं। बीकानेर के भावभट्ट ने भी ध्रुवपद का विस्तार से निरूपण किया लेकिन ख़याल का नाम तक नहीं लिया है। उड़ीसा में लिखे गए 'संगीत नारायण' में भी ख़याल का उल्लेख नहीं है यद्यपि उस समय के प्रचलित व प्रचार में आ रहे गीतों व प्रबन्धों का विवरण उसमें दिया गया है। दक्षिण के ग्रन्थकारों में भी रामामात्य से वेंकटमखी तक किसी ने भी ख़याल का उल्लेख नहीं किया है। उपर्युक्त सभी ग्रन्थकार सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच के हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि सत्रहवीं सदी तक ख़याल अपनी विकासशील अवस्था में रहा होगा और उसे एक शास्त्रीय शैली के रूप में मान्यता और प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई होगी। इस अनुमान की पुष्टि में 'संगीत-पारिजात' के उस श्लोकांश का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें यह संकेत है कि उसके पूर्व तक प्रचलित गेय विधाओं में शब्द का महत्त्व बहुत था और उसके समय में स्वर के विस्तार की प्रधानता से युक्त शैलियाँ उभर रही थीं। अहोबल का यह कथन ध्रुवपद आदि के सम्बन्ध में है। इसका अर्थ यह है कि ये

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसी विधाएँ थीं जिनमें स्वर का फैलाव सबसे ज्यादा था। यदि ख्याल प्रचलित रहा होता तो वह उल्लेख अवश्य करता।

दूसरी ओर यह तथ्य है कि अठारहवीं सदी के पूर्वार्ध में दिल्ली में अनेक ख्याल गायक थे। मुहम्मदशाह रँगीले के दरबारी गायकों सदारंग-अदारंग ने सैकड़ों ख्यालों की रचना की और वे ख्याल शैली के बड़े पोषक थे। इन दोनों ने इसके प्रचार में बड़ा योगदान दिया। संभवतः एक शैली के रूप में ख्याल ने इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठा पाई। सोलहवीं शताब्दी से स्वर के अधिक फैलाव से युक्त विधाओं के उभरने का संकेत, किन्तु फिर भी किसी ग्रन्थकार द्वारा ख्याल का उल्लेख न करना और अठारहवीं सदी में इन दोनों संगीतज्ञों द्वारा ख्याल की प्रतिष्ठा और प्रचार इस अनुमान को प्रबल रूप से पुष्ट करता है कि अविकसित, अल्प-विकसित अथवा छोटी गेय विधा के रूप में ख्याल पहले से चला आ रहा था। लेकिन प्रौढ़, विकसित, स्वतंत्र और स्वतःपूर्ण तथा रंजक मान्य शैली के रूप में उसे विशिष्ट और निश्चित स्वरूप प्रदान करने वाले मुख्यतः सदारंग-अदारंग रहे होंगे। इस शैली को यह स्थान अठारहवीं सदी में ही प्राप्त हुआ। १८वीं शताब्दी के मध्य में दरगाह क़ुली खां के फ़ारसी ग्रन्थ 'मुरक़्क़-ए-देहली' में अनेक ख्याल गायकों के नाम और उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं का उल्लेख भी इस तथ्य की पुष्टि करता है।[1]

ख्याल संज्ञा के ग्रहण में तो मुस्लिम प्रभाव है लेकिन ख्याल के वर्तमान स्वरूप के आधार पर इस संज्ञा की सार्थकता के बारे में कुछ अवश्य कहा जा सकता है। पद का स्थान निबद्ध अथवा प्रबन्ध में है। निबद्ध की रचना में भी समृद्ध कल्पना आवश्यक है लेकिन एक बार कृति बन जाने पर शब्द-रचना में कोई परिवर्तन न होने के कारण उसमें फिर नवीन कल्पना की आवश्यकता या गुंजाइश नहीं रहती। यों तो ख्याल की बन्दिश में भी स्वर का फैलाव बहुत है लेकिन गीत गाने के बाद स्वर का जैसा विस्तार ख्याल में होता है वैसा ध्रुपद में नहीं होता। ख्याल में प्रयुक्त शब्दों के मूल अर्थ और भाव के अतिरिक्त राग के नियमानुसार स्वतंत्रतापूर्वक और विभिन्न प्रकार के स्वर-संचारों के द्वारा गायक भावों के सूक्ष्म भेदों को व्यक्त कर सकता है और यही ख्याल शैली का प्राण है। इसके लिए निश्चय ही 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' की आवश्यकता है। प्रतिभा और कल्पना जुड़वाँ बहनों की तरह हैं। ख्याल शैली अत्यंत व्यापक और अनेक

---

१. NCPA के जर्नल, Vol. XVII, No. 1, March 1988 में मुकुन्द लाठ के लेख "What is Khyal ?" के आधार पर।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संभावनाओं से युक्त है इसलिए इसमें अन्य किसी शैली की अपेक्षा अधिक कल्पना की आवश्यकता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इस विधा और शैली को दी गई संज्ञा सार्थक है।

ख्याल शैली की व्यापकता

वर्तमान शास्त्रीय संगीत अत्यंत प्राचीन समय से रागसिद्धान्त और राग-रूप लेकर विकसित हुआ है। राग की अभिव्यक्ति के लिए विविध प्रकार के गीत आधार प्रदान करते रहे हैं। इन गीतों में वर्तमान प्रमुख प्रकार है ख्याल, जो पिछली लगभग ढाई शताब्दियों से शास्त्रीय संगीत पर छाया रहा है। वर्तमान समय में रागसंगीत और शास्त्रीय संगीत पर्याय बन चुके हैं। आज राग की अभिव्यक्ति मुख्यतः ख्याल शैली के द्वारा होती है और ख्याल राग से अलग नहीं है।

यह शैली इतनी व्यापक है कि इसमें ध्रुपद, टप्पा, तराना, ठुमरी, भजन आदि अन्य सभी शैलियों का किसी न किसी रूप में समावेश कहा जा सकता है क्योंकि इनमें जो काम किया जाता है वह सब कम-ज़यादा मात्रा में ख्याल में भी किया जाता है अथवा किया जा सकता है। ध्रुपद का नों-तों, लयबाँट और बोलबाँट; टप्पा की मुर्कीदार तानें; तराने का अतिद्रुत लय का सरगम व बोलों का काम, ठुमरी का लोच व माधुर्ययुक्त बोल बनाव और भजन की सात्त्विक भावाभिव्यक्ति—ये सभी ख्याल शैली में सम्भव हैं। यह कहा जाय कि उपर्युक्त शैलियों ने ख्याल को अपना-अपना दाय देकर समृद्ध किया है तो अनुचित नहीं होगा।

ख्याल की व्यापकता पर इस दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए कि वह केवल गेयशैली है या वाद्यशैली भी। गायन और वादन दोनों का मूल माध्यम स्वर है। स्वर की उत्पत्ति मूल रूप में मनुष्य के कंठ से हुई और फिर वाद्यों में उसका 'अनुहार' किया गया। भारतीय संगीत में शुरू से कंठ ही आदर्श रहा है इसलिये प्रायः सभी विधाएँ गेय रही हैं और फिर वाद्यों ने अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार उन्हें ग्रहण किया है। गेय और वाद्य विधाएँ अलग रही हों इसका कोई उल्लेख या स्पष्ट प्रमाण संगीत के शास्त्रग्रन्थों में नहीं मिलता। इसका अर्थ यह है कि जो गाया जाता था वही वाद्यों पर बजाया जाता था। कर्णाटक संगीत में आज भी गेय रचनाएँ ही सभी तत और सुषिर वाद्यों पर बजाई जाती हैं। उत्तर में अवश्य 'गीत' और 'गत' का भेद हुआ है, फिर भी वाद्यों का कोई ऐसा विशेष काम नहीं है जो किसी न किसी सीमा तक गान में न किया जा सकता हो। हाँ, शब्द के आधार पर ख्याल में किए जाने वाले शब्दालाप, बोलबाँट, बोलतान आदि वाद्यों में संभव नहीं हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ख्याल गेय है अथवा वाद्य भी—इस पर विचार करने के लिए ख्याल शैली के स्वरूप पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। गायकी के रूप में ख्याल में आज जो कुछ किया जाता है उसका एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

१. रागालप्ति अथवा रागविस्तार—जिस राग को प्रस्तुत करना हो उस राग का शुरू में आलाप किया जाता है जो संक्षिप्त अथवा विस्तृत हो सकता है। इसमें अंत में, विभिन्न घरानों के अनुसार, लयरहित या लयबद्ध तानें भी समाविष्ट हो सकती हैं।

२. प्रबन्ध या बन्दिश—ख्याल का गीत, जो बड़े ख्याल में लंबा चलने वाला और विलंबित लय में होता है तथा छोटे ख्याल में जल्दी समाप्त होने वाला और मध्य अथवा द्रुत लय में होता है।

३. रूपकालप्ति या 'उपज'—गीत गाने के बाद गीत के शब्दों के आधार पर या शब्द छोड़कर ताल के आवर्तन के भीतर अनेक प्रकार से आलाप किया जाता है जिसमें हर आलाप के अन्त में गीत के मुखड़े का ग्रहण अवश्य किया जाता है। ये ताल के आवर्तन के बंधन में रहते हुए भी लयरहित या लयबद्ध हो सकते हैं। रूपकालप्ति के इन प्रकारों को आज आलाप, शब्दालाप, बोलबाँट, बोलतान कहा जाता है। इस प्रकार ख्याल में की जाने वाली आलप्ति में बहुत स्वतंत्रता और व्यापक क्षेत्र रहता है।

४. स्वराक्षर या सरगम—स्वरों के वाचक सा, रे, ग आदि अक्षरों का उन्हीं स्वरध्वनियों में उच्चारण करते हुए प्रयोग करने का आज काफ़ी प्रचलन है। इसे 'स्वर का काम' या 'सरगम' कहा जाता है।

५. तान—प्रायः कम से कम दुगनी लय में आकार में स्वरों का लयबद्ध प्रयोग ख्याल की तानें हैं।

अब वाद्यों में जो कुछ बजाया जाता है उसका क्रम, स्वरूप और ख्याल की गायकी के साथ साम्य तथा अन्तर देख लें।

1. **आलाप-जोड़-झाला**—इसमें ध्रुपद के नोम्-तोम् के ढंग पर राग का विस्तार किया जाता है। लेकिन ख्याल की तरह सभी तरह के अलंकरणों का प्रयोग होता है।

२. गत—गीत की ही तरह बँधी हुई रचना है।

३. आलाप—ख्याल गायन की तरह ताल के आवर्तन में लयरहित अथवा लयबद्ध आलाप किये जाते हैं जिनके अन्त में गत का मुखड़ा पकड़ लिया जाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। शब्दों के अभाव में ख्याल की तरह शब्दालाप, बोलबाँट, बोलतान की विविधता नहीं होती। इस कमी को मिजराब आदि के बोलों के विविध प्रकारों से पूरा किया जाता है। ख्याल के जैसा सरगम का काम सम्भव नहीं है क्योंकि वाद्य में कंठ की तरह स्वराक्षरों का उच्चारण नहीं हो सकता। लेकिन सरगम में जिस तरह सीधी और टेढ़ी लयों और मात्रांशों में संचार बनाये जाते हैं उसी तरह वाद्यों में भी काम किया जाता है। इसमें और तान में भिन्नता की अनुभूति होती है क्योंकि पूरी तान मूल लय की अपेक्षा कम से कम दुगनी लय में जरूर होती है लेकिन सरगम पूरी की पूरी किसी निश्चित लय में नहीं रहती।

४. तान—ख्याल गायन की ही तरह विभिन्न प्रकार की तानों और तोड़ों का आलाप के बाद वाद्यों में भी प्रयोग होता है।

५. झाला—अत्यन्त द्रुत लय में चिकारी के तार पर विभिन्न प्रकार के छन्द बनाने का काम झाला है। दो भिन्न तारों पर की जाने वाली वादन क्रिया की तरह कंठ में इस प्रकार स्वरोत्पादन असम्भव तो नहीं पर अव्यावहारिक जरूर है।

वाद्यों की यह वादन-विधि गायन-शैली से विशेष भिन्न नहीं है। जो भिन्नता है वह स्वरूप में नहीं, बाह्य रूप में है और वह भी वाद्यों की अपनी सीमाओं और विशेषताओं के कारण है। गीत और गत में अन्तर आकार का ही है क्योंकि स्वर ताल तो दोनों में हैं, शब्द के योग और कंठ द्वारा अभिव्यक्ति की अपनी विशेषता गत में नहीं है। मिजराब आदि से आघात करके बजाये जाने वाले वाद्यों में दो सीमाएँ हैं—एक तो कंठ की तरह स्वर की निरन्तरता यानी इच्छानुसार काफ़ी देर तक ध्वनि तोड़े बिना स्वर को बनाये रखना सम्भव नहीं है और दूसरे, ध्वनि की तीव्रता-मन्दता पर कंठ जैसा नियन्त्रण यानी इनमें क्रमशः वृद्धि अथवा बार-बार वृद्धि या कमी करना असम्भव है। इसलिये गीत जैसी रचना आघात करने वाले वाद्यों में सम्भव नहीं। इस कारण मध्य विलम्बित लय में बार-बार आघातों के आधार पर गत का प्रादुर्भाव हुआ।

मिजराब के अलावा सारिकाएँ अर्थात् परदे भी वाद्यों की क्षमता को सीमित करते हैं क्योंकि परदों के कारण भी स्वर की निरन्तरता की सीमा घट जाती है। तार खींच कर स्वर निकालने की अधिकतम सीमा छह स्वर की हो सकती है लेकिन अच्छे कंठ से डेढ़ या अधिक सप्तक के स्वर भी मींड के साथ गाये जा सकते हैं। परदे न होने के कारण सितार की अपेक्षा सरोद में यह सम्भावना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तो अधिक है फिर भी स्वर की निरन्तरता और तीव्रता की वृद्धि आदि की मर्यादा जवा से आघात किए जाने के कारण बनी रहती है। वायलिन, सारंगी, इसराज आदि में गज़ के कारण कंठ की इन सभी विशेषताओं को बनाये रखने की क्षमता है इसलिए इनमें गायकी बजाई जाती है।

वाद्यों में 'बोलों' का काम और 'झाला' गत शैली की विशेषता मानी जाती है लेकिन यह उल्लेखनीय है कि ध्रुपद का नोम्-तोम् ही बीन शैली से होता हुआ सितार-आदि में जोड़-झाला बना। वाद्य में शब्द की कमी से आने वाली रिक्तता को पूरा करने के लिए मिजराब के बोलों ने स्थान लिया और छन्द बनाने के साधन के रूप में झाले का विकास हुआ। वीणावादन की 'धातु' और 'वृत्ति' के भेदों के लक्षणों से यह प्रकट होता है कि जब गायक चुप रहता था तो उस समय वादक द्वारा विभिन्न धातुओं यानी विभिन्न प्रकार के बोलों के प्रयोग के द्वारा उस रिक्तता को भरने का विधान था। इन धातुओं में ही आज के मिजराब के बोलों के प्रकार समाविष्ट हैं। झाले में मुख्य रूप से छन्दों का काम किया जाता है जो गायन में शब्द व स्वर के माध्यम से होता है।

वाद्यों में गत के अलावा प्रायः ठुमरी, धुन, भटियाली आदि बजाई जाती हैं। ये सभी गेय शैलियाँ या विधाएँ हैं। ठुमरी एक विशेष गीत विधा और गायन शैली है। धुनें भी लोकगीतों की विशेष स्वरावलियाँ हैं। भटियाली बंगाल के मछुओं के लोकगीत हैं जिनकी धुन विशेष प्रकार की होती है। इधर कुछ वर्षों से वादकों में यह अधिक प्रचलित हुई है। ठुमरी, भटियाली आदि जब बजाई जाती हैं तो शब्द को छोड़ कर उनकी गायन शैली का ही अनुकरण होता है जिसके आधार पर उनकी पहचान होती है। यही कारण है कि शब्द न होते हुए भी, केवल बजाई जाने पर भी श्रोता पहचान लेते हैं कि ठुमरी अथवा भटियाली बजाई जा रही है।

उपर्युक्त तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि ख्याल केवल गान-शैली ही नहीं है बल्कि वाद्य-शैली भी है। यह कहना उपयुक्त होगा कि ख्याल एक व्यापक शैली है जो गाई भी जाती है और बजाई भी जाती है क्योंकि वाद्यों में जो कुछ बजाया जाता है वह ख्याल शैली में किसी न किसी रूप में समाहित है।

ख्याल शैली और 'काकु' प्रयोग

साहित्य और संगीत में 'काकु' विशेष महत्त्व रखती है। ध्वनि में होने वाले जिन परिवर्तनों के कारण विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति और अनुभूति होती है वह ध्वनि-भेद व्यापक रूप में काकु है। सामान्य बोल-चाल में भाव के अनुसार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्वनि का उतार-चढ़ाव, तीव्रता-मन्दता, काल, विश्रांति-स्थान, गति आदि में परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार संगीत में भी ध्वनि में भावानुरूप परिवर्तन होने चाहिएँ। शास्त्रीय संगीत की सब शैलियों में से ख्याल में सभी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति की क्षमता है इसलिए विभिन्न काकुओं का प्रयोग इस शैली में सर्वाधिक महत्त्व रखता है। आज का ख्याल काकु के अभाव में निष्प्राण, रस-हीन, यान्त्रिक और चमत्कार-प्रदर्शन का साधन बनता जा रहा है। आलाप जैसे आनन्द की सृष्टि करने वाले पक्ष को छोड़कर तानबाज़ी और राग का व्याकरण प्रस्तुत करने में ही ख्याल की इतिश्री समझने वालों के लिए काकु का रहस्य अगम्य ही रहेगा। ख्याल तो सागर है जिसमें सीप-घोंघे भी रहते हैं और मोती-माणिक्य भी। जिसे जो पसन्द हो खोज ले। सीप-घोंघे हाथ लगने पर उनमें आकृतियों की विविधता देख कर कोई सन्तोष और खुशी का दिखावा भले ही करे, उससे मोती-माणिक्य का आकर्षण या मूल्य कम नहीं हो जाता। उद्यान के गुलाब, जुही, बेला आदि सुगन्ध से पूरित विविध पुष्पों का आकर्षण 'ड्राइंग रूम' में सजे 'कॅक्टस' की अपेक्षा अधिक ही रहेगा।

ख्याल और 'अप्रचलित' राग

आजकल अप्रचलित रागों में ख्याल गाने का 'फ़ैशन' चल पड़ा है और ऐसे राग प्रस्तुत करने वाले गायक-वादक संगीत के क्षेत्र में अपना स्थान 'ऊँचा' समझते हैं। लेकिन यह समझने की बात है कि प्रचलित कहलाने वाले रागों को 'प्रचलितता' की छाप अकारण नहीं लग जाती। दो शांत प्रकृति के व्यक्ति आस-पास के वातावरण में अनुकूलता व शांति का निर्माण करते हैं। स्वरों में भी मैत्री या अमैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के कारण अनुकूल और प्रतिकूल अथवा अनुकूल या अत्यधिक अनुकूल प्रभाव उत्पन्न होता है। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि संवाद पर आधारित विशेष स्वर-संचार बहुत जल्दी और अधिक तीव्रता से प्रभावित करते हैं जब कि अन्य प्रकार के या विवादी अन्तराल वाले संचार देर से या कम प्रभावित करते हैं अथवा विपरीत प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जिन रागों में प्रथम प्रकार के स्वर संचार होते हैं वे प्रभाव की तीव्रता और उत्कटता के कारण अधिक पसन्द किये जाते हैं और इसलिये प्रचलित हो जाते हैं तथा जिनमें दूसरे वर्ग के स्वर संचार होते हैं वे इसके विपरीत 'अप्रचलित' श्रेणी में चले जाते हैं। यद्यपि बार-बार सुन कर राग से परिचय हो जाने पर प्रभाव में कुछ अन्तर तो आता है फिर भी प्रभाव में वैसी तीव्रता नहीं आती। इसीलिये उत्तर भारतीय श्री राग चाहे जितनी बार सुना जाय वह बागेश्री, बिहाग, मालकौंस जैसा प्रभाव उत्पन्न नहीं करता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ख्याल-प्रधान शास्त्रीय संगीत बनाम फ़िल्म-संगीत

यह चर्चा भी सुनी जाती है कि फ़िल्म संगीत से शास्त्रीय संगीत की बड़ी हानि हुई है और उसकी लोकप्रियता कम हुई है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि फ़िल्म संगीत के प्रसारण पर रोक लगा दी जानी चाहिए। किन्तु यह सही है कि फ़िल्म संगीत ने संगीत को लोकप्रिय और अधिक जीवन्त बनाया है और एक प्रकार से यह चेतावनी दी है कि वही संगीत लोकप्रिय होगा जो भाव-पूर्ण और रंजक होगा, शेष सब 'निर्माल्य' बन जायगा।

सागर की अतुल गहराइयों में छिपी अनमोल सम्पदा पर किसी का विशेष अधिकार नहीं होता। यदि कोई साधनों की बहुलता व परिश्रमशीलता के कारण अधिक सम्पदा निकाल ले तो कोई क्या कर लेगा ? अपनी कमियों या मर्यादाओं के कारण किसी दूसरे की प्रगति को रोकने का किसी को क्या अधिकार है ? उसी प्रकार यदि फ़िल्म क्षेत्र अपनी प्रतिभा, प्रगतिशीलता, सुविधा और साधनों का उपयोग करके संगीत को ज्यादा रंजक और लोकप्रिय बना लेता है और शास्त्रीय संगीतज्ञ अपनी मर्यादाओं, कट्टरताओं और रूढ़िवादिता के कारण रसहीनता का निर्माण करते हैं तो दोषी कौन है ?

फ़िल्म संगीत मौलिक रूप में भरत द्वारा वर्णित नाट्य-संगीत से भिन्न नहीं है। भरत ने स्वयं इस पर बार-बार बल दिया है कि पात्र की प्रकृति, परिस्थिति, रस, भाव, गति, देश, काल आदि के अनुसार ही गीत-प्रयोग होना चाहिए। ऐसा न होने पर नाट्य में 'सिद्धि' (पूर्ण सफलता) प्राप्त नहीं होती। फ़िल्म में इन सबका ध्यान रख कर प्रयोग होता है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसने संगीत का दुरुपयोग भी किया है क्योंकि उच्च और उदात्त मानवीय प्रवृत्तियों और भावनाओं के स्थान पर ह्रास की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियों को उभारने में संगीत का प्रयोग किया है। लेकिन यदि चिकित्सक फोड़े को चीर कर रोगी को कष्ट मुक्त करने में अपने चाक़ू का प्रयोग न करके गले को चीर कर 'मुक्ति' दिलाने में करे तो इसमें चाक़ू का दोष नहीं है। दूसरी ओर शास्त्रीय संगीत ने भी उसी तरह की प्रवृत्तियों से युक्त, निरर्थक, रसभावहीन रचनाओं को वैसे ही छाती से लगा रखा है जैसे माता मरे हुए बच्चे को लगाए रखती है। चाक़ू का सही प्रयोग करना जितना जरूरी है उतना ही मरे बच्चे का 'क्रिया कर्म' कर देना भी। दूसरों की भूलों की आड़ में अपनी भूलों के लिये अपने को दोषमुक्त मान लेना भी दोष है। फ़िल्म संगीत की प्रवृत्तियों की आलोचना करने से शास्त्रीय संगीत के प्रति कर्तव्य की पूर्ति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं हो जाती और न उसकी ज़िम्मेदारी कम हो जाती है। हाँ, यह आवश्यक है कि अश्लील, कुरुचिपूर्ण और ह्रासकारी प्रवृत्तियों से युक्त फ़िल्मी गीतों के प्रसारण पर रोक लगनी चाहिए।

इस बारे में यह विचारणीय है कि कला के आस्वादन की दृष्टि से हर देश और हर काल में दो वर्ग रहे हैं—एक परिष्कृत रुचि वाला 'उच्च' वर्ग और दूसरा सामान्य रुचि वाला 'मध्यम' वर्ग। समाज के इन दो वर्गों में क्रमशः शास्त्रीय और 'हल्का-फुल्का' संगीत अनुकूलता पाता है। लेकिन वर्तमान समाज के 'उच्च' वर्ग में भी शास्त्रीय संगीत के प्रति विशेष आकर्षण दिखाई नहीं देता। पैसा खर्च करके अगली पंक्तियों में बैठना भी 'फ़ैशन' है और 'कला मर्मज्ञता' की निशानी समझा जाने लगा है। वास्तव में यह वर्ग भी अधिकांशतः शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा फ़िल्मी या सुगम संगीत की ओर अधिक आकर्षित होता है। यह प्रवृत्ति इस बात पर विचार करने के लिये बाध्य करती है कि शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों में श्रोताओं की संख्या भले ही पहले की अपेक्षा बढ़ गई हो, किन्तु उसमें अपेक्षित आनन्द न होने के कारण संख्या के अनुपात में लोकप्रियता नहीं बढ़ी है।

संगीत में किसी भी स्तर पर केवल संख्या में वृद्धि लोकप्रियता की कसौटी नहीं बन सकती। संगीत की अनेक शिक्षा संस्थाएँ हर वर्ष बड़ी संख्या में बेसुरे और बेताले संगीत के 'स्नातक' और 'मास्टर्स' पैदा कर रही हैं। उनसे शास्त्रीय संगीत को या ख्याल को लोकप्रिय बनाने की क्या आशा की जा सकती है? आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से कुल मिलाकर हज़ारों की संख्या में तथाकथित संगीतज्ञों के ख्याल-गायन के कार्यक्रम प्रसारित होते हैं जिनमें सभी सुरीले नहीं होते, यह कटु सत्य सर्वविदित है। इस प्रकार के प्रसारणों से शास्त्रीय संगीत की, विशेष रूप से ख्याल की, उच्चता-महत्ता की कोई रक्षा नहीं हो सकती, बल्कि इससे हानि ही होगी।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर-भारतीय संगीत के वर्तमान प्रबन्धों की रचना

पूर्वपीठिका

सामगान अर्थात् वैदिक संगीत से भिन्न लौकिक संगीत का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है जिसमें वर्तमान भारतीय संगीत का मूल है। यद्यपि अनेक राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आक्रमणों के परिणामस्वरूप अनेक परिवर्तन हुए लेकिन भारतीय संगीत के मूल तत्त्व ज्यों के त्यों विद्यमान रहे और उसकी आत्मा बनी रही। संगीत के तीन मूल तत्त्वों—स्वर, ताल, पद—का उल्लेख भरत ने 'गान्धर्व' के लक्षण में इस प्रकार किया है—'गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात् स्वरतालपदात्मकम्'।[1]

'पद' यानी शब्द का समावेश भारतीय संगीत में गान की प्रधानता को सूचित करता है क्योंकि पद का प्रयोग कंठ में ही संभव है और स्वर की उत्पत्ति भी मूलतः मनुष्य कण्ठ से ही होती है, वाद्य उसके बाद उसके उत्पादक, अनुरंजक और मापक होने के कारण 'उपकारक' माने गये—

> गीतं चतुर्विधाद्वाद्याज्जायते चोपरज्यते।
> मीयते च..........................॥[2]

यद्यपि स्वर, ताल, पद—इस क्रम में स्वर सबसे प्रधान है, उसका साम्य स्थापित करने और प्रतिष्ठा देने के कारण उसके बाद ताल है तथा पद इनमें अन्तिम है। लेकिन पद ही स्वर-ताल को आधार प्रदान करता है इसीलिए उसका बहुत महत्त्व है। अभिनवगुप्त के अनुसार—

> तेन स्वराः प्रधानं, तालोनामात्मा तत्साम्येनोपकारकः,
> 'तल प्रतिष्ठाकरणे' इति ताल एवैतदाह। ततोऽपि दूरं
> पदं पदशब्देनैव तस्याधारतालाभः।[3]

भरत ने अक्षर-सम्बन्धी सब कुछ पद में ले लिया इसीलिए सार्थक-निरर्थक सभी प्रकार के शब्दों का ग्रहण पद में किया जाता है—

> यत् स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्।[4]

---

१. ना० शा०, २८।११। २. सं० र०, ६।३ तथा सिंह०, कल्लि०।
३. ना० शा०, २८।११ पर अभि०, पृ० ७। ४. वही, ३२।२८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'प्रबन्ध' अर्थात् गीत या बन्दिश के ६ अंगों—तेन, विरुद, पाट, पद, स्वर और ताल—में से पद-सम्बन्धी अंगों में 'तेन' और 'पाट' को शामिल करना इसका प्रमाण है। तेन में ईश्वर के वाचक पदों के अलावा त, न, री आदि निरर्थक पदों का ग्रहण होता है जिनके आधार पर तराने जैसी निरर्थक रचना बनती है। चतुर्विध वाद्यों के बोल पाट कहलाते हैं; जैसे—तन्त्री वाद्यों के दा रा दिर आदि अथवा अवनद्ध वाद्यों के घिरकिट, गदिगन आदि।

यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि पद या अक्षर की स्पष्ट अभिव्यक्ति और अनुभूति पद के कण्ठ से उच्चरित होने पर ही होती है, वाद्य से नहीं। 'दा रा' आदि अक्षर वास्तव में सितार आदि वाद्यों में उत्पन्न नहीं होते बल्कि विभिन्न प्रकार के आघातों और उनके सन्निवेशों को व्यवहार की सुविधा के लिए कुछ अक्षरों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। इसी प्रकार 'तिरकिट' आदि अक्षर भी वाद्य में वैसे नहीं सुनाई देते जैसे मुंह से बोलने पर। लेकिन तबले आदि पर उँगलियों के विभिन्न प्रकार के संचालन और वादन तथा शिक्षण की सुविधा की दृष्टि से उनके साथ अक्षर जोड़ दिये गये। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय संगीत में किसी न किसी रूप में पद व्याप्त है।

भारतीय संगीत में 'निबद्ध' यानी गीत का विशेष महत्त्व रहा है और विभिन्न कालों में गीत के अनेक प्रकार प्रचलित रहे हैं। नाट्यशास्त्र में 'गीतकों' और 'ध्रुवाओं' के रूप में विशेष प्रकार के गीतों का और 'बृहद्देशी' तथा 'संगीतरत्नाकर' आदि में इनके अलावा जाति-प्रस्तार, ग्रामराग-आक्षिप्तिका और विशेष रूप से अनेक प्रकार के देशी 'प्रबन्धों' का निरूपण हुआ है। इसके बाद के ग्रन्थों में प्रबन्ध या गीत के बहुत नए प्रकार नहीं हैं। 'संगीतपारिजात' में यह संकेत भी है कि सामान्य रूप से पद का महत्त्व घटने लगा और स्वर का फैलाव बढ़ने लगा—'वर्णैरेतेषु स्वल्पत्वं स्वरैरत्र समीरणा।'[५]

यों तो भारतीय संगीत में निबद्ध (composed) की अपेक्षा मुक्त विस्तार (improvisation) की हमेशा प्रधानता रही, फिर भी गीत का विशेष स्थान और प्रयोजन रहा है। दूसरी ओर वाद्यों की वादन शैली और तकनीक का निरूपण होते हुए भी गेय प्रबन्धों या रचनाओं की तरह वाद्य रचनाओं का अलग से विशेष निरूपण नहीं हुआ है। इस आधार पर और क्रियात्मक परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाद्यों के लिए अलग रचनाएँ नहीं थीं; गेय रचनाओं का ही वादन किया जाता था। सितार जैसे वाद्य के विकास के

५. सं० पा०, पृ० ५९८।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साथ लगभग १८वीं शताब्दी में सर्वप्रथम वाद्यों के लिए स्वतन्त्र रचना के रूप में 'गत' का विकास हुआ।

रचनाओं के विकासक्रम का ऐतिहासिक निरूपण इस लेख की सीमा में नहीं आता इसलिए इस विषय पर ज्यादा कहना यहाँ संभव नहीं है। लेकिन अनेक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आज प्रचलित सभी प्रकार के गीतों का मूल काफ़ी प्राचीन है। अथवा यह कह सकते हैं कि आज के गीत प्राचीन और मध्ययुगीय गीतों के तत्त्वों को लेकर विकसित हुए हैं। भारतीय संगीत में पूर्वरचित गीत यानी composition को ही गीतक, गीत, प्रबन्ध, रूपक, निबद्ध, गत, बंदिश, कृति कहा जाता है। वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में इसके लिये प्रचलित संज्ञा 'बंदिश', 'चीज़' और 'गत' हैं। इनमें से 'गत' शब्द केवल वाद्य रचनाओं के लिए प्रयुक्त होता है।

वर्तमान प्रबन्धों की रचना

ध्रुवपद अथवा ध्रुपद

प्राचीन गीतों, विशेषतः प्रबन्धों की धातुओं और अंगों के आधार पर १५वीं शताब्दी में ग्वालियर नरेश मानसिंह तोमर के प्रयत्नों से मूलतः ग्वालियरी भाषा में रचित; नायक गोपाल, बैजू, बख़्शू, स्वामी हरिदास, तानसेन जैसे समर्थ, साहित्यिक प्रतिभा से युक्त और अप्रतिम संगीतज्ञों द्वारा संवर्धित, पोषित और उच्चतम शिखर तक पहुँचाया गया; लगभग ४०० वर्षों तक संगीत के क्षेत्र में छाया रहने वाला 'ध्रुवपद'—प्रबन्ध का एक विशेष प्रकार है जो अपने मूलरूप में प्रेम की अवस्थाओं के चित्रण से युक्त होता था।

वर्तमान ध्रुपद ब्रज अथवा शुद्ध हिन्दी में रचे गये घनाक्षरी छंद में बद्ध अथवा छन्दरहित गीत हैं जिसमें विषय की विविधता है और पद का बहुत महत्त्व है। इसीलिये ख़्याल की अपेक्षा अधिक प्राचीन और लम्बे होते हुए भी इसके पद ज्यादा शुद्ध हैं। इनमें नवरस, भक्ति, राजस्तुति, ईशस्तुति, मंगलोत्सव, धर्म-तत्त्व-निरूपण, पुराण-विषयक कथाओं, वैराग्य, गुरुस्तुति, संगीत के सिद्धान्त, ऋतु, नायक-नायिका, नखशिख आदि का वर्णन रहता है। विभिन्न राग-रागिणियों में चौताल, तीव्रा, सूल आदि अपेक्षाकृत छोटे तालों में और ब्रह्म, रुद्र, लक्ष्मी, सवारी, मत्त, शेष आदि लम्बे तालों में गाये जाते हैं। पखावज की संगत के कारण इसमें भव्यता और गम्भीरता आ जाती है। नायक गोपाल, बैजू, स्वामी हरिदास, तानसेन, चिन्तामणि के ध्रुपद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गानशैली की भव्यता, गंभीरता, अत्यन्त श्रमसाध्यता आदि कारणों से ध्रुपद-गायक को दरबारों में अत्यन्त उच्च स्थान दिया जाता था।

ध्रुपद में चार खण्ड होते हैं—स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग; जिनका प्रबन्ध की धातुओं—उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग में कुछ साम्य है। आज प्राप्त होने वाले ध्रुपद प्रायः स्थायी और अन्तरायुक्त अथवा चारों खण्डों से युक्त होते हैं।

ध्रुपद के गेयांश में स्थायी प्रायः मन्द्र और मध्य स्थान के पूर्वार्ध में बद्ध होती है। अंतरा की उठान राग के नियमानुसार मध्यम या पंचम से होकर तार षड्ज पर जाकर कुछ रुक कर फिर मध्यस्थान के उत्तरार्ध और तारस्थान के पूर्वार्ध में स्वरयोजना होती है। संचारी मध्य स्थान में संचरण करता है और अन्त में आभोग में फिर अंतरा की तरह मध्यतार-प्रधान स्वरयोजना के साथ ध्रुपद समाप्त होता है। इसमें स्थायी और अंतरा के बाद, गाते समय, स्थायी की प्रथम पंक्ति को दोहराया जाता है लेकिन संचारी और आभोग के बीच में ऐसा नहीं होता। मध्यस्थान के पूर्वार्ध अथवा षड्ज पर संचारी की समाप्ति के बाद आभोग की उठान मध्य स्थान के उत्तरार्ध से करके तार षड्ज पर जाने की स्वरयोजना में ही ये दोनों खण्ड अलग दिखाई देते हैं।

ध्रुपद अति विलंबित में नहीं बल्कि मध्य-विलंबित लय में ही गाया जाता है। इसकी बंदिश में शब्दों की बाँट बिल्कुल लय और मात्रा के अनुसार होती है। बन्दिश में प्रायः एक मात्रा में एक स्वर और अधिक से अधिक दो स्वर और कहीं-कहीं दो अक्षर हो सकते हैं। ध्रुपद में विविध प्रकार की क्लिष्ट लयों के प्रयोग की दृष्टि से यह ज़रूरी है।

ध्रुपद प्रबन्ध-विशेष भी है और एक गानशैली भी। इन दोनों को एक दूसरे से बिल्कुल अलग करके विचार करना संभव नहीं है क्योंकि उत्तर भारतीय संगीत में निबद्ध और अनिबद्ध—ये दोनों पक्ष एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े और परस्पर अवलंबित हैं। इसकी गान शैली अन्य सभी विधाओं से भिन्न और विशिष्ट है। इसमें सबसे पहले नों, तों, त, न, री, आदि निरर्थक अक्षरों के द्वारा खण्डबद्ध 'नोम् तोम्' आलाप के रूप में 'रागालप्ति' की जाती है। ये अक्षर ईश्वर के वाचक 'ओं', 'त्वमनन्तं', 'हरिः' आदि के विकृत अवशेष हैं जिन्हें प्रबन्ध के अंग—'तेन'—में स्वीकृत किया गया है। नोम् तोम् शुरू में लय-रहित विलंबित गति में और मींडप्रधान होता है और क्रमशः गति बढ़ने पर लय-बद्ध होकर अन्त में गमकयुक्त द्रुत तानों का रूप ले लेवा है। इसके बाद

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्रुपद का पद मध्य विलंबित लय में गाया जाता है। द्रुत लय के नोम् तोम् के तुरन्त बाद विलंबित पद गान में जो वैपरीत्य खड़ा होता है वह प्रभाव की दृष्टि से ध्रुपद शैली का प्राण कहा जा सकता है क्योंकि द्रुतलय के द्वारा चित्त के 'द्रुति' की स्थिति में आने के बाद पद शुरू होने के साथ ही चित्त पूरी तरह विश्रान्त और स्थिर हो जाता है तथा कंठ की गम्भीरता, उत्कृष्ट पदरचना, मध्य-विलंबित लय के योग और पखावज की संगत के कारण चित्त को अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। पद के बाद 'लयबांट' और 'बोलबांट' का प्रयोग होता है। लयबांट में विभिन्न प्रकार की सरल और टेढ़ी लयों, जैसे—दुगुन, तिगुन, चौगुन, आड़, कुआड़ आदि में गीत के शब्दों को विभिन्न स्वरसन्निवेशों में गाया जाता है जिसके लिये अत्यन्त उर्वर मस्तिष्क, आशुबुद्धि, लय-ताल का पक्कापन, कण्ठ पर प्रभुत्व व स्थिरता का होना अनिवार्य है। अगर श्रोता सहृदय और मर्मज्ञ हों तो इसका चित्त पर विशेष प्रभाव होता है और एक प्रकार की अद्भुतता के कारण चित्त चमत्कृत हो जाता है।

बोलबांट ध्रुपद शैली का अन्तिम भाग है जहाँ कुछ शब्द या एक खण्ड के पूरे शब्द लेकर विभिन्न प्रकार की लयबांट में विविध प्रकार से गाया जाता है यानी गीत के शब्दों और गेय का भंजन किया जाता है जिसे 'भंजनी रूप-कालप्ति' कहा गया है। स्वर और लय की विविधता के कारण इसके द्वारा विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वर, ताल और पद—तीनों का उत्कृष्ट सामंजस्य और सन्तुलन इस विधा में है।

ध्रुपद को 'मर्दाना गान' कहा जाता है। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि इसके उद्भव और विकास काल में भी गायिकाओं द्वारा ध्रुपद-गान के प्रमाण मिलते हैं और वर्तमान युग में भी नेपाल दरबार में गायिकाओं द्वारा ध्रुपद गान, उनके साथ गुरु बहनों द्वारा पखावज पर संगत और गुरुबहनों द्वारा नृत्याभिनय से जो समाँ बँधता था उसे आज भी संगीतज्ञ याद करते हैं। 'संगीतरत्नाकर' में भी ध्रुपद के साथ नर्तकी द्वारा नृत्य का निरूपण किया गया है और बाद के ग्रन्थों में भी 'ध्रुवपद-नृत्त' के रूप में इस प्रयोग का उल्लेख मिलता है।

ख्याल अथवा खयाल

अत्यन्त श्रमसाध्य होने के कारण और लोकरुचि में परिवर्तन के कारण पदप्रधान ध्रुपद का प्रयोग कम होने लगा और धीरे-धीरे स्वरप्रधान और अपेक्षाकृत सरल ख्याल का विकास हुआ। १८ वीं शताब्दी में सदारंग-अदारंग के द्वारा सैकड़ों ख्यालों की रचना हुई। आज गाये जाने वाले अधिकतर पद ब्रज

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में तथा राजस्थानी, पंजाबी और शुद्ध या मिश्रित हिन्दी में हैं। ध्रुपद की तरह इनमें भी वर्ण्य-विषय कुछ भी हो सकता है। लेकिन राजस्तुति, ईशस्तुति, नायिका वर्णन, शृंङ्गार सम्बन्धी परिस्थितियों के चित्रण, राधा-कृष्ण-गोपियों की लीलाओं और विवाह प्रसंग से सम्बन्धित ख्याल सबसे ज्यादा सुने जाते हैं।

यद्यपि छन्द, मात्रा, अक्षर संख्या आदि का नियम न होने से ख्याल के पद स्वच्छन्द प्रवाही होते हैं फिर भी स्थायी और अन्तरा में अन्त्यानुप्रास होने के कारण कुछ आभास छन्दत्व का होता है। यह अन्त्यानुप्रास ही खण्ड समाप्ति का सूचक भी होता है। स्वर का फैलाव प्रधान होने के कारण खयालों में ध्रुपद की अपेक्षा पद संक्षिप्त होता है। बड़े ख़्याल के स्थायी में अन्तरे की अपेक्षा शब्द कम होते हैं।

ख्याल दो प्रकार के होते हैं—विलम्बित-मध्य लय में गाया जाने वाला 'बड़ा खयाल' कहलाता है और मध्य द्रुत लय में गेय 'छोटा ख्याल'। छोटे ख्याल की अपेक्षा बड़े ख्याल का पद छोटा होता है लेकिन विलम्बित लय, लम्बे ताल, लम्बे आलापादि और देर तक गाये जाने के कारण वह बड़ा खयाल कहा जाता है।

स्वररचना की दृष्टि से ख्याल का स्थायी प्रायः मन्द्रमध्य-प्रधान और अन्तरा मध्यतार-प्रधान होता है। सम मन्द्र अथवा मध्य में होता है। लेकिन ऐसे ख्याल भी काफ़ी हैं जिनमें स्थायी की उठान तार की ओर होकर सम तार षड्ज पर अथवा मध्य स्थान के उत्तरार्ध में होता है। ध्रुपद की तरह इसमें भी दोनों खण्डों का अन्तर उसकी स्वर रचना में यानी स्थायी की समाप्ति के बाद अन्तरे की उठान रागानुसार मध्यम या पञ्चम से करके सीधे तार षड्ज पर ले जाने में निहित है।

ख्याल में ध्रुपद की मींड, गमक आदि के अलावा खटके, मुरकी, कण, स्पर्श आदि छोटे अलंकरणों के कारण स्वरों में वक्र गति होती है और मात्रा के १६ वें अंश तक का प्रयोग एक मात्रा में किया जाता है। बड़े ख़्याल में विलम्बित एकताल, तिलवाड़ा, झूमरा, आड़ा चौताल आदि तालों का और छोटे ख्यालों में तीनताल, एकताल, झपताल, रूपक, द्रुत आड़ा चौताल आदि का प्रयोग होता है। पखावज के स्थान पर तबले की संगत होती है इसलिये इसमें ध्रुपद जैसी भव्य गम्भीरता नहीं है। लेकिन अनेक प्रकार के गम्भीर और छोटे अलंकरण, स्वरसन्निवेशों में सभी प्रकार के प्रयोगों की छूट, लय और गति की विविधता, आलप्ति के विविध प्रकारों के लयबद्ध और लयरहित प्रयोग तथा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काकु प्रयोग की सम्भावनाओं के संयोग से विविध भावों की अभिव्यक्ति के लिए इसमें ध्रुपद की अपेक्षा अधिक क्षेत्र है। ध्रुपद शैली के नियत स्वरूप की अपेक्षा ख्याल शैली का लचीलापन भी अभिव्यक्ति के लिए अधिक सम्भावनाएँ देता है।

ध्रुपद से विकसित होने के कारण ख्याल की गायन-शैली भी उससे प्रभावित है। शुरू में 'नोम्-तोम्' तथा बन्दिश के आलाप, बोल-आलाप, बोलबाँट बोलतान, विविध लयों और तिहाइयों का प्रयोग, मींडप्रधान आलाप व गमक-युक्त तानों में यह प्रभाव परिलक्षित होता है।

भारतीय संगीत में प्रबन्ध और आलप्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैसा प्रबन्ध हो उसके अनुरूप उसमें विस्तार किया जाता है अथवा जिस प्रकार का विस्तार करना हो उसके अनुकूल प्रबन्ध की रचना और चयन जरूरी है। ध्रुपद और ख्याल इसके प्रमुख उदाहरण हैं। ध्रुपद में शब्द का महत्त्व होने के कारण नोम् तोम् भी अक्षरयुक्त होता है और पद गाने के बाद सम्पूर्ण विस्तार पद के आधार पर ही होता है और इसीलिए ध्रुपद की पदरचना सार्थक तथा भाषा, भाव, अलंकार और साहित्य-सौष्ठव से युक्त हो इसका ध्यान रखा जाता था। किन्तु ख्याल में स्वर ही प्रधान होने और पद नगण्य या गौण होने के कारण उसकी बन्दिश भी स्वरविलास से युक्त होती है। तदनुरूप ख्याल के विस्तार में भी स्वर के फैलाव पर ही ज्यादा बल होता है। किन्तु जहाँ स्वर, ताल, पद का समन्वय और पखावज की संगत के कारण ध्रुपद में दरबार की भव्यता है वहाँ ख्याल में स्वर, ताल की अनेक प्रकार की भंगिमाओं और तबले की संगत के कारण उसमें लोकजीवन की विविधता के समकक्ष रूप दिखाई देता है।

धमार

होली के अवसर पर नृत्य के साथ गाया जाने वाला जो गीत होली की धमाल के कारण "धम्माली" कहलाता था वह आगे चलकर "धमार" के रूप में प्रचलित हुआ। यह व्रजभाषा में रचित ऐसा गीत है जिसमें कृष्ण की रास-लीला और होरी का वर्णन होता है इसलिये इसे 'होरी' भी कहा जाता है। इसमें भी स्थायी और अन्तरा दो ही खण्ड होते हैं और यह केवल धमार ताल में गाया जाता है। ध्रुपद का नोम् तोम् आलाप, पद का महत्त्व, मध्य विलम्बित लय, बोलबाँट, लयबाँट का काम धमार में भी होता है इसलिये धमार को भी ध्रुपद अंग में ही रखा जाता है और ध्रुपद गायकों के गान का अनिवार्य अंग माना जाता है। लेकिन धमार में होरी और रास के शृंगारिक पद के कारण ध्रुपद जैसी गम्भीरता नहीं होती बल्कि मधुरता, तरलता अधिक होती है। ध्रुपद भव्य, गम्भीर है तो धमार लालित्यपूर्ण।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धमार में प्रयुक्त होने वाले धमार ताल में नेपाल के ध्रुपद गायकों के अनुसार ३–२–२–३–२–२ का मात्रा विभाजन न होकर ३–२–३–२–२–२ रहता था जिसके कारण उसमें तीव्रा की लय से भेद स्थापित होता था और वह गाने में कठिन होता था। ऐसे अनेक धमार उनके संग्रह में हैं।

नेपाल के गायकों के अनुसार धमार की बन्दिश दो प्रकार की होती है—
१. प्रकाश—जिनका सम पहली बार में स्पष्ट रूप से समझ में आता है।
२. गुप्त—इस प्रकार के धमार की बन्दिश ऐसी होती है जिसकी पहली पंक्ति को तीन बार गाने पर उसका सम स्पष्ट होता है। आजकल पहले प्रकार के धमार ही गाये जाते हैं।

तानसेन, सदारंग, अदारंग, मनरंग, नूररंग, प्रेमदास आदि के होरी गीतों में जैसा सरस होरी वर्णन है, जैसे सुन्दर रूपक बांधे गये हैं, होरी के रंग में रँगे राधा-मोहन की रूप माधुरी और होरी खेलने का जैसा दूध सा धुला चित्रण हुआ है वह होरी के अलौकिक रंग में तन-मन को रँग देने वाला और सहृदय-संवेद्य है तथा उस पर कविगण झूम-झूम कर रीझते रहे हैं।

चतरंग अथवा चतुरंग

स्थायी और अन्तरा इन दो खण्डों से युक्त चतरंग की रचना पद, तेन, स्वर, पाट और ताल—प्रबन्ध के इन पाँच अंगों को लेकर हुई है। स्थायी में पद और अन्तरा में पहले तराने के बोल (तेन), उसके बाद सरगम (स्वर) और अन्त में तबला या मृदंग के पाट अथवा उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत आदि किसी अन्य भाषा के शब्द होते हैं। प्रायः त्रिताल में बद्ध चतरंग प्राप्त होते हैं लेकिन छोटे ख्याल की तरह झपताल, रूपक, एकताल, आड़ा चौताल में भी हो सकते हैं।

अनेक चतरंगों की पद-रचना से प्रकट होता है कि इसमें छोटे ख़्याल की तरह आलाप, तान, सरगम आदि का प्रयोग होता है। अन्तरे में तराने के बोल होने से उनके आधार पर तराने का काम भी किया जा सकता है। यह ऊपर उल्लिखित उस प्रवृत्ति अथवा परम्परा का सूचक है जिसमें गीत के अनुसार और उसके अनुकूल विस्तार किया जाता है।

टप्पा

मूलतः पंजाब के ऊँट चराने वालों के लोकशैली के गीत थे जो बाद में अपनी आकर्षक शैली के कारण शास्त्रीय संगीत में स्थान पा गए। टप्पे प्रायः पंजाबी अथवा हिन्दी मिश्रित पंजाबी भाषा के श्रृंगार-विषयक गीत हैं। शोरी मियाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के टप्पे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ये सामान्य रूप से संकीर्ण प्रकृति के रागों में और त्रिवट, तीव्रा, त्रिताल, तिलवाड़ा, दीपचन्दी, झूमरा, टप्पा, तालों में गाये जाते हैं। टप्पा शैली की सबसे बड़ी विशेषता है खटके, मुरकी और अति द्रुत लय की छोटी-छोटी वक्र तानों का प्रयोग जो तुरन्त और सहज रूप से आकर्षित करती हैं। टप्पा की बन्दिश में भी इस प्रकार की तानों का प्रयोग होता है जो अन्य सभी गीतों से इसे स्वतन्त्र और भिन्न विधा का स्वरूप देता है। इस शैली ने शास्त्रीय संगीत को काफ़ी प्रभावित किया है। इसी प्रभाव के कारण ठुमरी गान की एक अलग शैली बनी जो पंजाबी अंग की ठुमरी कहलाती है।

ठुमरी

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीद में ठुमरी ऐसी गेय विधा है जिसमें लोक और शास्त्रीय दोनों प्रकार के संगीत के तत्त्व हैं। लोकसंगीत की तरह नियमों का कड़ा बन्धन न होने और पद-प्रधान होने के कारण लोकसंगीत के निकट है तथा व्यक्तिगत विकास और परिष्कार द्वारा निर्मित होने तथा स्वरपक्ष के फैलाव और प्रधानता तथा रागाधारित होने के कारण शास्त्रीय के निकट है। इसीलिए इसे 'उपशास्त्रीय' विधा माना जाता है।

ठुमरी मुख्यतः श्रृंगारप्रधान गीत है जिसमें लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का श्रृंगार हो सकता है। इसमें इस रस के अनुकूल कोमल शब्दावली और अपेक्षाकृत कोमल रागों का प्रयोग होता है। पूर्वी अंग की ठुमरी में भोजपुरी बोली का और पछाहीं में खड़ी बोली का प्रयोग ज्यादा होता है।

रचना की दृष्टि से ठुमरी दो प्रकार की होती है—बन्दिश या बोलबांट की और बोलबनाव की। बन्दिश की ठुमरी में शब्द ज़्यादा होते हैं, शब्द और स्वर रचना में कसाव होता है, मात्राओं के वज़न का ध्यान रखा जाता है और ये छोटे ख्याल से मिलती-जुलती होती हैं। इसमें प्रायः रचयिता के नाम के साथ 'पिया' जुड़ा रहता है; जैसे—कदरपिया, सदनपिया आदि। इनमें प्रायः त्रिताल, झपताल जैसे तालों का भी प्रयोग होता है। बोलबनाव के लिए गुंजाइश कम होती है और ख्याल अंग की तरह कुछ आलाप-तान आदि का काम किया जाता है।

बोलबनाव की ठुमरियों में शब्द कम, स्वर का फैलाव ज़्यादा, मुरकियों का काफ़ी प्रयोग तथा ढीली और लचीली होने से बोलबनाव के लिए बहुत गुंजाइश होती है। दीपचन्दी, जत, कहरवा, दादरा आदि तालों में इन्हें गाया जाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। खटके, मींड, मुरकी आदि का प्रयोग बहुत होने के कारण इसके लिए विशेष गुण-धर्मयुक्त तथा मधुर कण्ठ होना ज़रूरी होता है।

ठुमरी गान की तीन शैलियाँ हैं—पूर्वी, पछाहीं और पंजाबी। पूर्वी उत्तर प्रदेश, ब्रज, बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र में पूर्वी अंग की; लखनऊ, मुरादाबाद, सहारनपुर, मेरठ, दिल्ली में पछाहीं और पंजाब में पंजाबी शैली प्रचलित रही है।

पूर्वी अंग की ठुमरी में कोमलता, माधुर्य तथा स्वरों के लगाव और अभिव्यक्ति में सहजता और लोच ज़्यादा है और भोजपुरी की मिठास इसमें वृद्धि करती है। पछाहीं में लोच और कोमलता अपेक्षाकृत कम है जिसे खड़ी बोली का खड़ापन कुछ ज्यादा उभार देता है। पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों की लोकधुनों के विशेष स्वरप्रयोगों और टप्पा की मुरकीदार द्रुतलय की छोटी तानों के अधिक और सुन्दर प्रयोग के कारण यह पंजाबी शैली कहलाई। पूर्वोक्त दोनों शैलियों में मध्यलय के आलाप व बोलबनाव की तथा पंजाबी में तान की प्रधानता होती है।

ठुमरी गान में बीच-बीच में कवित्त, सवैये जैसे छन्द पढ़े जाते थे। ताल चलते रहने के बावजूद छन्द पढ़ते समय स्वर, ताल अंश गौण और शब्द-सौन्दर्य ही प्रधान हो जाता था। आजकल छन्दों के स्थान पर ग़ज़ल के ढंग से 'शेर' भी पढ़े जाते हैं।

बिन्दादीन महाराज, कदरपिया, ललनपिया, सनदपिया, बड़े रामदास, प्रेमपिया (फ़ैयाज़ खाँ), रसिकपिया आदि की ठुमरियाँ प्रसिद्ध हैं।

ठुमरी मूलतः अभिनय-प्रधान गेय विधा थी जिसका साभिनय गान किया जाता था। ठुमरी के पद को गाकर उसके भाव के अनुसार किया जाने वाला अभिनय कत्थक नृत्य शैली में 'भावनृत्य' कहलाता है। इन दोनों प्रकारों में अभिनय बोलबनाव की ठुमरी में ही होता है क्योंकि उसमें शब्द कम और स्वरों का कर्षण ज़्यादा होने तथा मध्य-विलंबित लय के कारण अभिनय के लिए अवकाश होता है। बोलबाँट की ठुमरी में भी मध्यलय की ठुमरियों में अभिनय ज़्यादा और बोलबनाव कम तथा द्रुतलय वाली ठुमरियों में बोलबनाव नाममात्र को, बहुत थोड़ा अभिनय, लय का काम ज्यादा और नृत्य में पदसंचालन ज़्यादा होता है। कथक परम्परा में बैठ कर स्वयं ठुमरी गाते हुए मुख्यतः चेहरे के द्वारा और कुछ हाथों के द्वारा भाव प्रदर्शन का भी प्रचलन रहा है।

२० वीं सदी में सभागान-वादन के प्रचार के बाद साभिनय ठुमरी की परम्परा समाप्त हो गई। आंगिक अभिनय निकल जाने पर केवल वाचिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिनय रह गया यानी ठुमरी के शब्द अर्थात् बोलों का स्वरों के द्वारा अभिनय होने लगा। इसी को ठुमरी में बोलबनाव कहा जाता है।

वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है और सभी गायक ठुमरी अथवा भजन गाकर कार्यक्रम समाप्त करते हैं। यही स्थान वादकों में भी ठुमरी को प्राप्त है।

भजन

भक्ति परम्परा के 'पद' और सगुणभक्ति परम्परा के 'पदपदान्त' तथा कीर्तन से विकसित और पल्लवित होकर आई हुई इस विधा में भावाभिव्यक्ति की पराकाष्ठा है। ईशस्तुति इसका मुख्य विषय है। सगुण सम्प्रदाय के पदों में प्रभु के साकार रूप की विभिन्न लीलाओं का और निर्गुण पदों में निराकार ब्रह्म का गुणगान तथा दोनों में भक्तों की ईश्वर के प्रति विभिन्न भावनाएँ वर्ण्य विषय रहा है। भजनों के पदों की रचना पदशैली में हुई। प्रायः ब्रजभाषा में अष्टछाप भक्तों के; ब्रज, राजस्थानी, गुजराती में मीरा के; पंजाबी और हिन्दी में नानक के; अवधी में तुलसी के; मिश्र हिन्दी में कबीर के और हिन्दी में ब्रह्मानन्द के भजन प्रसिद्ध हैं और शास्त्रीय संगीत के गायकों द्वारा गाये जाते हैं।

मानसिंह तोमर द्वारा तीन प्रकार के पदों का विकास किया गया था—कृष्ण की स्तुति और लीलाओं के वर्णन से युक्त 'विष्णुपद', अन्य अवतारों और देवी-देवताओं आदि के वर्णन से युक्त 'स्तुतिपद' और प्रेम की अवस्थाओं से युक्त 'ध्रुवपद'। कृष्णभक्ति के वैष्णव मन्दिरों में समयानुसार विभिन्न राग-रागिणियों में विष्णुपद और अन्यत्र स्तुति पद गाये जाते थे। वर्तमान भजन शैली इन दोनों से सम्बद्ध है। निर्गुण ब्रह्म और सगुण के विभिन्न रूपों से सम्बन्धित पद, कोमल कान्त मधुर ध्वनि वाले शब्दों का बाहुल्य, भावसम्पदा से परिपूर्ण, आत्माभिव्यक्ति के विस्तृत क्षेत्र से युक्त भजन में स्वर और रागदारी के विस्तार द्वारा प्राण प्रतिष्ठा होती है। गायक की संवेदनशीलता, कल्पनाशक्ति, भाव-प्रवणता और भावाभिव्यक्ति की सामर्थ्य और क्षमता के अनुसार यह शैली आनन्दानुभूति के विभिन्न स्तरों तक श्रोताओं को ले जाने में समर्थ होती है। इसमें पद के महत्त्व, स्वर के विस्तार और भावाभिव्यक्ति का अपूर्व समन्वय है।

भजनगान शैली के दो रूप प्रचलित हैं—एक वह जिसमें शब्द की प्रधानता रहती है और स्वर, ताल उसके 'अनुभावक' होते हैं। दूसरी में अर्थ और भावाभिव्यक्ति का आधार तो शब्द ही होता है लेकिन शब्द के मुख्य अर्थ और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाव तथा शब्द में निहित सूक्ष्म भावान्तरों को स्वर के द्वारा काकुभेद का प्रयोग करते हुए व्यक्त किया जाता है। इस शैली में ध्रुपद के पद का महत्त्व, ख्याल के आलाप का विस्तार, ठुमरी का बोलबनाव होने के साथ भक्ति भावना का समावेश होने से यह अत्यन्त समृद्ध विधा है। यद्यपि विधा और शैली के रूप में इसकी विशेषता भक्तिपद ही है।

दादरा

दादरा ठुमरी से मिलता-जुलता प्रकार है जिसे मूलतः दादरा ताल में गाये जाने के कारण यह नाम दिया गया। लगभग ठुमरी जैसे ही अलंकरणों का इसमें प्रयोग होता था लेकिन दादरा में स्वरों का लगाव और लय भिन्न होती थी। लोकसंगीत से आने के कारण इसमें प्रायः द्रुत या मध्य तथा झूलती हुई लय रहती थी। बन्दिश की रचना भी लय के साथ झूलती चलती थी और बोलबनाव का काम भी लय के साथ होता था। किन्तु आजकल दादरा और ठुमरी में बहुत अन्तर नहीं दिखाई देता क्योंकि ठुमरियाँ दादरा ताल में और दादरे कहरवा में गाये जाते हैं। आजकल इन दोनों में लगभग एक से ढंग का बोलबनाव किया जाने लगा है।

स्वरार्थ

संगीतरत्नाकर के स्वरार्थ प्रबन्ध के कुछ गीत कुछ गायक-वादकों के पास सुरक्षित हैं यद्यपि वे प्रचलित नहीं रह गये हैं क्योंकि 'स्वरार्थ' संज्ञा और उसके अर्थ का बोध नहीं रह गया हैं। इस नाम का प्रचार भी नहीं है। 'रागकल्पद्रुम' में ऐसे अनेक गीत प्राप्त हैं। प्रसिद्ध सितारवादक पं० बलराम पाठक और स्वर्गीय ध्रुपद गायक श्री टी० एॅल्० राणा से लेखिका ने ऐसी कई बन्दिशें सुनी हैं।

इस गीत की पदरचना उसके राग में प्रयुक्त होने वाले स्वरों के वाचक अक्षरों (स, रि, ग, म, प, ध, नि) से बनने वाले शब्दों से ही रचित होती है और उन स्वराक्षरों के द्वारा सार्थक रचना बनाई जाती है। उदाहरणार्थ राग गान्धार में एक स्वरार्थ रचना इस प्रकार है—

रंग मधे परेम पगी गगरी सिर धरे सुनार।
(रेग मध परेम पग गगरे सारे धरे सानिरे)

सुरंग सारी सौंध सों रंगे
(सारेग सारे साध सा रेग)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सगरे गाम मव गगरी सिर धरे सुनार ।
(सागरे गम मध गगरे सारे·धरे सानिरे)

प्रबन्ध

नेपाल के ध्रुपद गायकों में तथा बिहार के वादकों में परिचित 'प्रवन्ध' नाम से एक विशेष प्रकार की विधा थी जो ध्रुपद से मिलती-जुलती होती है। इसमें कम से कम ४ खण्ड और कभी-कभी ८ या १२ खण्ड भी रहते हैं। ध्रुपद में संचारी के बाद आभोग में स्वर की ऊँची फेंक वाली उठान के कारण जो अन्तर स्थापित होता है वैसा अन्तर 'प्रबन्ध' के तीसरे और चौथे खण्ड में प्रायः नहीं होता। इसमें तीव्रा, त्रिशूल, ध्रुपद, मण्ठिका, सम, १० मात्रा वाला सादरा आदि तालों का प्रयोग तथा पखावज की संगत होती है।

'प्रबन्ध' दो प्रकार के होते हैं। इनमें से एक प्रकार के प्रबन्ध का पूरा पद किसी एक ही ताल में गाया जाता है और दूसरे प्रकार के प्रबन्ध के विभिन्न खण्ड भिन्न-भिन्न तालों में बद्ध होते हैं और उसमें ताल के साथ लय में भी भिन्नता आती है। ऐसे प्रबन्धों में लय वैचित्र्य के कारण ध्रुपद की अपेक्षा रंजकता कुछ अधिक होती है। लेकिन इसमें लयकारी दुगुन, चौगुन तक ही सीमित होती है। छोटे प्रबन्धों का पद गाने से पहले ध्रुपद की तरह नोम् तोम् आलाप किया जाता है जिसमें "अन्तर·तरन-तारन·त्वं" शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है। सादरा ताल के प्रबन्धों में सरगम में विविध लयों का प्रयोग करके 'उपज' का काम किया जाता है।

सरगम

राग के नियमों के अनुसार केवल स्वराक्षरों के द्वारा रचित रचना 'सरगम' या 'स्वरमालिका' कहलाती है। यह राग के स्वरूप को व्यक्त करती है और केवल विद्यार्थियों के लिये यानी शिक्षण के स्तर पर ही इसका उपयोग किया जाता है, सभा संगीत में इसका उपयोग नहीं होता। परम्परागत यानी घरानेदार शिक्षा प्रणाली में इसका कोई स्थान नहीं है।

लक्षणगीत

स्वर और तालबद्ध ऐसे गीत हैं जिनके पदों में राग के लक्षणों का ब्योरा होता है। इसका प्रयोग भी सरगम की तरह संगीत के शिक्षण में और वह भी केवल संस्थागत शिक्षण में ही होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मध्ययुग में १०० के लगभग प्रमुख विधाएँ थीं और उसके भेद-प्रभेद तो हज़ारों की संख्या में थे। उनमें बहुत विविधता थी और स्वर, ताल, पद का उत्कृष्ट सामंजस्य अथवा सन्तुलन था। इसका कारण यह था कि 'वाक्' अर्थात् पद और 'गेय' अर्थात् स्वरताल की योजना करने वाले उत्तम कोटि के 'वाग्गेय-कार' में छन्द, अलंकार, रस, भाव, विशाल शब्द भण्डार, रीति आदि साहित्य-सम्बन्धी गुण भी अनिवार्य माने गये। वर्तमान समय में यद्यपि स्वर, ताल, पद तीनों के सन्तुलन से युक्त रचनाओं की कमी खटकती है फिर भी कुछ प्रतिभा-सम्पन्न वाग्गेयकारों द्वारा इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न हुआ है। यदि कुछ प्राचीन विधाओं को पुनरुज्जीवित किया जा सके तो शास्त्रीय संगीत की विधाओं में विविधता के लिये बहुत गुंजाइश है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाचिक अभिव्यक्ति का प्राण—'काकु'

मनुष्य को अपने शरीर के साथ अभिव्यक्ति के तीन साधन प्राप्त हैं—वाक्, अंग और सत्त्व। वाक् यानी वाणी, अंग यानी शरीर के विभिन्न अवयव और सत्त्व अर्थात् मन—यही तीन माध्यम हैं जिनके द्वारा अर्थ, विचार और भाव की अभिव्यक्ति होती है। बोलकर की जाने वाली अभिव्यक्ति का माध्यम वाक् है, विभिन्न चेष्टाओं के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति अंग के माध्यम से होती है और भीतर होने वाली विशेष और तीव्र अनुभूतियाँ सत्त्व से स्वतः प्रकट होती हैं। इनमें से वाक् सबसे प्रमुख है जो मनुष्य के कण्ठ में निहित है।

लोक में प्रतिदिन के व्यवहार में ध्वनि का ऊँचा-नीचापन, मन्दता-तीव्रता, तेज़-धीमी गति, कोमलता- तीखापन आदि भावों को प्रकट करते हैं। करुणा, शोक, व्याधि में ध्वनि नीची और गति धीमी रहती है। हर्ष या प्रसन्नता के वेग में स्वाभाविक रूप से आवाज़ ऊँची और गति तेज़ हो जाती है। डाँटने-फटकारने या लड़ाई-झगड़े में गति द्रुततर होने के साथ आवाज़ चढ़ जाती है और तीखापन आ जाता है। स्वर भेद से 'हाँ' का 'नहीं' और 'नहीं' का 'हाँ' हो जाता है। आवाज़ के परिवर्तनों के द्वारा निराशा, विस्मय, ईर्ष्या, क्रोध, प्रश्न आदि का बोध भी होता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य कण्ठ से की जाने वाली अभिव्यक्ति में अर्थ या भाव के नियामक मुख्य रूप से ध्वनि-भेद होते हैं। ध्वनि में होने वाले वे सभी परिवर्तन सामान्य रूप से 'काकु' के अन्तर्गत आते हैं जिनके द्वारा अर्थ या भाव की अभिव्यक्ति होती है।

लोक यानी मनुष्य के जीवन की ही अभिव्यक्ति नाट्य में होती है। लेकिन नाट्य वास्तविक जीवन नहीं है बल्कि उसका 'अनुकरण' है यानी जीवन में जो कुछ होता है उसे फिर से (अनु) करना (करण) नाट्य है। जीवन में घटनाएँ अपने आप घटित होती हैं लेकिन नाट्य में सब कुछ सुनियोजित रूप में कराया जाता है। कम समय और थोड़े शब्दों में, विशेष प्रयत्न के द्वारा अर्थ, भाव, विचार, प्रकृति, घटना आदि को 'सामाजिक' यानी श्रोता-दर्शक तक पहुँचाने के लिये नाट्य का जो मुख्य साधन है वह 'अभिनय' है। ऊपर कहे गये अभिव्यक्ति के वाक् आदि तीन माध्यमों के अनुसार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अभिनय तीन प्रकार का होता है—वाचिक, आंगिक और सात्त्विक। यद्यपि 'आहार्य' नामक एक प्रकार और भी है जिसमें वेशभूषा आदि आती हैं लेकिन मनुष्य के शरीर का अंग न होने के कारण उसे उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना अन्य तीन को। त्रिविध अभिनय में वाचिक का स्थान प्रमुख है क्योंकि अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम मनुष्य की वाणी ही है।

अभिनय के लिये मुख्य आधार शाब्दी-रचना होती है जिसे भारतीय परम्परा में 'काव्य' कहा गया है जो गद्य-पद्य, छन्दोबद्ध या छन्दोहीन किसी भी प्रकार का हो सकता है। जब कण्ठ ध्वनि के द्वारा काव्य का इस प्रकार अभिनय किया जाय कि काव्य के अर्थ-भाव आदि की अभिव्यक्ति हो तो वह 'पाठ्य' बनता है। इस प्रकार पाठ्य का स्थान वाचिक अभिनय में है। कण्ठ ध्वनि में स्वतः होने वाले जिन परिवर्तनों के द्वारा पाठ्य में अर्थ-भाव प्रकट होते हैं वे पाठ्य के 'गुण', 'अलंकार' अथवा 'काकु' कहे गये हैं और ये कंठ ध्वनि के 'धर्म' हैं। जिन कलाओं में कंठ के द्वारा अभिव्यक्ति की जाती है उनमें 'काकु' बहुत महत्त्वपूर्ण है; जैसे—नाट्य, संगीत और काव्य। नाट्य में अभिनय ही अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन होने के कारण उसमें तो काकु अनिवार्य है ही, किन्तु संगीत और काव्य, जिनमें अभिनय का वैसा स्थान नहीं है जैसा नाट्य में, उनमें भी संगीत के द्वारा अर्थ-भाव की अभिव्यक्ति इष्ट होने पर काकु-प्रयोग आवश्यक होता है।

'काकु' का सूक्ष्म और विस्तृत निरूपण 'नाट्यशास्त्र' में वागभिनय के अन्तर्गत 'काकु-स्वर व्यंजन' नामक अध्याय में किया गया है।[1] इस अध्याय पर अभिनव ने बड़े विस्तार से और स्पष्ट व्याख्या की है। प्रस्तुत लेख में इन्हीं के आधार पर काकु पर विचार किया जायेगा। इसके अलावा मम्मट के 'काव्यप्रकाश'[2] और शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर'[3] में काकु का जो निरूपण प्राप्त है उसका भी संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

भरत ने स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अंग—ये ६ 'अलंकार' कहे हैं और यह भी कहा है कि इनसे भूषित काव्य 'पाठ्य' कहलाता है। इन्हें 'गुण' इसलिये कहा कि इनसे उपकृत यानी सम्पन्न होकर ही काव्य

१. बड़ोदा संस्क० में इस अध्याय की संख्या १७ और काशी संस्क० में १९ है।

२. काव्य०, तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना के अन्तर्गत।

३. सं० र०, ३/१२०—१२६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'पाठ्य' बनता है। 'अलंकार' का अर्थ सामान्य रूप से भूषण होता है लेकिन यहाँ इतना ही अर्थ अभिप्रेत नहीं है। बल्कि ये सभी काव्य का सम्पादन करने वाले, उसमें परिपूर्णता लाने वाले, पर्याप्तता (अलं=पर्याप्ति, कारः= करने वाले) लाने वाले तत्त्व हैं, इसलिये अलंकार हैं। यद्यपि उपर कहे गये ६ अलंकारों में से एक काकु भी है किन्तु वह इनमें सबसे प्रमुख है और अन्य पाँच उसी का पोषण करते हैं इसलिये भरत ने अनेक स्थानों पर अन्य अलंकारों के लिये काकु शब्द का प्रयोग किया है और अध्याय के अन्त में भी 'काकु-विधान' कहकर उसकी प्रधानता और अतिशयता सूचित की है।

स्वर—७ स्वर होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। ये रसों में उपयोगी हैं। इनका विशेष उपयोग तो नाट्य के अन्तर्गत ध्रुवाओं में यानी गान में ही होता है लेकिन किसी एक स्वर को 'स्थायी' या आधार बनाकर ही 'पाठ्य' संभव होने के कारण यहाँ भी स्वरों को छोड़ा नहीं जा सकता। वस्तुतः काकु में स्वर ही उपकारी होते हैं अर्थात् स्वर के संयोग से ही काकु स्पष्ट होती है। इसलिये काकु-विधान में स्वर का यही उपयोग है कि वे पाठ्य में रसों के लिये नियत आधार तैयार करते हैं।

किस स्वर का किस रस में किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये इसे भरत ने सूत्र रूप में इन दो कारिकाओं में कहा है :

हास्यशृङ्गारयोः कार्यौ स्वरौ मध्यमपञ्चमौ।
षड्जर्षभौ तथा चैव वीररौद्राद्भुतेषु च॥
गान्धारश्च निषादश्च कर्तव्यौ करुणे रसे।
धैवतश्चैव कर्तव्यो बीभत्से सभयानके॥

इनकी टीका में अभिनवगुप्त ने जातियों के अंश की जो चर्चा की है उसका अर्थ यही है कि इन स्वरों को आधार बनाकर पाठ्य प्रयोग करना चाहिये।

स्थान—भरत ने तीन स्थान कहे हैं—उर, शिर और कण्ठ। 'स्थान' से पहले 'स्वर' का विनियोग बता चुकने के कारण संगीत के मंद्र, मध्य, तार स्थानों का ग्रहण न कर लिया जाय इसलिये भरत ने 'शारीर्यामथ वीणायां' के द्वारा शारीरी वीणा (मनुष्य शरीर) के—उर, शिर, कण्ठ—इन तीन ही स्थानों का ग्रहण कराया है। स्वर सबसे पहले शरीर से ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्पन्न होते हैं और वे भी उर, शिर, कण्ठ—इन तीन स्थानों से ही। दारवी (दारु यानी लकड़ी से बनी) वीणा का पाठ्य में उपयोग नहीं क्योंकि उसमें वर्णों (भाषागत अक्षरों) की उत्पत्ति संभव नहीं है। साथ ही तंत्री में 'रक्ति' व 'अनुरणन' होने के कारण वीणा का प्रयोग होते ही पाठ्य न रह कर 'गान' हो जाता है इसीलिये भरत ने स्पष्ट रूप से शारीरी वीणा के ही स्थान कहे हैं।

अभिनवगुप्त ने 'स्थान' को स्वर का 'स्वरूपनिष्पत्तेराश्रयः' कहा है अर्थात् स्थानों के आश्रित होकर ही स्वर के स्वरूप की निष्पत्ति होती है। स्वरों के स्थानों के बारे में यह शंका हो सकती है कि क्या मूर्द्धादि स्थानों से उत्पन्न होते हुए, उर कण्ठादि स्थानों से भी वर्णों की उत्पत्ति संभव है ? अभिनवगुप्त ने इसे इस रूप में स्पष्ट किया है कि तालु, मूर्द्धा आदि अक्षरों के उत्पत्ति स्थान हैं और उर-कण्ठ आदि स्वरों के। मूर्द्धादि स्थानों के प्रयत्न से वर्णों की उत्पत्ति होती है लेकिन उन वर्णो का उच्चारण मन्द्र, मध्य, तार ध्वनियों में भी सम्भव है और ये ध्वनियाँ क्रमशः उर, कंठ और शिर से उत्पन्न होती हैं। इसलिये मूर्द्धादि में उत्पन्न वर्णों का ध्वनि के ऊँचे-नीचेपन की दृष्टि से उर आदि स्थानों में प्रयोग भी किया जा सकता है।

संगीत की दृष्टि से आज 'स्थान' और 'सप्तक' पर्याय माने जाते हैं लेकिन सप्तक के द्वारा मनुष्य शरीर और वाद्य दोनों से उत्पन्न ध्वनि का ग्रहण होता है और सप्तक में २२ श्रुतियाँ स्वतः ग्राह्य होती हैं। भरत ने 'स्थान' शब्द का प्रयोग इसीलिये किया है कि एक तो यहाँ केवल मनुष्य शरीर के विभिन्न स्थान ही अभिप्रेत हैं और दूसरे यह भी निहित अर्थ है कि निश्चित अन्तरालों से युक्त सप्तक-रूप स्थानों में पाठ न किया जाय।

तीन स्थानों के प्रयोग के लिये भरत ने यह विधान किया है—दूर स्थित व्यक्ति के प्रति कुछ कहने में शिर से अर्थात् ऊँची ध्वनि में, बहुत दूर न हो तो कण्ठ से यानी न बहुत ऊँची, न बहुत नीची बल्कि मध्यम ध्वनि में और 'पार्श्वतः' यानी बिल्कुल पास हो तो उर से अर्थात् नीची ध्वनि में पाठ करना चाहिये। जब कोई विशेष भाव व्यक्त न करना हो, केवल सामान्य बात कहनी हो तो वाक्य उर से आरम्भ करके कण्ठ में समाप्त करना चाहिये। यही स्वाभाविक क्रम है। सामान्य रूप से नीची ध्वनि में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बोलना शुरू करके उत्साह-वृद्धि के साथ-साथ स्वर की तारता और तीव्रता में भी वृद्धि हो जाती है और समाप्त करते समय मध्य ध्वनि में अन्त किया जाता है। इसलिये शान्त प्रसंग या 'आवेशशून्य' अवस्था में इसी प्रकार पाठ होता है।

वर्ण—भरत के अनुसार 'तपोधन' अर्थात् सूक्ष्मदर्शी लोग उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित इन चार वर्णों के योग से पाठ्य करते हैं। ध्वनि का ऊँचापन, नीचापन, मध्यता और झूले की तरह उच्चता नीचता में घूमना ही क्रमशः उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित हैं।

वर्ण की टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि स्वरों के 'रक्ति' तथा 'अनुरणन' धर्मों का त्याग करके उच्च, नीच, मध्यम और कम्पनयुक्त ध्वनि के स्पर्श मात्र से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और कम्पित वर्णों का प्रयोग करना चाहिये। रक्ति' ही प्रधान रूप से 'गान' का लक्षण है इसलिये उसका त्याग 'पाठ्य' के लिये आवश्यक है। पाठ्य और गान का अन्तर 'अपूर्णस्वरता' (७ से कम स्वरों का प्रयोग) और 'पूर्णस्वरता' नहीं है। अभिनव ने उदाहरण दिये हैं कि षाडव और औडव के रूप में भी गान क्रिया होती है। यहाँ तक कि कुछ भाषाराग चतुःस्वर और त्रिस्वर भी कहे गये हैं।

लोकगीतों आदि में भी ३-४ स्वरों का ही प्रयोग साधारणतः होता है लेकिन उन्हें पाठ्य नहीं कहा जाता। वैदिक मंत्रों का उच्चारण कुछ स्वरों में तो होता है लेकिन रक्ति नहीं होती इसलिये वह 'मन्त्रपाठ' कहलाता है। उन्हीं मन्त्रों का 'रक्ति' से युक्त सप्तकरूप स्वरों में प्रयोग होते ही वही 'सामगान' कहलाता है। इसलिये सप्तक के स्वरों का प्रयोग न करते हुए जो आधार स्वर ग्रहण किया हो उसी पर या उससे कुछ ऊपर-नीचे की ध्वनियों का स्पर्श करते हुए रक्ति से रहित उच्च-नीच ध्वनि सहित प्रयोग ही पाठ्य कहा जाता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि पाठ्य और गान दोनों में वर्ण कहे गये हैं लेकिन वे बिल्कुल भिन्न हैं। पाठ्य-योग में उदात्तादि ४ वर्ण और गान के स्थायी आदि ४ वर्ण होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदात्तादि वर्णों के योग के कारण पाठ्य के अन्तर्गत गान को छोड़कर सामान्य बोलचाल और स्वर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विशेष को 'अंश' या आधार बना कर किया जाने वाला 'पाठ'—इस प्रकार मनुष्य के समूचे वागूव्यवहार का ग्रहण हो जाता है।

वर्णों का रसों में विनियोग भरत ने इस प्रकार करने के लिये कहा है—हास्य-श्रृंगार में स्वरित-उदात्त, वीर-रौद्र-अद्भुत में उदात्त-कम्पित और करुण-वीभत्स-भयानक में अनुदात्त-स्वरित-कम्पित वर्णों से पाठ करना चाहिये।

काकु—'साकांक्ष' और 'निराकांक्ष' वाक्यों के आधार पर भरत ने दो प्रकार की काकु कही है—'साकांक्ष काकु' और 'निराकांक्ष काकु'। साकांक्ष वाक्य उसे कहा जो 'अनियुक्तार्थक' है और निराकांक्ष वाक्य वह है जो नियुक्तार्थ है। सामान्य रूप से इसका अर्थ यह है कि जिस वाक्य का एक ही अर्थ निश्चित न हो यानी जिसमें अनेक अर्थ हों या जिसमें आकांक्षा बनी रहे यानी बात अधूरी रह जाय वह साकांक्ष वाक्य होता है। जहाँ आकांक्षा समाप्त हो जाती है यानी निश्चित अर्थ का बोध हो जाता है वह निराकांक्ष वाक्य है। साकांक्ष वाक्य में प्रयुक्त काकु साकांक्ष और निराकांक्ष वाक्य में प्रयुक्त काकु निराकांक्ष कहलाती है। साकांक्ष काकु शब्दों द्वारा वाच्य अर्थ के अतिरिक्त अनेक अर्थों का भी बोध कराती है। काकु मुख्य रूप से दो कार्य करती है—१. अर्थबोध और २. चित्तवृत्ति बोध। जिस काकु के द्वारा अर्थबोध हो वह 'अर्थकाकु' और चित्तवृत्ति का बोध जिसके द्वारा हो वह 'रसकाकु' कही गई है। अलंकार को भी भरत ने काकु शब्द से अभिहित किया है और वहाँ काकु के अन्य भेद भी अभिनवगुप्त ने बताये हैं जिनकी चर्चा अलंकार में की जाएगी। स्वर, स्थान, वर्ण, अलंकार, अंग—ये पाँचों गुण वास्तव में काकु को ही उपकृत करते हैं। काकु इन सबमें व्याप्त है इसलिये वही प्रमुख है। 'विच्छेद' आदि अंग भी रस, अर्थ, शोभा और कर्म द्वारा काकु का ही पोषण करते हैं। वाचिकाभिनय में भी काकु ही अर्थ का 'अभिनयन' करती है—'अभि मुख्येन नयतीति अभिनयः' अर्थात् अर्थ को मुख्य रूप से ले जाती है। शेष पाँचों गुण काकु के ही विस्तार हैं, इसीलिये भरत ने अध्याय के अन्त में 'उक्तं काकुविधानम्' के द्वारा काकु में ही शेष पाँच का भी समावेश कर दिया है।

चित्तवृत्तिबोधिका रसकाकु वर्णहीन यानी केवल नादरूपा भी हो सकती है। 'संवित्' के प्रथम 'स्पन्दन' से, 'प्राणों' के 'उल्लास' से वर्णादि विशेष रूप से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हीन जो वाक् उत्पन्न होती है वह नादात्मिका ही होती है और उसके द्वारा चित्त के हर्षशोकादि भावों का बोध होता है, अर्थबोध नहीं। पशु-पक्षियों की विशिष्ट ध्वनियों से भी उनकी भय, शोकादि चित्तवृत्ति का जो बोध होता है उसका नाद के बल से अनुमान ही किया जाता है, वर्णों का प्रयोग न होने से सीधे वाच्य नहीं होता। इसलिये नादात्मक ध्वनि में 'व्यभिचार' नहीं हो सकता यानी नाद-विशेष सदा एक नियत भाव का बोध कराता है। यह नाद 'झटिति' उत्पन्न होने वाले मुखराग, पुलकादि सात्त्विक भावों के समान है जो स्वयं उद्भूत होता है और सम्बद्ध भावों का बोध अवश्य कराता है। लेकिन वर्णात्मक ध्वनि में काकु का प्रयोग होने पर वाच्यार्थ का बाध होकर उससे भिन्न व्यंग्यार्थ भी निकल सकता है और वह वाच्यार्थ से विपरीत भी हो सकता है।

रसकाकु को चित्तवृत्तिबोधिका और अर्थकाकु को अर्थबोधिका कहने से यह शंका हो सकती है कि नेपथ्य-पाठ या दूरस्थ के प्रति भाषण में तो उपर्युक्त दोनों व्यापारों में से कोई भी नहीं होता, वहाँ शोभा-संपादन या दूर-श्रव्यता ही प्रयोजन होता है, लेकिन वहाँ भी स्वरकाकु कही गई है—इसका क्या औचित्य है? इस शंका का समाधान अभिनवगुप्त के अनुसार यह है कि सामान्य रूप से तो दूर-श्रव्यता आदि ही प्रयोजन दिखाई देता है लेकिन नाट्य में किसी परिस्थिति को सार्थक बनाना या व्यक्ति विशेष की चित्तवृत्ति पर प्रकाश डालना ही नेपथ्य-पाठ या पुस्तक-पाठ के अभिनय का प्रयोजन होने के कारण वहाँ भी अर्थबोध या चित्तवृत्ति-बोध ही है। इसलिये श्रव्यता रूपी प्रयोजन के आधार पर तीसरी काकु मानने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन किसी विशेष परिस्थिति में 'स्वरकाकु' मान सकते हैं। जैसे—कुछ दूरी पर कुछ व्यक्ति झगड़ रहे हों तो शब्द स्पष्ट सुनाई न देने पर भी आवाज़ से ही समझ में आ जाता है कि झगड़ा हो रहा है।

भरत ने सिर्फ 'साकांक्ष' और 'निराकांक्ष' काकु ही कही हैं, अर्थकाकु, रसकाकु या स्वरकाकु नहीं,—फिर भी पाठ्य के जिस उच्चारणभेद-रूप धर्म को उसने काकु कहा है उसका कारण स्वर भेद है, इसलिये अभिनवगुप्त ने उसे 'स्वरकाकु' कहा है।

भरत के अनुसार प्रश्न सूचक वाक्य को नीची ध्वनि में शुरू करके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसका अन्त सबसे ऊँची ध्वनि में करना चाहिए। उसी वाक्य का ध्वनिक्रम उल्टा करने से सामान्य वाक्य हो जाता है। यही साकांक्ष और निराकांक्ष काकु है। जैसे—'काम हो गया ? काम हो गया।' इन दो वाक्यों में से पहले में 'गया' के अन्त में स्वर सबसे ऊँचा रहेगा। दूसरा वाक्य स्वीकृति सूचक है क्योंकि 'गया' में 'काम' की अपेक्षा ध्वनि क्रमशः नीची होती जायगी।

काकु शब्द की व्युत्पत्ति 'लौल्य' यानी चंचलता अर्थ वाली 'कक' धातु से है। लेकिन सन्दर्भ के अनुसार लौल्य का अर्थ है स्वर-वैचित्र्य। 'कक' का अर्थ जिह्वा भी होता है इसलिये जिह्वा के व्यापार से सम्पन्न होने के कारण भी काकु कहलाती है।

अलंकार—'अलं पर्याप्तं काकोः स्वरूपं येन सम्पाद्यते सोऽलङ्कारः'— अभिनवगुप्त ने 'अलंकार' की यह व्युत्पत्ति दी है। इसका अर्थ यह है कि काकु का स्वरूप जिसके द्वारा पर्याप्त रूप से सम्पन्न हो वह अलंकार है। ध्वनि के तीनों स्थान यानी मन्द्र (नीचा), मध्य और तार (ऊँचा) में से हरेक के अन्तर्गत फिर से ध्वनि के नीचे, मध्य और उच्च यानी अनुदात्त, स्वरित और उदात्त भेद हो सकते हैं। इन गुणों के कारण ही काकु स्फुट होती है। भरत ने छः अलंकार बताए हैं—उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत तथा विलम्बित। इनमें दो-दो के तीन जोड़े हैं—उच्च-दीप्त, मन्द्र-नीच, द्रुत-विलम्बित। तीसरा जोड़ा लय से सम्बन्ध रखता है लेकिन वह शेष चारों के साथ स्थान में भी जुड़ जाता है।

मध्य 'अनावेश' की यानी सामान्य अवस्था होने के कारण सर्वत्र रहती है। इससे ऊपर और नीचे तीन-तीन अवस्थाओं के होने से दोनों ओर तीन-तीन स्थानों के आधार पर ६ अलंकार कहे गए हैं। ऊपर की ओर बढ़ते हुए क्रमशः द्रुत, उच्च और दीप्त तथा मध्य से नीचे की ओर जाते हुए विलम्बित, मन्द्र और नीच यों ३-३ स्थान होते हैं। यदि एक क्रम से रखें तो नीच, मन्द्र, विलम्बित, द्रुत, उच्च, दीप्त—इस प्रकार क्रम होगा।

'उच्च' शिर के अधोभाग (निचले भाग) में रहता है। दूरस्थ के प्रति भाषण में, विस्मय, उत्तरोत्तर संजल्प (एक दूसरे से बढ़-बढ़ कर बातें करने), परोक्ष व्यक्ति को बुलाने और त्रास देने में इसका प्रयोग होता है। पहले कहा जा चुका है कि भरत ने अलंकार को काकु भी कहा है। तदनुसार, तीन विभिन्न प्रकार के कार्य करने के कारण, अभिनवगुप्त ने इसके ३ भेद किये—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरकाकु, रसकाकु और विभावकाकु। दूरस्थ के प्रति भाषण प्रयोजन होने से 'स्वरकाकु', विस्मयादि अपने हृद्गत भावों को प्रकट करने में प्रयुक्त होने वाली 'रसकाकु' और त्रासादि देने में यानी अन्य व्यक्ति में भाव उत्पन्न करने में कारणस्वरूप 'विभावकाकु'।

'दीप्त' शिर के ऊर्ध्वभाग में स्थित होता है। इसका प्रयोग आक्षेप, कलह, विवाद, अमर्ष, धृष्ठता, क्रोध, शौर्य, दर्प, ललकार, भर्त्संना, क्रन्दन में होता है। स्वरकाकु ही शिर के तारतर भेद से 'श्रुतिकाकु' कहलाती है। 'तार' शब्द का अर्थ ही प्रकर्ष है। दीप्त में उच्च की अपेक्षा स्वर का प्रकर्ष होता है।

'मन्द्र' हृदय के ऊर्ध्वभाग में और 'नीच' हृदय के अधोभाग में रहते हैं। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, औत्सुक्य, दैन्य, व्याधि, शस्त्रक्षत, मूर्छा, मद, गुप्त-कथन में 'मन्द्र' और स्वाभाविक भाषण, व्याधि, शम, श्रम से उत्पन्न थकान, त्रस्त होने, गिरने, मूर्छा में 'नीच' प्रकट होता है। इनमें भी 'स्वचित्तवृत्ति-अर्पण' होने पर अर्थात् अपने भावों का बोध कराने में रसकाकु और 'परस्य रूपोत्पादन' में यानी दूसरे व्यक्ति में भाव उत्पन्न कराने में अभिनवगुप्त ने 'विभाव-काकु' कही है। प्रयोजन-भेद से अलंकारों का मिश्रण भी हो सकता है।

'द्रुत' और 'विलम्बित' मुख्य रूप से लय से सम्बन्धित अलंकार हैं, यह पहले कहा जा चुका है। भरत ने कहा है कि ये कण्ठ के ऊर्ध्व और अधोभाग से सम्पन्न होंगे। त्वरितगति से युक्त 'द्रुत' और धीमी गति से युक्त 'विलंबित' अलंकार होता है। विलास, बुदबुदाना, भय, शीत, ज्वर, त्रासित, वेदनादि में 'द्रुत' का और शृंगार, करुण, वितर्कित, विचार, अमर्ष, असूया, अव्यक्तार्थ, प्रमाद, लज्जा, चिन्ता, तर्जन, दोषवर्णन, दीर्घरोग में 'विलम्बित' काकु होती है।

विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति में अनेक अलंकारों का एक साथ प्रयोग होता है। दूर स्थित व्यक्ति से बात करने, ललकारने, डराने-धमकाने आदि में ध्वनि स्वाभाविक रूप में तार से तारतर होती जाती है। इसलिये इन प्रसंगों में उच्च, दीप्त, द्रुत अलंकारों से युक्त काकु का प्रयोग करना चाहिये। व्याधि, शोक, भय, शस्त्र से क्षत होने, गूढ़ बात कहने, चिन्ता आदि में स्वर नीचा हो जाता हैं, इसलिये मन्द्र, नीच अलंकार-प्रयोग का विधान है। इन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रसंगों में गति भी धीमी हो जाती है। इसी प्रकार अन्य अनेक परिस्थितियों में एक से ज़्यादा अलंकारों के एक साथ प्रयोग का विधान भरत ने किया है।

लघु अक्षरों से युक्त पाठ्य में उच्च-दीप्त और गुरु अक्षर युक्त पाठ्य जो सौम्य अर्थ और सुखकर भावों से पूर्ण हो उसमें मन्द्र-विलम्बित प्रयोग होता है। जिनमें तीक्ष्ण, रूक्ष अक्षरों का ज़्यादा संयोग हो उनमें भी दीप्त का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार भरत ने अक्षरों की योजना के साथ भी अलंकार-विनियोग बताया है।

हास्य, शृंगार, करुण में विलम्बिता, वीर, रौद्र, अद्‍भुत में दीप्ता और वीभत्स, भयानक में द्रुता, नीचा काकु का प्रयोग करना चाहिये। इस रूप में नाना भावों और रसों के उपयुक्त काकु-प्रयोग का भी भरत ने विधान किया है।

अंग—अंग ६ हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबंध, दीपन, प्रशमन। पाठ्य के बीच में विराम के कारण होने वाला अंग 'विच्छेद' है। तरंगित होते हुए मधुर स्वर से युक्त नाद से रंगस्थल को भरते हुए पाठ होने पर 'अर्पण' होता है। वाक्य समाप्ति पर होने वाला न्यास 'विसर्ग' है। पदों के बीच में जहाँ विच्छेद न हो यानी उच्छ्वास न हो वहाँ 'अनुबन्ध' होता है। तीनों स्थानों में शोभित होने वाला स्वर का क्रमशः चढ़ते जाना 'दीपन' और तार में पहुँचे हुए स्वरों का वैस्वर्य के बिना क्रमशः नीचे उतरना 'प्रशमन' होता है।

अभिनवगुप्त ने विच्छेद-अनुबन्ध, अर्पण-विसर्ग और दीपन-प्रशमन यों तीन द्विक बनाये हैं। द्विकों के अंग विपरीतार्थक हैं। विच्छेद-अनुबन्ध में ध्वनि का 'त्रुटितत्व-अत्रुटितत्व' या 'अभाव-भाव' होता है। विच्छेद में ध्वनि न रहने से त्रुटितत्व (ध्वनि का टूटना) या अभाव होता है। भरत के अनुसार 'विसर्ग' का अर्थ वाक्य के अन्त में होने वाला विराम है, लेकिन अभिनवगुप्त ने विसर्ग को अर्पण का विपरीतार्थक बताया है। 'अर्पण' में नाद की पुष्टता यानी भरापन रहता है, इसलिये विसर्ग में अपुष्टता यानी भराव का अभाव होना चाहिये। विसर्ग के भरतोक्त लक्षण 'वाक्यन्यासः' का अर्थ अभिनवगुप्त ने वाक्योच्चारण के समय नाद का त्याग अथवा क्षीणता किया है। अभिनव-गुप्त ने इनका सम्बन्ध नाद के पीवरत्व-अपीवरत्व से भी जोड़ा है, इसलिये सामान्य अर्थ यह निकाला जा सकता है कि अर्पण में नाद पुष्ट या भरा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हुआ और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई तीव्रता से युक्त तथा विसर्ग में इसके विपरीत अपुष्ट, बिना भरा और क्रमशः क्षीण होता हुआ रहता है। क्रमशः दीप्त होता हुआ यानी तारस्थान की ओर चढ़ता हुआ 'दीपन' और क्रमशः शमित होता हुआ यानी तार से मन्द्र की ओर उतरता हुआ 'प्रशमन' होता है।

इस प्रकार दीपन-प्रशमन में नाद की 'तारता' (पिच), अर्पण-विसर्ग में 'तीव्रता' (इन्टेंन्सिटी) और विच्छेद-अनुबन्ध में 'काल' (ड्यूरेशन)—नाद के तीन गुणों का समावेश किया जा सकता है। नाद की चौथी विशेषता 'विशेष गुण' (टिम्बर) का यहाँ अभाव है क्योंकि नाट्य-प्रयोग के लिये विशिष्ट प्रकार की कंठ ध्वनि वाले नट का चुनाव तो किया ही जाता है, और एक बार चुनाव कर लेने पर 'कण्ठगुण' का नहीं बल्कि कंठ में भावानुकूल परिवर्तन का ही महत्त्व हो सकता है। इसी को काकु कहा गया है। 'विशेष गुण' का सम्बन्ध उस गुण से है जिसके कारण एक व्यक्ति की ध्वनि अन्य व्यक्ति से अथवा एक वाद्य की दूसरे वाद्य से अलग पहचानी जाती है।

पाठ्य में हास्य-शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये अर्पण, विच्छेद, दीपन, प्रशमन का; करुण के लिये दीपन, प्रशमन का; वीर, रौद्र, अद्भुत के लिये विच्छेद, अनुबन्ध, दीपन, प्रशमन का; वीभत्स, भयानक के लिये विसर्ग, विच्छेद का प्रयोग करना चाहिए। अंगों का त्रिस्थानगत प्रयोग इस प्रकार है—दूरस्थ के प्रति भाषण में शिर से उत्पन्न तार स्थान से, कुछ पास स्थित के प्रति कण्ठ से उत्पन्न मध्य स्थान से और बिल्कुल पास वाले के प्रति हृदय से उत्थित मन्द्र स्थान से पाठ्य का प्रयोग करना चाहिये। मन्द्रतर से सीधे तार और तारतम से सीधे मन्द्र स्थानों का प्रयोग नहीं होता।

रसों में विभिन्न लयों का विनियोग यों है—हास्य-शृंगार में मध्य लय, करुण में विलम्बित और वीर, रौद्र, अद्भुत, वीभत्स, भयानक में द्रुत।

भरत ने अंग के अन्तर्गत विराम का आधार अर्थ-समाप्ति बताया है, छन्द नहीं क्योंकि अर्थ-समाप्ति का बोध कराने के लिये एक, दो, तीन या चार अक्षरों के बाद भी विराम हो सकता है लेकिन छन्द में विराम निश्चित स्थान पर ही होता है। विराम-भेद से एक ही वाक्य का अर्थ बदल जाता है। जैसे—नहीं जाओ। इसमें नहीं के बाद विराम करने से 'जाओ' अर्थ निकलेगा और विराम के बिना एक साथ उच्चारण से 'मत जाओ'। विराम का ग़लत स्थान पर प्रयोग होने से अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। इसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्यान में रखकर भरत ने और उसके कथन को ज़्यादा स्पष्ट करते हुए अभिनव ने यहाँ तक कहा कि काव्य की रचना करते समय कवि को ऐसा छन्द चुनना चाहिए जिसका अभिनय करते समय प्रयोक्ता अर्थ के अनुसार विराम कर सके। किन्तु अगर छन्द ऐसा न हो तो छंद के नियम का भंग करके भी अर्थ के बोध की दृष्टि से विराम करने का नट को निर्देश दिया गया है और इसीलिये भरत ने विराम में विशेष प्रयत्न करने के लिये कहा है।

आंगिक-वाचिक अभिनय में भी विराम का अत्यन्त महत्त्व है। बात शुरू होने पर दृष्टि उठती और समाप्ति के साथ नीचे गिरती है। बात के आरम्भ और समाप्ति के साथ हाथ भी उठते व गिरते हैं। वीर, रौद्र रस में हाथ मारने के लिये आकुल होते हैं और वीभत्स में घृणा के कारण सिकुड़ जाते हैं। करुण में स्तब्ध होने पर और भयभीत होने पर हाथ निश्चेष्ट होकर खुल जाते हैं। इस प्रकार भरत के अनुसार हाथों के अभिनय, अलंकार और विराम से अर्थ-निश्चय होता है।

विराम का प्रयोग अर्थ-समाप्ति, पद-समाप्ति या 'प्राण' के अनुरोध से होता है। 'प्राण' का अर्थ रस-भाव है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने कहा है—'प्राणा रसभावाद्याः, तदौचित्येन छेदः' अर्थात् रसभाव नाट्य प्रयोग के प्राणरूप हैं। रसभाव के औचित्य के अनुसार होने वाले 'छेद' या 'विराम' को 'प्राणवश' कहा गया है।

अर्थबोध में अक्षरों के कर्षण का विशेष महत्त्व है। 'कर्षण' का अर्थ है दीर्घ उच्चार। इसका सम्बन्ध लय से है। अक्षरों का कर्षण होने पर लय स्वाभाविक रूप से विलम्बित हो जाती है। पाठ्य में अक्षरों को अधिक से अधिक ६ कलाओं तक खींचा जा सकता है। विराम का प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि छन्द टूटे नहीं, छन्दों में मिश्रण का भ्रम न हो और अर्थ-भंग न हो।

भरत की काकु का ध्वनि के 'गुण' से सम्बन्ध नहीं है। इनका सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न सबसे पहले शार्ङ्गदेव के 'संगीतरत्नाकर' में किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रकीर्णकाध्याय में 'छाया' नामक स्थाय के पर्याय के रूप में 'काकु' का प्रयोग हुआ है। काकु के ६ भेद कहे गये हैं – स्वरकाकु, रागकाकु, अन्य-रागकाकु, देशकाकु, क्षेत्रकाकु और यन्त्रकाकु। इनका सम्बन्ध संगीत यानी षड्जादि स्वरों के विविध संचार रूप प्रयोग से है, अभिनय से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं। नाट्य के अन्तर्गत पाठ्य में उस रूप में षड्जादि सप्तस्वरों का निषेध है क्योंकि इनका प्रयोग होने पर पाठ्य नहीं रहता गान हो जाता है। इसलिये यहाँ इनका नामोल्लेख ही पर्याप्त है।[४]

'काव्यप्रकाश' के तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना के निरूपण से भी काकु के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कारिका द्रष्टव्य है :

वक्तृ-बोद्धव्य-काकूनां वाक्य-वाच्यान्यसन्निधेः ।
प्रस्ताव-देश-कालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥

अर्थात् वक्ता, बोद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य आदि के वैशिष्ट्य से विदग्ध लोगों को वाच्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला जो अर्थ-व्यापार होता है वह आर्थी व्यञ्जना ही है। काकु का लक्षण मम्मट ने 'ध्वनेर्विकारः' दिया है। काकु (स्वर भेद) वाच्यार्थ से भिन्न लेकिन वाच्यार्थ के द्वारा ही व्यञ्जित होने वाले अर्थ का बोध कराती है। अभिनवगुप्त ने अर्थबोधिका अर्थकाकु और भावबोधिका रसकाकु—यों दो भेद काकु के किये हैं, जबकि काव्यप्रकाशकार की काकु में इन दोनों का समावेश हो जाता है क्योंकि शब्दों के द्वारा अर्थबोध और उन शब्दों में रहने वाले स्वरभेद से चित्तवृत्ति बोध—ये दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं।

भरत के काकु-विधान के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि काकु के द्वारा बोधित होने वाली वस्तु व्यंग्य ही होती है वाच्य नहीं। वाच्यार्थ काकु का क्षेत्र नहीं है। शब्दों के द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न अनुभूत होने वाला अर्थ और स्वरों के आधार पर होने वाला भावबोध—दोनों व्यंजित ही होते हैं। किसी रस या भाव का नाम लेने से उसकी अनुभूति नहीं होती बल्कि उसके अनुकूल वातावरण का निर्माण करने पर ही होती है क्योंकि रस या भाव स्वरों के वाच्य नहीं होते बल्कि स्वरों के व्यंग्य होते हैं। वहाँ अभिधा, लक्षणा और आर्थी व्यंजना पीछे छूट जाती हैं। जब शब्द की सब शक्तियाँ अभीष्ट भाव का बोध कराने में असमर्थ हो जाती हैं तब काकु अपना कार्य करती है। चढ़ना-उतरना, तीव्र-मन्द होना, विस्तार-संकोच और द्रुत-धीमी

४. विशेष विवरण के लिये देखें, सं० र०, ३।१२०-१२६।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गति यही स्वर के धर्म हैं, यही काकु है, यही संगीत के भावपक्ष का आधार और प्राण है।

यद्यपि काकु का निरूपण भरत ने पाठ्य के लिये किया है इसलिये काकु के विभिन्न प्रकारों में सप्तस्वरों, मन्द्रादि स्थानों का निषेध किया है क्योंकि इनके प्रयोग से रक्ति आती है जो गान का धर्म है। लेकिन गान के द्वारा रस-भाव की अभिव्यक्ति करना अपेक्षित हो तो सप्तस्वर, मन्द्रादि स्थानों का प्रयोग करते हुए उनमें भरतोक्त काकुभेद का बोधपूर्वक योग होने पर ही ऐसा सम्भव है, अन्यथा नहीं।

काकु-सम्बन्धी इस सारी चर्चा के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भरत की काकु का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है जिसमें 'गान' तथा ध्वनि के 'विशेष गुण' को छोड़कर सामान्य बोल-चाल और पाठ्य से सम्बद्ध ध्वनि के सब धर्म समाविष्ट हैं। अभिनवगुप्त ने अर्थकाकु और रसकाकु कहकर काकु के दो रूपों को विशेषीकृत किया। मम्मट की काकु आर्थी व्यंजना के अनेक कारणों में से एक है जिसमें अभिनवगुप्त के भेदों का समावेश हो जाता है। भरत की काकु नाट्य से, मम्मट की काकु काव्य से और शार्ङ्गदेव की काकु मुख्य रूप से गीतवाद्य से सम्बन्धित है। वास्तव में ये सभी विभिन्न क्षेत्रों में ध्वनि के उस धर्म की द्योतक हैं जिसके कारण अर्थबोध और भावबोध होता है जो ईश्वर प्रदत्त वाणी के मनुष्य-कृत विकास की सूचक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काव्य और संगीत में 'ध्वनि'

काव्य के अनुशीलन से सहृदयों के हृदय को जो आनन्द प्राप्त होता है वह वाच्य नहीं होता बल्कि व्यंग्य होता है। यानी अर्थबोध कराने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग होता है उन शब्दों से या उनके साक्षात् संकेतित अर्थों से अनुभूति में नहीं आता बल्कि वाच्यार्थ से भिन्न जिस नवीन अर्थ या भाव की प्रतीति होती है वह नवीन अर्थ ही वास्तव में आनन्ददायक होता है। इसी को 'प्रतीयमान' भी कहते हैं। यही काव्य की आत्मा है जिसे ध्वन्यालोककार ने 'ध्वनि' के रूप में प्रतिष्ठित किया।

अपने हृदय में उठे बीज रूप भावों का सहृदय को अनुभव कराना या उसी चित्तवृत्ति में पहुँचाना ही कवि का प्रयोजन होता है। लेकिन यह अनुभव-सिद्ध है कि किसी भाव के सूचक शब्द मात्र से वह भाव प्रतीत नहीं होता। विशेष भाव या स्थिति में श्रोता या पाठक को तभी पहुँचाया जा सकता है जब कवि शब्दों के द्वारा ऐसी परिस्थिति खड़ी करे जिसे सुन कर वे भाव स्वतः उत्पन्न हो जायें। जैसे—'अमुक व्यक्ति की बातें सुन कर उसे बड़ा क्रोध आया' कहने से क्रोध की प्रतीति नहीं होती। लेकिन किसी व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति पर झूठा आरोप लगाते, धृष्ठता करते, अकारण मारते या मुट्ठी भींचते, दाँत पीसते, आँखें निकालते हुए चित्रित किया जाय तो अवश्य क्रोध का अनुभव होगा।

प्रबन्ध काव्य में कथा-प्रवाह होता है, पूर्वापर सम्बन्ध रहता है, अपेक्षाकृत अधिक वर्णन की गुंजाइश होती है, इसलिए भावबोध के लिए परिस्थिति तैयार रहती है। लेकिन मुक्तकों या छोटे पदों में कुछ ही चरणों में चित्तवृत्ति का बोध कराना होता है और ऐसा तभी सम्भव है जब कवि द्वारा अनेक अर्थों के बोधक शब्दों का प्रयोग हो। ऐसे व्यंजक शब्दों से अपने आप अर्थ ध्वनित होने लगते हैं।

वास्तव में 'ध्वनि' या 'व्यंग्य' साहित्य का ही नहीं कलामात्र का प्राण है क्योंकि शब्दों या उनके मुख्यार्थ से भावबोध नहीं होता, कला के अपने मुख्य माध्यम से व्यंजित ही होता है। आनन्दवर्धन के विवेचन से यह स्थापित हुआ कि व्यंजक शब्दों के द्वारा वाच्यार्थ के अतिरिक्त जो अर्थ प्रतीत होता है वह 'ध्वनि' है और वही काव्य की आत्मा है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' के लिए 'समाम्नातपूर्वः' विशेषण का प्रयोग किया है क्योंकि वास्तव में ध्वनि कोई नई वस्तु नहीं है, उसका अनुभव सहृदय व्यक्ति काव्य में सदा से करते आये हैं। रामायण, महाभारत आदि में भी वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ ध्वनित होता है लेकिन इस अर्थ को काव्य की आत्मा के रूप में पहले किसी ने ग्रहण नहीं किया था। आदि कवि वाल्मीकि के प्रथम श्लोक 'मा निषाद प्रतिष्ठां' के द्वारा कवि के हृदयगत जिस शोक की अनुभूति पाठक को होती है वह भी शब्दों का वाच्य नहीं है, उससे ध्वनित ही होता है क्योंकि न तो वहाँ शोक या उसके किसी पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है और न प्रयुक्त शब्दों का वाच्यार्थ शोक है किन्तु व्यंग्यार्थ के बल पर हृदय में शोक की अनुभूति होती है। यह प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में ही ध्वनित होता है क्योंकि उन अर्थों को व्यंजित करने वाले शब्दों और उनके अर्थों पर उनका प्रभुत्व होता है। उन कवियों में भावों का स्फुरण उसी रूप में होता है। उन्हें व्यंजक शब्द खोजने नहीं पड़ते। ऐसे व्यंजक शब्दों के प्रयोग से व्यंग्यार्थ उसी प्रकार व्यंजित होता है जिस प्रकार रमणियों के अवयवों में से उन अवयवों से भिन्न लावण्य झलकता है। सौन्दर्य को यही झलक काव्य में 'ध्वनि' है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने अनुभव-सिद्ध तथ्य को स्पष्ट करके उसे सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया और यह भी प्रतिपादित किया कि केवल व्यंग्य अर्थ ही 'ध्वनि' नहीं है बल्कि व्यंजक शब्द, व्यंग्यार्थ, व्यंजना व्यापार और व्यंग्यकाव्य भी 'ध्वनि' हैं।

इस ध्वनि सिद्धान्त का ग्रहण यद्यपि वैय्याकरणों के 'स्फोट' से हुआ लेकिन इसकी प्रेरणा संगीत से ही प्राप्त हुई। संगीत में सब कुछ व्यंग्य ही होता है और उसका माध्यम ध्वनि अर्थात् नाद है। इसी कारण विशेष रूप से ध्वनित होने वाले अर्थ के रूप में साहित्य में भी उसे 'ध्वनि' संज्ञा दी गई। प्रस्तुत लेख में ध्वनि शब्द को जहाँ कोष्ठांकित किया है वह इसी विशेष अर्थ में है शेष स्थानों पर ध्वनि का अर्थ नाद है।

यद्यपि काव्य का उपकरण शब्द और संगीत का स्वर है लेकिन शब्द और स्वर दोनों का मूल ध्वनि यानी नाद ही है जिसे दर्शनशास्त्र में व्यापक अर्थ में पञ्चमहाभूतों में प्रथम और सबसे सूक्ष्म महाभूत आकाश का 'शब्द' गुण कहा गया है। इसी को 'वाक्', 'वाणी' संज्ञाओं से भी प्रकट किया गया है। काव्य का शब्द वर्णात्मिका वाक् है और संगीत का शब्द नादात्मिका वाक्। वर्णात्मिका वाक् से अर्थ बोध भी होता है और भावबोध भी, नादात्मिका से केवल भाव-बोध। अर्थ जब शब्दों से सीधे सूचित होता है तो वाच्यार्थ कहलाता है और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिस शक्ति से उसका बोध होता है वह अभिधा शक्ति कहलाती है। सीधे वाच्य न होने पर दो स्थिति हो सकती हैं। एक तो यह कि वाच्य से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति हो। यह अर्थ लक्ष्यार्थ और उसका व्यापार लक्षणा व्यापार कहलाता है। दूसरी स्थिति में वाच्यार्थ से भिन्न ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जो सामान्यतः वाच्यार्थ से सम्बद्ध नहीं होता। यही व्यंग्य, प्रतीयमान या 'ध्वनि' है। इसकी प्रतीति के कई कारण हो सकते हैं, जैसे—कहने वाले का विशेष अभिप्राय, श्रोता की विशेषता, वक्ता का स्वर भेद, विशेष प्रसंग, स्थान, काल आदि। उदाहरण के लिए किसी ने कहा 'रजनीगन्धा फूल रहा है'। इसका वाच्यार्थ तो इतना ही है कि इस नाम का फूल खिल रहा है। लेकिन कहने वाले का इतना ही अभिप्राय नहीं है बल्कि यह बोध कराना भी है कि रजनी-गन्धा की सुगन्ध आ रही है। यह उसका लाक्षणिक अर्थ है। लेकिन उक्त वाक्य के अन्य कई अर्थ हो सकते हैं जिनका फूल खिलने से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। श्रोता वृद्ध व्यक्ति होगा तो यह समझेगा कि रात हो गई घर चलना चाहिए। चोर हो तो यह समझेगा कि चोरी की तैयारी का समय हो गया। नववधू हो तो मिलन बेला हो गई। तांत्रिक हो तो साधना काल का आरम्भ समझेगा।

ये सब उदाहरण अर्थध्वनि के हैं। लेकिन भाव भी ध्वनित होते हैं। 'क्यों' शब्द ले लीजिए। इसे भिन्न-भिन्न ध्वनि-भेदों के साथ बोलने में यही शब्द प्रश्न, क्रोध, विस्मय, दुलार, खीझ आदि अनेक भावों का बोध करा सकता है। यद्यपि अर्थबोध और भावबोध शब्द के द्वारा ही हुआ लेकिन भावों की प्रतीति में कारण 'काकु' या ध्वनिभेद है।

केवल नादात्मिका वाक् से यानी जिसमें सार्थक शब्द न हों, भाव का ही बोध सम्भव है और वे भी ध्वनित ही होते हैं, वाच्य नहीं। षड्ज, ऋषभ आदि या स, रि, ग आदि शब्दों या स्वरनामों से या इन शब्दों के अर्थों से संगीत में कोई भावानुभूति नहीं होती। स्वरों के विशेष प्रकार के प्रयोग से ही भाव व्यंजित होते हैं। लेकिन जैसे काव्य में किसी शब्दविशेष द्वारा वक्ता, श्रोता आदि के भेद से विभिन्न अर्थों का बोध हो सकता है वैसा नादात्मिका वाक् के द्वारा सम्भव नहीं है। किसी स्वर या स्वरसमुदाय का एक प्रकार से प्रयोग करने पर एक ही चित्तवृत्ति का अनुभव हो सकता है। जैसे—कराहने की आवाज़ से अनुभव होता है कि व्यक्ति को पीड़ा है। उस ढंग से कभी भी ध्वनि निकलेगी तो पीड़ा का ही अनुभव होगा, हर्ष या क्रोध का नहीं। इसी प्रकार संगीत में भी होता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नाट्य में प्रयुक्त संगीत के द्वारा निश्चित व्यंग्यार्थ की प्रतीति सम्भव है क्योंकि वहाँ नाट्य के अन्य उपकरणों के द्वारा परिस्थिति बनी हुई रहती है। लेकिन नाट्य भिन्न संगीत में व्यंग्यार्थ या भावबोध श्रोता की मानसिक स्थिति, संवेदनशीलता और तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता पर भी निर्भर है। साथ ही एक ही स्वरावली से अलग-अलग श्रोता भिन्न अर्थ या भाव की अनुभूति भी कर सकते हैं क्योंकि स्वरों से व्यंजित होने वाले भावों का रूप पूरी तरह नियत नहीं होता। संगीत में शब्द या पद स्वरात्मक अभिव्यक्ति के लिए सहारा या आधार तो हो सकते हैं लेकिन वे गौण ही होते हैं क्योंकि प्रयोक्ता या श्रोता किसी की भी विशेष दृष्टि शब्दों पर नहीं रहती, स्वरों की व्यंजना पर ही होती है। भारतीय संगीत में विशेष रूप से रागसंगीत में तो यह सर्वथा सत्य है। यदि उसमें शब्दों पर ही दृष्टि रहे तो संगीत का पूरा आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता।

संगीत में ध्वनि प्रमुख है, काव्य में अर्थ। संगीत का माध्यम भी केवल ध्वनि है और अनुभूति का विषय भी ध्वनि है। काव्य में माध्यम शब्द है और ध्वनि सहायक है। संगीत का आदि, मध्य ध्वनि है और अन्त भी 'ध्वनि'। काव्य का आदि शब्द, मध्य वाच्य और अन्त 'ध्वनि' है। संगीत में केवल भावबोध सम्भव है जब कि काव्य में भावबोध के साथ अर्थबोध भी होता है। दोनों में व्यंजकता का आधार 'ध्वनि' है इसलिये दोनों का मिलन-बिन्दु 'ध्वनि' है घण्टे पर मूँगरी की चोट से उत्पन्न 'रणन' के साथ ही ध्वनित होकर देर तक सुनाई देने वाला 'अनुरणन' युक्त स्निग्ध, मधुर, रंजक नाद 'व्यंग्य' है। काव्य में शब्द को सुनते ही समझ में आने वाला अर्थ वाच्य है और उससे जो अर्थ ध्वनित होता है वह 'व्यंग्य' है। जैसे एक स्वर में से अनेक उपस्वर ध्वनित होते हैं उसी प्रकार शब्द में से उसके अनेक अर्थ व्यंजित होते हैं। वाद्य या कण्ठ में जितने अधिक उपस्वरों का योग होगा उसकी ध्वनि उतनी ही अधिक समृद्ध और उत्तम मानी जाती है। उसी प्रकार जिस काव्य में शब्दों से जितने अधिक भावों का बोध हो वह काव्य उतना ही उत्तम माना जाता है। इसीलिये 'ध्वनि' काव्य को सर्वोत्तम कहा गया है।

वास्तव में वाच्य और व्यंग्य का पूर्व-पर क्रम सहृदयों को प्रतीत नहीं होता इसीलिए उत्तम काव्य को 'असंलक्ष्यक्रम' कहा गया है। संलक्ष्यक्रम में वस्तु या अलंकार की चमक होती है, रस या 'ध्वनि' का लावण्य नहीं। फिर भी काव्य में शब्द और अर्थ का अन्तर है लेकिन संगीत में स्वर का पृथक् ग्रहण और फिर भावबोध जैसा अन्तर नहीं रहता। सहृदय श्रोता को तो भाव ही अनुभूतिगम्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। इसीलिए भारत में कलाओं और विद्याओं में संगीत को प्रथम स्थान दिया गया और विशुद्ध भावावस्था में पहुँचा कर चित्त की शुद्धि करने के कारण इसे मोक्ष का साधन भी माना गया।

सम्भवतः संगीत से साहित्य में 'ध्वनि' के स्थापन की प्रेरणा हुई लेकिन साहित्य में 'ध्वनि'-सिद्धान्त की स्थापना के बाद संगीत में भी व्यंजकता की पुष्टि को बल मिला और रसशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर संगीत से होने वाली आनन्दानुभूति के विश्लेषण के लिए आधार प्राप्त हुआ। उन सिद्धान्तों का उपयोग करके संगीत जैसी चल और सूक्ष्म कला के स्वरूप पर भी किसी सीमा तक विचार अवश्य किया जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति का स्वरूप

मनुष्य को अपने शरीर के अभिन्न अंग के रूप में अभिव्यक्ति के दो अत्यन्त सशक्त माध्यम उपलब्ध रहे हैं—आंगिक संकेत या चेष्टाएँ और वाणी। वह अपने हृदय के भावों को विभिन्न अंगों की चेष्टाओं के द्वारा और अलग-अलग प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करके व्यक्त करता रहा है। विभिन्न आवेगों की तीव्रता में जैसे अंगों में विक्रियाएँ स्वतः होती हैं उसी प्रकार कण्ठ से स्वतः ऐसी ध्वनियाँ भी निकल पड़ती हैं जो चित्तवृत्ति का, हृदय के हर्ष, भय, शोक, प्रेम आदि आवेगों का बोध कराती हैं। कण्ठ-ध्वनि के द्वारा आवेगों का व्यक्त होना अत्यन्त स्वाभाविक है, जो मनुष्य में ही नहीं पशु-पक्षियों में भी दिखाई देता है। दूध दुहने का समय होने पर दौड़कर आते हुए बछड़े को देखकर गाय का रंभाना और मरणासन्न गाय का रंभाना, घायल होकर गिरी हुई चिड़िया की चीं-चीं और बच्चे के मुँह में दाना देकर हर्ष और सन्तोष के फलस्वरूप माता चिड़िया की चीं-चीं, मालिक का प्यार पाकर उसके अंग से अपने अंग रगड़ते हुए कुत्ते की कूं-कूं और किसी प्रतिस्पर्धी के आने पर गुर्राते हुए कुत्ते का भौंकना—ध्वनि के ये भेद अभिप्राय को व्यक्त करते हुए प्रतिदिन हमारे अनुभव में आते हैं। जंगली मनुष्य भी जब भय से चीख उठता होगा तो उसे सुनकर उसके प्रियजनों को विपत्ति का बोध होता होगा। उस समय भयग्रस्त मानव जैसे चीख उठता होगा, आज भी वैसे ही चीख पड़ता है। दूर खड़े होकर बात करते हुए दो व्यक्तियों की ध्वनि सुनकर भाषा समझे बिना भी यह समझ में आ जाता है कि प्रेमपूर्ण संवाद हो रहा है या लड़ाई। इस प्रकार की अभिव्यक्ति सभी देशों, कालों और जीवों में सामान्य होती है। यह अभिव्यक्ति जिस माध्यम से होती है उसे भारतीय परम्परा में सामान्य रूप से 'शब्द', 'ध्वनि', 'नाद', 'वाक्' और विशेष रूप से 'नादात्मिका वाक्' कहा गया है। संगीत का मूल तत्त्व भी यही है जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है इसलिये संगीत को सार्वदेशिक या सार्वभौम भाषा कहा जाता है।

'संगीत' शब्द के प्राचीन और आधुनिक अर्थ में कुछ अन्तर है। अंग्रेज़ी भाषा के 'म्यूज़िक' शब्द के पर्याय के रूप में भी इसका प्रयोग होता है। प्रस्तुत लेख की विषयवस्तु की दृष्टि से इनके सम्बन्ध और अन्तर को संक्षेप में समझ लेना उपयोगी होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भरत ने गीत-वाद्य प्रयोग के लिए 'गांधर्व' शब्द का प्रयोग किया है जो नाट्य के अंग के रूप में प्रयुक्त होता था। नाट्य की परिभाषा 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' होने के कारण जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के कलात्मक अनुकरण में सभी साधनों का उपयोग इस प्रकार होना चाहिए जिससे कथा का विकास हो, परिस्थितियाँ अधिक तीव्र बनें और पात्रों के चरित्र अधिक स्फुट हों। 'गांधर्व' का यह लक्षण दिया गया—'स्वरतालपदात्मकम्।' कारण यह है कि संगीत के मूल तत्त्व स्वर और लय होते हुए भी नाट्य में 'पद' यानी शब्दयुक्त गीत का विशेष महत्त्व है क्योंकि पद के संयोग से ही संगीत नाट्य की सिद्धि में सहायक होता है। पद व स्वर दोनों मूलतः मनुष्य कण्ठ से ही उत्पन्न होते हैं इसलिये कण्ठ-संगीत को हमारे यहाँ प्रधानता प्राप्त हुई और वाद्य उसके 'अनुकारक' या 'उपरंजक' माने गये।

लेकिन जब नाट्य से स्वतन्त्र संगीत के प्रयोग से सम्बन्धित ग्रन्थ लिखे गये तो उनमें गीत और वाद्य के साथ नृत्य भी सम्मिलित हुआ। इस प्रकार 'संगीत' शब्द इन तीनों के समुच्चय का बोधक बना। वर्तमान समय में केवल गीत और वाद्य के लिये प्रायः संगीत शब्द का प्रयोग होता है और इस प्रयोग पर अंग्रेज़ी के 'म्यूज़िक' का प्रभाव है क्योंकि 'म्यूज़िक' शब्द केवल गीत और वाद्य का ही सूचक है, नृत्य सदा उससे अलग रहा। साथ ही उसमें पद यानी शब्द को संगीतबाह्य तत्त्व माना गया। विशुद्ध संगीत उसी को कहा गया जिसमें शब्द न हों इसलिये वाद्य ही उनके यहाँ प्रमुख और आदर्श रहा। इस दृष्टि से आज प्रयुक्त 'संगीत' शब्द संगीतरत्नाकर के 'संगीत' की अपेक्षा नाट्यशास्त्र के 'गांधर्व' और अंग्रेज़ी के 'म्यूज़िक' के अधिक निकट है क्योंकि इनमें भी नृत्य का ग्रहण नहीं होता।

पाश्चात्य देशों में 'म्यूज़िकल एँस्थॅटिक्स' के रूप में संगीत-ज्ञान की एक नई शाखा का विकास हुआ है जिसके अन्तर्गत संगीत के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति के स्वरूप पर विचार किया जाता है। सांगीतिक अभिव्यक्ति किस प्रकार की होती है इस बारे में पाश्चात्य देशों में दो विचारधाराएँ हैं—१. ऑटोनॉमी (Autonomy) और २. हॅटेरोनॉमी (Heteronomy)। 'ऑटोनॉमी' का सामान्य अर्थ है 'स्वायत्तता' अथवा 'निरपेक्षता' यानी जो किसी अन्य के अधीन न हो, किसी पर निर्भर न हो। 'हॅटेरोनॉमी' इसके ठीक विपरीत है। कला के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति और अनुभूति से सम्बन्धित होने के कारण इन दोनों का संक्षिप्त परिचय हमारे विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उपयोगी होगा। 'ऑटोनॉमी' के प्रथम व प्रमुख प्रतिपादक एँडवर्ड हॅंसलिक हैं। इस बारे में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनकी पुस्तक 'दि ब्यूटीफ़ुल् इन म्यूज़िक' के आधार पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

ऑटोनॉमी के अनुसार संगीत अपनी अभिव्यक्ति के लिये किसी संगीतबाह्य तत्त्व पर निर्भर नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति और आनन्दानुभूति उसके अपने तत्त्वों की ही होती है, किसी अन्य तत्त्व की नहीं। अथवा यों कहें कि संगीत के साथ किसी भाव, विचार, घटना या परिस्थिति का सम्बन्ध नहीं होता बल्कि स्वर-सन्निवेश स्वयं में रंजक होते हैं और उन्हीं का आनन्द लिया जाता है। लेकिन हॅटेरोनॉमी के प्रतिपादक संगीत को भावों की भाषा समझते हैं। इसका अर्थ यह है कि संगीत अपने सौन्दर्य के अतिरिक्त भी कुछ व्यक्त करता है जो वास्तव में सांगीतिक नहीं है अथवा संगीत के स्वरूप से भिन्न है। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार संगीत का सौन्दर्य विषयगत अथवा वस्तुनिष्ठ है और द्वितीय के अनुसार विषयिगत अथवा व्यक्तिनिष्ठ।

व्यक्ति में सौन्दर्यानुभूति एक हद तक व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर भी निर्भर है। प्रकृति किसी के लिए सामान्य वस्तु हो सकती है किसी अन्य के लिए वह दार्शनिक वस्तु बन जाती है। कल-कल करते झरने, वन के वृक्षों पर अस्त-व्यस्तता से लिपटी लताएँ, उन पर बैठकर कलरव करते पक्षी किसी को आनन्दानुभूति करा सकते हैं, प्रकृति के अनन्त सौन्दर्य के दर्शन करा सकते हैं और इन सबके स्रष्टा के सच्चिदानन्द रूप की अनुभूति करा सकते हैं। किसी अन्य के लिए वे मात्र पेड़-पौधे, पशु-पक्षी भी हो सकते हैं। एक उदाहरण से दृष्टिकोण भेद के कारण होने वाली भिन्न अनुभूति को समझ सकते हैं। जहाज़ के 'डॅक' के भीतर बैठकर पुस्तक पढ़ते हुए नदी पार कर जाने वाले व्यक्ति के लिए नदी एक सामान्य व्यवहार की वस्तु है। लेकिन बाहर बैठकर ऊपर-नीचे उठती-गिरती पानी की छोटी लहरों, झीने घूंघट में से कभी उठती कभी गिरती पलकों के भीतर से झांकते सलज्ज नववधू के नेत्रों की भाँति पानी की लहरों में कभी छिपते कभी दिखते पूर्ण चन्द्र के सौन्दर्य का दर्शन करने वाले व्यक्ति के लिए नदी आनन्दानुभूति की वस्तु होती है। इसी प्रकार संगीत सुनकर जिनकी हृत्तंत्री झंकृत हो उठती हो, किन्हीं भावों की अनुभूति होती हो, जीवन का रिक्त-पात्र आनन्दानुभूति से भर जाता हो उनके लिए संगीत भावों की भाषा है। लेकिन जो संगीत के श्रवण के समय केवल उसके स्वर-सौष्ठव का, लय-योजना का, राग के स्वरूप का, तिहाइयों, खटकों आदि का ही आनन्द लेते हों उनके लिए संगीत के स्वर-लय ही आनन्द की वस्तु होते हैं; उन्हें किसी अन्य प्रकार का आनन्द उससे प्राप्त नहीं होता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभिन्न कलाओं के द्वारा भिन्न प्रकार की अनुभूति होती है। काव्य के द्वारा निश्चित अर्थ के रूप में अनुभूति होती है, जैसे—काव्य के शब्दों को पढ़कर अथवा सुनकर खतरे से भय, मरण से शोक, अन्याय से क्रोध आदि अनुभूतियाँ होती हैं। शिल्प अथवा चित्रकला से निश्चित आकार का ग्रहण होता है। जैसे—राम, सीता, सिंह, घोड़े, मोर आदि के चित्र या मूर्ति को देखकर उन्हें राम, सीता, सिंह, घोड़ा, मोर ही समझा जाता है। संगीत के द्वारा इनमें से किसी भी प्रकार की निश्चित भावानुभूति नहीं होती क्योंकि मन में भावनाओं की सत्ता निरपेक्ष नहीं होती। किसी विशेष कारण यानी परिस्थिति अथवा घटना के फल-स्वरूप चित्त में विकार अर्थात् 'भाव' उत्पन्न होते हैं। यानी किसी भाव की अनुभूति में उससे पूर्व की स्थिति का सम्बन्ध अवश्य रहता है। ख़तरा देखकर भय उत्पन्न होता है, मृत्यु या अत्यधिक कष्ट से शोक होता है, प्राप्य की अपेक्षा बहुत अधिक प्राप्त होने से हर्ष होता है, अन्याय-अत्याचार देखकर क्रोध उत्पन्न होता हैं, घिनौनी वस्तु या कलुषित व्यवहार से घृणा होती है। निराशा का अर्थ है पहले से रही आशा का नष्ट होना। प्रेम का प्रिय के बिना कोई अस्तित्व नहीं। इसका अर्थ यह है कि भावानुभूति के लिए विशेष परिस्थिति या कारण-कार्य सम्बन्ध अनिवार्य है।

विशुद्ध संगीत में शब्द न होने के कारण वह अव्याकृत वाणी पर आधारित है, जिसे हमारे यहाँ 'नादात्मिका वाक्' कहा गया है, इसलिए वह निश्चित भाव या विचार व्यक्त करने में असमर्थ है। निश्चितता अर्थ में रहती है और अर्थ पद में निहित होता है। 'ऑटोनॉमी' में पद-रहित संगीत ही विशुद्ध संगीत है इसलिए वाद्य-संगीत ही उसका आदर्श है। वाद्य में पद नहीं रहता इसलिए निश्चित अर्थ नहीं रहता और तब नियत चित्तवृत्ति यानी भाव विशेष की अनुभूति भी संगीत के द्वारा नहीं हो सकती।

हेंसलिक की दृष्टि में सम्पूर्ण भाव-जगत् संगीत का विषय नहीं हो सकता क्योंकि भाव वैयक्तिक अनुभूति का विषय है जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भी हो सकता है। हेंटेरोनॉमी में संगीत का आनन्ददायक तत्त्व सुन्दर धुन या रचना-विशेष ही नहीं है बल्कि उसका अर्थ-विशेष भी आनन्द प्रदान करता है। उदाहरणार्थ उसमें योद्धा की ललकार, प्यार की फुसफुसाहट आदि सुनाई देती है। इसके विपरीत ऑटोनॉमी के प्रतिपादकों के अनुसार संगीत के माध्यम से ललकार या फुसफुसाहट तो व्यक्त की जा सकती है किन्तु वह योद्धा की है अथवा प्यार की इसे व्यक्त करने की सामर्थ्य संगीत में नहीं है क्योंकि इसकी सत्ता तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यक्तिनिष्ठ है; ललकार और फुसफुसाट संगीत-रचना में मौजूद नहीं बल्कि श्रोता इनका आरोप कर देता है। संगीत के द्वारा गम्भीर, कोमल, उत्साह-पूर्ण, भव्य आदि प्रकृति-सामान्य का बोध हो सकता है लेकिन निश्चित अर्थ नहीं निकाला जा सकता। 'कम्पोज़र' की रचना का स्वरूप विशुद्ध सांगीतिक होता है यानी वह सुन्दर स्वर और लयों की योजना मात्र करता है।

ऑटोनॉमी के अनुसार शब्द और उसके अर्थ में जैसा कार्य-कारण भाव रहता है वैसा संगीत में नहीं होता क्योंकि यहाँ अभिव्यक्ति का माध्यम और अभिव्यंग्य अलग-अलग नहीं बल्कि एक ही हैं। किसी घटना या परिस्थिति को ध्यान में रखकर बनाई गई संगीत-रचना (programme music) विशुद्ध संगीत नहीं क्योंकि उसमें संगीत के अपने दो माध्यम—स्वर और लय—गौण होकर पद के अधीन होते हैं। एक ही घटना या परिस्थिति को अलग-अलग कम्पोज़र अलग-अलग प्रकार की रचनाओं के द्वारा व्यक्त करते हैं तथा विभिन्न श्रोता एक ही रचना से भिन्न-भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी दिखाई देता है कि विपरीत भावनाओं से युक्त रचनाओं की धुनें मिलती-जुलती होती हैं। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि वहाँ स्वर और लय गौण तथा शब्द प्रधान होते हैं और आनन्दानुभूति किसी संगीतबाह्य तत्त्व की होती है, संगीत के अपने स्वरूप की नहीं।

हॅटेरोनॉमी के प्रतिपादकों का कहना है कि सैद्धान्तिक आधार पर भावात्मक अनुभूति से भले ही इन्कार किया जाय वास्तव में सभी को संगीत से भावानुभूति होती है। संगीत रचना के श्रवण से किसी आवेग की अनुभूति होती हो तो उसे रोकने की अथवा यह समझने की कोई आवश्यकता नहीं कि काव्य के द्वारा ही भावानुभूति सम्भव है और यदि संगीत से भी ऐसी अनुभूति होती हो तो इसका यह अर्थ है कि श्रोता में संगीतात्मक अनुभूति की क्षमता नहीं है केवल काव्यानुभूति की क्षमता ही है। कम्पोज़रों की डायरियाँ, पत्र-व्यवहार, आत्मकथाएँ और जीवनियाँ इसके प्रमाण हैं कि रचना-निर्माण के क्षणों में उनकी कल्पना और कभी-कभी पूरा व्यक्तित्व किसी विशेष भाव से आप्लावित रहा है। उनके मन में धुनें सागर की लहरों की तरह गर्जन करती रही हैं और जब तक भावमूर्ति को धुनों के आधार पर संगीत रचना का रूप देकर संगीतलिपिबद्ध नहीं कर दिया गया तब तक वे शान्त नहीं हुईं। इसलिए यह कहना उचित नहीं है कि कम्पोज़र की कल्पना में केवल धुनें रहती हैं, भाव नहीं, और उन्हीं का जाल बुनकर वह संगीतरचना बनाता है तथा सौन्दर्यानुभूति भी केवल स्वर-लय के सौष्ठव की ही होती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कलात्मक अनुभूति कलाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से बद्ध और प्रभावित होती है। संगीत में पूर्णता के लिए स्वर-लय के अतिरिक्त अन्य तत्वों से सम्बन्ध-विच्छेद ज़रूरी नहीं है। लेकिन जिस प्रकार किसी विशेष कला के माध्यम से अभिव्यक्ति करने के लिए उस कला-सम्बन्धी विशेष प्रकार की अनुभूति चाहिये उसी प्रकार किसी कला को समझने के लिए विशेष प्रकार की संवेदना भी आवश्यक है। किसी विशेष परिस्थिति में हुई व्यक्तिगत अनुभूति ही कलाकार द्वारा रचना में व्यक्त होती है। यह सही है कि अभिव्यक्ति के लिए कलाकार जो माध्यम चुनता है वह उसकी व्यक्तिगत संवेदना, कल्पना और अनुभूति से बँधा होता है। उसी प्रकार दर्शक या श्रोता की अनुभूति भी उसकी अपनी संवेदना, कल्पना और पूरे व्यक्तित्व से बँधी होती है। किसी परिस्थिति की संवेदना कैसी होती है, कल्पना में वह कैसा रूप धारण करती है, उस परिस्थिति की चित्त पर क्या प्रतिक्रिया होती है, क्या अनुभूति होती है; इसके अनुसार ही कवि की कविता, चित्रकार का चित्र, शिल्पी की मूर्ति अथवा संगीतज्ञ की संगीत-रचना बनेगी। लेकिन इनके श्रोता या दर्शकों में से प्रत्येक को वैसी ही अनुभूति हो जैसी रचना करने वाले को रचना के समय हुई यह आवश्यक नहीं। यहाँ तक कि एक ही परिस्थिति में विभिन्न रचनाकारों को भिन्न प्रकार की अनुभूति होना भी सम्भव है।

रचनाकार अपनी चेतना को अपनी रचना में व्यक्त करना चाहता है और वह किसी भी माध्यम से व्यक्त हो सकती है। यह माध्यम ही रचनाकार की भाषा है। लेकिन वह ऐसी भाषा, माध्यम अथवा कला के द्वारा उस चेतना को प्रकट करता है जिससे वह अधिक परिचित होता है तथा जो उसके अधिक निकट होती है। कलाकार अपनी कला के माध्यम के जितना अधिक निकट होता है उसकी कला उतनी ही अधिक स्थायी होती है। जैसे—शिल्पी पत्थर या मिट्टी की मूर्ति को रंग से रँगने का प्रयत्न करे तो वह सुन्दरता खो देती है, चित्रकला का उपयोग नाट्यशाला की सजावट के लिए होने पर वह जटिल हो जाती है, कविता में शब्दार्थ की अपेक्षा स्वर-लय का प्राधान्य हो जाय तो वह संगीत के निकट पहुँच जाती है। उसी प्रकार संगीत में स्वर-लय योजना गौण हो जाय और पद व पदार्थ मुख्य बन जाय तो उसे संगीत की अपेक्षा काव्य कहना अधिक संगत होगा।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि संगीत में शब्द और अर्थ न रहें तभी वह संगीत है। ऑटोनॉमी में जिस वाद्यसंगीत को 'निरपेक्ष-संगीत' (absolute music) कहा गया है उसकी तीव्र आलोचना हॅटेरोनॉमी के प्रतिपादकों द्वारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की जाती है। इनकी दृष्टि में 'निरपेक्ष-संगीत' संगीत में जो निरपेक्ष है उससे बहुत दूर है क्योंकि वह केवल आकारों (forms) का खेल है और उसमें काव्यमय भावनात्मक परिस्थिति का अभाव है। इसमें आनन्दानुभूति केवल स्वर और लय के माध्यम से ही होनी चाहिए, अन्य तत्त्वों को सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन क्या निर्देशक, गायक-वादकों की चेष्टाएँ, मुखाकृति, वस्त्र, रंग-मंच की रोशनी, रंगशाला की बनावट आदि श्रोताओं की अनुभूति को प्रभावित नहीं करते ? ये सभी संगीतबाह्य तत्त्व हैं जिनका प्रभाव निश्चित रूप से निरपेक्ष संगीत में शामिल नहीं किया जा सकता। तब निरपेक्ष संगीत की निरपेक्षता के परीक्षण का एक ही उपाय है और वह यह कि प्रस्तुत किये जाने वाले कार्यक्रम के बारे में बोल कर या लिखकर कुछ भी घोषणा न की जाय, कोई नाम न दिया जाय, कोई शब्द न रहें, और अन्धेरे कमरे में कार्यक्रम प्रस्तुत किया जाय। फिर श्रोताओं पर उसके प्रभाव की परीक्षा की जाय। लेकिन क्या इसे कोई भी पसन्द करेगा ? इस बारे में एक रोचक उल्लेख कथनीय है। पश्चिमी देशों में पियानो के कार्यक्रम में (जिसे 'निरपेक्ष संगीत' के वर्ग में रखा जा सकता है) लोग उसे केवल सुनना ही नहीं देखना भी चाहते हैं। इसलिए थियेटर में बाईं ओर की टिकटें पहले और ज्यादा संख्या में बिक जाती हैं क्योंकि उस ओर से पियानो वादक के हाथ और पियानो की पट्टियाँ दिखाई देती हैं लेकिन दूसरी ओर से नहीं।

हेटेरोनॉमी के प्रतिपादक यह तर्क भी देते हैं कि जो 'निरपेक्ष' हो वह 'अनन्त' भी होना चाहिए। लेकिन निरपेक्ष संगीत वैसा नहीं है। संगीत के द्वारा चित्त पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन से, सुन्दर काव्य के पठन से या नाट्य के दर्शन से। तथाकथित निरपेक्ष संगीत गम्भीर है, व्यवस्थित है, किसी बाग़ में काँट-छाँट कर सजाये-सँवारे गये पौधों की क्यारियों जैसा है जिन्हें देखकर दर्शक की दृष्टि चकित हो जाती है, माली के कौशल की प्रशंसा मुँह से निकल पड़ती है, लेकिन उसमें संकोच है, नवीनता, विस्तार या उन्मुक्त सौन्दर्य नहीं जो किसी वन में नई-नई रंग-बिरंगी कोंपलों से युक्त वृक्षों, उन पर अस्त-व्यस्तता से किन्तु सहज-स्वाभाविक रूप से लिपटी लताओं, कलकल करते झरनों, जँगली फूलों की भीनी महक, पक्षियों की चहक आदि में होती है।

पाश्चात्य विचारकों की ये दोनों विचारधाराएँ परस्पर विरोधी हैं। एक का आदर्श वाद्य-संगीत और दूसरी का कण्ठ संगीत है। एक केवल स्वर और लय को लेकर चलती है, दूसरी में शब्द के लिए भी स्थान है। एक में रचना-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कार कल्पना में केवल स्वर-लय का जाल बनाता है, दूसरी का रचनाकार कल्पना में एक भावमूर्ति का निर्माण करके स्वर-लय के माध्यम से उसमें अपनी चेतना को उँडेल कर उसे साकार करता है। एक के श्रोता को केवल इन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है, दूसरी का श्रोता आत्मानुभूति, भावानुभूति अथवा आनन्दानुभूति की स्थिति में रहता है। एक का लक्ष्य केवल मनोरंजन (entertainment) है, दूसरी का चित्तवृत्ति बोध भी। एक में आकार (form) और कथ्य (substance) एक है, दूसरी में दोनों में कुछ अन्तर है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के बाद अब हम इस विषय पर भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

सृष्टि की उत्पत्ति का मूल 'वाक्'—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपा चतुर्विध वाक्—को माना गया है। इसी 'वाक्' को भारतीय वाङ्मय में 'शब्द', 'ध्वनि', 'नाद' आदि संज्ञाओं से भी अभिहित किया है। संसार का समस्त व्यवहार इसी वाक् के आधार पर होता है। वाक् द्विरूपा कही गई है—नादात्मिका और वर्णात्मिका। नादात्मिका वाक् आवेगरूप चित्तवृत्ति की सूचिका है और वर्णात्मिका वर्ण से सम्बद्ध होने के कारण प्रधानतः विचार की निर्दशिका है। नादात्मिका वाक् मुखराग, पुलक आदि के स्तर की है यानी जैसे भावावेग में अश्रु, पुलक, कम्प, स्वेद आदि सात्विक भाव बिना प्रयत्न के स्वतः शरीर में प्रकट होते हैं उसी प्रकार हर्ष, शोक, क्रोध आदि के आवेग में उन चित्तवृत्तियों की सूचक ध्वनियाँ—शब्दरहित, मात्र ध्वनियाँ—भी मनुष्य के मुँह से स्वतः निकल पड़ती हैं। संगीत के मूल में भी इसी प्रकार की ध्वनियाँ हैं। कुछ उदाहरणों के द्वारा इस कथन को समझा जा सकता है। जीवन में विशेष अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीतों को सुनकर, उनके शब्द और अर्थ को समझे बिना भी, केवल धुनों से ही मालूम हो जाता है कि हर्ष का प्रसंग है या शोक का। पुत्र जन्म के सोहर, विवाह के बन्ने-बन्नी, त्योहारों के मंगल गीत सुनकर उनकी धुनों से ही हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगती हैं। विदाई के अवसर पर गाये जाने वाले गीत जिसने सुने होंगे उसने सदा के लिये बिछुड़ती हुई पुत्री के वियोग में माता के हृदय में उमड़ने वाले कष्ट का अनुभव गीत की धुन के द्वारा ही अवश्य किया होगा। किसी अत्यन्त प्रिय व्यक्ति की मृत्यु पर स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीत को सुनकर किसका हृदय नहीं फटता होगा? इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ कुछ विशेष प्रकार की धुनों से कुछ विशेष भावों की अभिव्यक्ति होती है वहीं किसी विशेष परिस्थिति से उत्पन्न विशेष चित्तवृत्ति में उसके अनुरूप ही स्वर भी उत्पन्न होते हैं। तभी तो इन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गीतों की धुनें इनके प्रयोक्ता की चित्तवृत्ति का न्यूनाधिक मात्रा में बोध अवश्य कराती हैं। यदि ऐसा न हो तो उन धुनों का वही प्रभाव क्यों होता है अथवा श्रोता के मन की स्थिति भी कुछ वैसी ही क्यों हो जाती है जो प्रयोक्ता उत्पन्न करना चाहता है अथवा जिससे वह स्वयं अभिभूत होता है। इतना ही नहीं, मनुष्य दुःख में डूबा हुआ हो और उस स्थिति में अगर मन के दुःख को भूलने अथवा कम करने के लिये वह किसी उल्लासपूर्ण स्वरावली को गुनगुनाये तो वह स्वरावली भी उसकी चित्तवृत्ति में रँगकर शोकपूर्ण भावों से युक्त सुनाई देने लगती है।

ईश्वर ने मनुष्य को इतर प्राणियों की अपेक्षा वर्णात्मिका वाक् की ऐसी विलक्षण शक्ति से सम्पन्न बनाया है जिसका विकास करके उसने ऐसा साधन ढूंढ लिया कि श्रव्य अभिव्यक्ति के दो सबल साधन उसके पास हो गये—नादात्मिका वाक् अर्थात् स्वर और वर्णात्मिका वाक् अर्थात् पद यानी सार्थक शब्द। जीवन के हर क्षण में मनुष्य इनका उपयोग करता है। कलाओं में तो इनका प्रयोग होना स्वाभाविक है क्योंकि वे भी जीवन का प्रतिबिम्ब हैं।

दैनिक व्यवहार में, मामूली बोलचाल में स्वर और लय परस्पर अभिन्न रहते हुए पद द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति को सार्थक बनाते हैं क्योंकि पद के द्वारा जो भाव व्यक्त होता है वह उसके उच्चारण में प्रयुक्त ध्वनि के उतार-चढ़ाव, गतिभेद और आवाज़ में परिवर्तन के कारण होता है। अबोध शिशु, जो माँ की भाषा को नहीं समझता, माँ की आवाज़ से ही समझ लेता है कि वह डाँट रही है तो रो पड़ता है या प्यार से बुला रही है तो हँस पड़ता है। समीपस्थ व्यक्ति को सम्बोधित करते समय हम धीरे से बोलते हैं लेकिन कमरे के बाहर खड़े चपरासी को बुलाना हो तो उसका नाम लिये बिना भी 'अरे सुनो' इतनी ज़ोर से बोलते हैं कि बाहर खड़ा चपरासी समझ लेता है कि उसी को बुलाया जा रहा है। क्रोध के आवेग में स्वर ऊँचा हो जाता है और गति भी बढ़ जाती है यानी वह चिल्लाकर और जल्दी-जल्दी बोलने लगता है लेकिन मरणासन्न व्यक्ति बिल्कुल नीची आवाज़ में, धीरे-धीरे फुसफुसा कर, रुक-रुक कर बोलता है।

स्वर और लय संगीत के मूल तत्त्व अर्थात् निजी अंग हैं, शब्द या पद सहायक तत्त्व है, अंग नहीं। लेकिन भारतीय परम्परा में उसे कभी भी संगीतबाह्य तत्त्व नहीं माना गया। यदि उसमें शब्द न रहें तो केवल नादात्मिका वाक् का और शब्द भी हों तो वर्णात्मिका वाक् का संयोग होता है। संगीत में इन दोनों प्रकार की वाक् से होने वाली अभिव्यक्ति में अन्तर रहता है। वाद्य संगीत अथवा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निरर्थक वर्णयुक्त कण्ठ संगीत (तराना आदि) के द्वारा केवल नादात्मक अभिव्यक्ति होती है। किन्तु वर्णों और उनके द्वारा निर्मित सार्थक शब्दों का प्रयोग होने पर संगीत में निश्चितता आती है। संगीत के द्वारा विशेष चित्तवृत्ति का बोध कराने के लिए पद आवश्यक है इसीलिए भरत ने 'गान्धर्व' में स्वर और ताल के साथ पद का ग्रहण करके 'गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात् स्वरतालपदात्मकम्' लक्षण दिया। पद मूलतः एक निश्चित अर्थ का ही बोध कराता है लेकिन उसमें स्वर और लय के विभिन्न प्रयोग से यानी उसे अलग-अलग प्रकार से गाने पर उस मूल अर्थ या भाव के अतिरिक्त अनेक भावों का बोध कराया जा सकता है। लेकिन उन्हीं स्वरों को बिना पद के गाने पर विविध भावों की स्पष्ट अनुभूति नहीं होती। स्व० पं० ओम्कारनाथ ठाकुर द्वारा गाये गये भजनों का जिन्होंने श्रवण किया है वे इसे अच्छी तरह समझ सकते हैं। उदाहरण के लिए उनके द्वारा गाया जाने वाला भक्त शिरोमणि सूरदास जी का यह भजन अत्यन्त प्रसिद्ध है—मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो। इसमें 'मैया' शब्द का एक ही अर्थ है 'माँ' जो यहाँ माता यशोदा के लिये सम्बोधन रूप में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन इस एक शब्द में विभिन्न स्वरों और ध्वनिभेदों का प्रयोग करके माँ को सम्बोधित करते हुए बालकृष्ण द्वारा खीझना, खुशामद करना, गुस्सा होना, मनाना, ताना मारना, हारकर रो पड़ना आदि अनेक भाव उनके द्वारा व्यक्त किये जाते थे। एक ही प्रकार से हर बार इस शब्द को गाने पर एक ही भाव की अनुभूति हो सकती है और भिन्न-भिन्न प्रकार से गाकर, अर्थ एक होते हुए भी, नये-नये भाव उत्पन्न किये जा सकते हैं।

भारतीय संगीत में नाट्य के अंग के रूप में प्रयुक्त संगीत के द्वारा परिस्थिति, घटना आदि के चित्रण अथवा प्रकृति के अनुकरण की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि नाट्य के अन्य साधनों के द्वारा घटना और परिस्थिति तो स्फुट रहती ही थी। परिस्थिति विशेष में पात्रों की मन:स्थिति को अधिक तीव्र रूप में स्फुट करने के लिए ही संगीत का उपयोग होता था। इसी प्रकार प्रकृति के अनुकरण की अपेक्षा मनुष्य पर प्रकृति के प्रभाव को व्यक्त करने में संगीत की सार्थकता समझी गयी। पात्रों की बाह्य परिस्थिति का चित्रण अथवा प्रकृति का अनुकरण करने की परम्परा भारतीय संगीत में नहीं है।

रस-भाव की दृष्टि से हमारे यहाँ संगीत पर जो विचार हुआ वह भी नाट्य के सन्दर्भ में ही हुआ। भरत ने प्रत्येक स्वर का रस विनियोग कहा अर्थात् किस परिस्थिति के प्रभाव को तीव्र बनाने के लिए किस स्वर को आधार यानी 'अंश' बनाकर प्रयोग करने से यह सम्भव है इसका निर्देश किया क्योंकि विशेष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंश स्वर से प्रारम्भ होने वाली स्वरावली के द्वारा विशेष परिस्थिति स्फुट होती है। नाट्य से स्वतन्त्र संगीत में निश्चितता के अभाव में श्रोता और प्रयोक्ता के बीच समझ का सामान्य स्तर और भावसाम्य स्थापित करने का कोई साधन नहीं रहता। इस रिक्तता को पूरा करने के लिए संगीतज्ञों ने राग-ध्यान का मार्ग ढूंढा जो मूलतः योग के साधना मार्ग का अंग था। संगीतज्ञ किसी राग के द्वारा जिस विशेष भावरूप शक्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहता था उसकी सामान्य रूपरेखा 'रागध्यान' के द्वारा दे देता था जिससे श्रोताओं को अनुभूति के लिए एक विशेष दिशा मिल जाती थी। इन रागध्यानों का सम्बन्ध प्रारम्भ में देवी-देवताओं से था लेकिन आगे चलकर इनकी रचना संगीतज्ञों द्वारा न होकर केवल कवियों द्वारा होने पर उनमें मनमानापन आया, साहित्य की रीतिकालीन प्रवृत्तियों के प्रभाव से उनका सम्बन्ध नायक-नायिकाओं से जोड़ दिया गया, आभ्यन्तर प्रभाव की अपेक्षा नायक-नायिकाओं के बाह्यरूप पर ही ध्यान केन्द्रित हो गया और रागध्यान अपना मूल प्रयोजन खो बैठे।

हमारे यहाँ संगीत के द्वारा होने वाली अभिव्यंजना के बारे में आज अलग-अलग विचार हैं। एक मत के अनुसार रागों के साथ रस-भाव का जो सम्बन्ध आज जोड़ा जाता है वह अस्पष्ट ही है क्योंकि इस मत के अनुसार पद के बिना केवल स्वरों से निश्चित भावों की अनुभूति नहीं हो सकती, भाव-सामान्य की ही हो सकती है; शृंगार, करुण, रौद्र आदि रसों की शास्त्रीय अर्थ में अनुभूति न होकर साधारणीकृत भाव के रूप में हो सकती है। संगीत में अभिव्यक्ति के विभिन्न साधनों का प्रयोग न होने तथा पद के न होने अथवा गौण रूप से रहने के कारण परिस्थिति का निर्माण नहीं होता और ऐसा हुए बिना 'रसशास्त्र' के रस-भावों का बोध सम्भव नहीं होता इसलिए संगीत के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति को रसशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के द्वारा व्यक्त करना उचित नहीं। किन्तु विभिन्न रसों की अनुभूति के समय चित्त की कैसी स्थिति होती है इसे व्यक्त करने के लिए भारतीय काव्यशास्त्र का 'गुण' का सिद्धान्त अत्यन्त सार्थक है। मुख्य रूप से तीन गुण माने गये हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद जिनमें चित्त की क्रमशः द्रुति (पिघलना), दीप्ति (दीपक की लौ की तरह ऊपर की ओर उठना) और स्थिति (मध्यावस्था) होती है। संगीत के श्रवण के समय किसी राग को सुनकर चित्त पिघलता हुआ सा लगता है, किसी के द्वारा उत्साह से भरकर ऊपर उठता सा लगता है और कुछ को सुनकर केवल अच्छा लगता है, न चित्त पिघलता है न ऊपर उठता जान पड़ता है। कवि जब किसी परिस्थिति में अपनी या अपने पात्र की प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है तो वह उस परिस्थिति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को खड़ी करके ही पाठक को उस क्रिया की अनुभूति करा सकता है। 'करुणा' कहने से पाठक के मन में करुणा का भाव उत्पन्न नहीं होता बल्कि जिस परिस्थिति में करुणा उत्पन्न हो सकती है उस परिस्थिति का चित्रण करने से ही वह भाव उत्पन्न हो सकता है। इसीलिए काव्यशास्त्र में किसी भाव को व्यक्त करने के लिए उस भाव के सूचक शब्द का प्रयोग करना काव्य का दोष माना गया है जो कवि के असामर्थ्य को सूचित करता है। कवि उस परिस्थिति को शब्दों के द्वारा खड़ी करता है यानी वह जो कुछ व्यक्त करना चाहता है उसे कहने के लिए कथ्य से भिन्न कोई वस्तु उसके पास है।

संगीत को छोड़कर अन्य सभी कलाओं में अभिव्यक्ति का साधन और अभिव्यंग्य भिन्न होते हैं। नट अभिनय के द्वारा भावाभिव्यक्ति करता है; कवि के पास शब्द और अर्थ हैं शिल्पी ईंट, पत्थर, चूना आदि के द्वारा अपनी कल्पना को साकार करता है; मूर्तिकार पत्थर, मिट्टी खोदकर या मोड़ कर अपना मॉडल तैयार करता है और चित्रकार रंग, तूलिका, कैनवस, काग़ज़, भित्ति आदि के द्वारा अपनी कल्पना को मूर्तरूप देता है। यानी इनमें से सभी किसी एक वस्तु के द्वारा उससे भिन्न कुछ व्यंजित करते हैं और वह किसी निश्चित आकार में ग्रहण किया जाता है। लेकिन संगीतज्ञ जो कहता है वह भी स्वर-लय है और जिस माध्यम से कहता है वह भी स्वर-लय है। पद-पदार्थ जैसे दो भिन्न माध्यम उसके पास नहीं हैं। संगीत में सब कुछ इतना सूक्ष्म और परस्पर इतना घुलामिला है कि अन्तर करना ही असम्भव है इसलिए वह केवल स्वर-लय के द्वारा परिस्थिति खड़ी नहीं कर सकता।

पद-निरपेक्ष वाद्य संगीत में अनुभूति विशुद्ध नादात्मक स्तर की होती है। लेकिन भारतीय विचारधारा के अनुसार वादन के समय वादक का ध्यान केवल स्वरों का ताना बाना बुनने में नहीं होता। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व किसी परिस्थिति अथवा भाव से इतना भर जाता है कि हर्ष-शोक आदि के आवेग में जैसे तदनुरूप ध्वनियाँ मनुष्य कण्ठ से निकल जाती हैं उसी तरह उसके वाद्य से भी उस भाव की व्यंजक स्वरावलियाँ उद्‌भूत होने लगती हैं। पद न होने से वहाँ करुणा, क्रोध या हर्ष की निश्चित अनुभूति नहीं होती लेकिन चित्त उल्लसित होता है अथवा विगलित होता है। यह अभिव्यक्ति स्वर के द्वारा ही होती है इसीलिए श्रोता के चित्त की अवस्था भी न्यूनाधिक मात्रा में वादक के अनुरूप हो जाती है। ऑटोनॉमी में विशुद्ध संगीत के श्रोता को संगीत के अपने तत्वों अर्थात् स्वर-लय का ही आनन्द प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह है कि वह स्वर-लय योजना को समझता है। लेकिन क्या इसके विपरीत ऐसे श्रोता उस वादन का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावात्मक आनन्द नहीं उठाते जो स्वर-लय सम्बन्धी तकनीकी ज्ञान नहीं रखते ? संगीत सुनकर उनका चित्त उल्लसित अथवा विगलित नहीं होता ? वास्तव में स्वर-लय की तकनीक सम्बन्धी जटिलताओं और सूक्ष्मताओं में न उलझने के कारण उन्हें अधिक अच्छी भावात्मक अनुभूति होती है। यदि श्रोता संगीत में स्वर-लय को ही ढूंढता रह जाय तो रचना-सौष्ठव से बुद्धि चमत्कृत भले ही हो जाय सच्ची आनन्दानुभूति से परे ही रह जायेगा।

अभिव्यक्ति मुख्य रूप से चार प्रकार की हो सकती है और संगीत उन सभी में सक्षम है। पहले प्रकार की अभिव्यक्ति चेहरे के विकारों या ध्वनि परिवर्तन से होती है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए कार्य-कारण सम्बन्ध होना अनिवार्य है। संगीत में भी यह सम्बन्ध थोड़ी बहुत मात्रा में तो अवश्य रहता है। यही कारण है कि विशेष प्रकार की स्वरावली से ही विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति होती है।

दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति भाषा से होती है जिसमें शब्द विशेष अर्थों यानी पदार्थों के प्रतीक मात्र हैं उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं रहता। वाद्यों के माध्यम से भी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सम्भव है। जैसे—नाट्य में मन्दिर का प्रभाव लाने के लिए शंख फूंक दिया जाय या घड़ियाल बजा दिया जाय।

तीसरे प्रकार की अभिव्यक्ति अनुकरण के द्वारा होती है। अनुकार्य और अनुकृति के प्रत्यक्ष सादृश्य के आधार पर यह अपना कार्य करती है। जैसे—वाद्यों के द्वारा कोयल की कूक, बादल की गरज, झरने की कल-कल आदि का अनुकरण किया जाय।

सादृश्य या व्यंजना के आधार पर चौथे प्रकार की अभिव्यक्ति होती है। जैसे, विभिन्न मानसिक दशाओं को दृश्य या श्रव्य रूप में व्यक्त किया जाय। चित्त की गतिशीलता अथवा चंचल अवस्था को स्वर-लयात्मक रचना के द्वारा प्रकट किया जाय।

काव्य में परिस्थिति के चित्रण के बिना अनुभूति नहीं होती; चित्र तथा मूर्तिकला किसी एक क्षण का ही चित्रण कर सकते हैं लेकिन संगीत में परिस्थिति के चित्रण की आवश्यकता नहीं; चित्र तथा मूर्ति की सीमा इसमें नहीं यह बन्धन मुक्त है और नित्य नवीन तथा प्रतिक्षण विभिन्न क्षणों की अनुभूति कराने में समर्थ है : यह सीधे सत्त्व से उत्पन्न होता है और सत्त्व को ही प्रभावित करता है। हमारे यहां सभी कलाओं का लक्ष्य मानव के संवेदनों की अनुभूति कराना तथा उसी के माध्यम से आत्मानन्द की प्राप्ति कराना है। लेकिन संगीत मनुष्य-हृदय के जितना निकट है उतनी और कोई कला नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह पहले कहा जा चुका है कि संगीत में भावों की अनुभूति साधारणीकृत रूप में होती है। लेकिन इन साधारणीकृत भावों में परस्पर इतना सूक्ष्म अन्तर होता है कि उन सबको द्रुति, दीप्ति और प्रसाद—केवल इन तीन वर्गों में बाँधना न तो संभव है, न ही उचित। उपर्युक्त वर्गों में से किसी एक ही वर्ग के विभिन्न रागों के प्रभाव में भी बड़ा सूक्ष्म अन्तर रहता है। गौरी, जोगी, तोड़ी, नीलाम्बरी में सभी से चित्त की द्रुति होती है लेकिन इनकी द्रुति, करुणा, विगलन अथवा वेदना में इतना सूक्ष्म भेद है जो सहृदय श्रोता को समझ में तो आता है लेकिन शब्दों के माध्यम से कहना संभव नहीं। बहार, हिंडोल, मारवा, शंकरा की दीप्ति, वीरभाव अथवा उल्लास में भी इसी प्रकार अन्तर है। श्री, गुंडक्री, भैरव के रौद्रत्व में भी अन्तर दिखाई देता है। संगीत के द्वारा प्राप्त इस आनन्द को दूसरों पर व्यक्त करने के लिये शब्द ही माध्यम हैं। भावनाओं के प्रतीकरूप जो शब्द उपलब्ध हैं वे अत्यन्त सीमित हैं और वास्तव में अनन्त भावों को बाँध नहीं सकते। वे कुछ प्रमुख भावों के सूचकमात्र हैं। संगीत के द्वारा अनुभूत किसी भाव को व्यक्त करने के लिए उन्हीं में से शब्द चुनना पड़ता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह शब्द जिस भाव का सूचक है केवल वही भाव अनुभूत हुआ। अनुभूत हुए भाव का हम शब्द में साम्य ढूंढ़ना चाहते हैं। कभी-कभी जब किसी एक शब्द के द्वारा हम अपनी अनुभूति को व्यक्त नहीं कर पाते तो उस अनुभूति से साम्य रखने वाले कई शब्दों का सहारा लेकर समझाने का प्रयत्न करते हैं। यह भी इसी तथ्य का सूचक है कि रागों का या विशेष स्वर-सन्निवेशों का रस-भाव से सम्बन्ध जोड़ना व्यक्तिगत अनुभूति को शब्दों के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टामात्र है। अनुभूति के क्षणों में चित्त की जो अवस्था होती है, जिस प्रक्रिया के फलस्वरूप वह अनुभूति होती है उसे शब्द के माध्यम से व्यक्त करना असम्भव है इसीलिए व्यक्त करते समय हम प्रतीकों का सहारा लेने लगते हैं, दृश्य के लिए श्रव्य और श्रव्य के लिए दृश्य भाषा का प्रयोग करने लगते हैं। संगीत के माध्यम से होने वाली रसानुभूति में काव्य अथवा नाट्य जैसी निश्चितता तो नहीं लेकिन वह इनसे होने वाली अनुभूति से भी अधिक सूक्ष्म होती है। अत्यन्त पुष्ट रूप में होने वाली आनन्दानुभूति की चरम अवस्था को यदि रसानुभूति माना जाय तो इस रूप में संगीत के द्वारा भी रसानुभूति अवश्य होती है। वास्तव में जहाँ काव्य की सीमा समाप्त होती है वहाँ से संगीत में अनुभूति का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। लेकिन उसे व्यक्त करने में भाषा पंगु है इसीलिए उच्चकोटि के संगीतज्ञ शब्द की भाषा को पंगु कहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत की उत्पत्ति और विकास के मूल में मनोवेगों की अभिव्यक्ति कारण है। मनोवेग देशकालगत बन्धनों से रहित होते हैं और विशेष प्रयत्न के बिना सकेतों अथवा ध्वनियों के द्वारा व्यक्त होते हैं। इसीलिए संकेत और ध्वनि की भाषा सार्वभौम होती है। भाषा देश-काल की सीमा से बँधी हुई है जिसे समझने के लिए विशेष शिक्षा व अभ्यास की जरूरत होती है। संगीत का देशकालगत विकास भी मनुष्य के प्रयत्न का परिणाम है इसलिए उसे समझने के लिए भी विशेष प्रकार का अभ्यास आवश्यक है। यही कारण है कि एक भारतीय पाश्चात्य 'क्लासिकल म्यूज़िक' को पूरी तरह समझ नहीं पाता और पश्चिमी श्रोता भारतीय शास्त्रीय संगीत का पूरा आनन्द नहीं ले पाता। लेकिन जब संगीत का शाश्वत नादतत्त्व किसी अप्रतिम संगीतज्ञ के द्वारा निसृत होता है तो उसके संगीत के श्रोता—सभी श्रोता, चाहे वे भारतीय हों, यूरोपीय हों, चीनी हों अथवा मर्मज्ञ श्रोता हों या शास्त्रीय संगीत से अपरिचित बिल्कुल सामान्य श्रोता हों—संगीत को रस माधुरी में डूबकर कलाकार की अनुभूति का स्वयं भी अनुभव करने लगते हैं। ऐसे नाद की शाश्वतता के कारण ही साधारण स्थिति में भी भारतीय संगीत से अपरिचित श्रोता इस संगीत का और पश्चिमी संगीत से अनभिज्ञ भारतीय भी पश्चिमी संगीत का आनन्द ले पाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संगीत में 'सिद्धि'

'नाट्यशास्त्र'[1] के २७ वें अध्याय में भरत ने नाट्य की 'सिद्धि' का अत्यन्त विस्तारपूर्वक और सूक्ष्म विवेचन किया है। नाट्य में तो सिद्धि का महत्त्व बहुत अधिक है ही, लेकिन यों किसी भी कार्य का, किसी भी कला का अथवा किसी भी अनुष्ठान का निर्विघ्न अच्छी प्रकार सम्पन्न होना आवश्यक है अन्यथा उसका पूरा लाभ या आनन्द नहीं उठाया जा सकता। नाट्य में सभी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग का समावेश होने से इन सभी अंगों की सिद्धि का भी नाट्य में महत्त्व है।

नाट्य-प्रयोग की सफलता ही सिद्धि है। इसे जो महत्त्व दिया गया है उसका संकेत 'नाट्यशास्त्र' में 'सिद्धि'-प्रकरण के अतिरिक्त एक-दो स्थानों पर और भी मिलता है। 'नाट्यशास्त्र' का अत्यन्त संक्षिप्त संग्रह देते समय रस-सम्बन्धी छठे अध्याय में निम्नलिखित कारिका में भी सिद्धि का उद्देश (गिनाई) हुआ है :—

रसा भावाह्यभिनयाः धर्मिवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रहः ॥[2]

चित्राभिनय-सम्बन्धी २६ वें अध्याय में चतुर्विध अभिनय बताकर अन्त में भरत ने कहा है :—

'प्रयोगज्ञेन कर्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता'।

अर्थात्—नाटक में सिद्धि की इच्छा रखने वाले प्रयोक्ता को चतुर्विध अभिनय करना चाहिये। सप्तम अध्याय के अन्त में भी सिद्धि का उल्लेख इस प्रकार हुआ है :—

एवं रसाश्च भावाश्च व्यवस्था नाटके स्मृताः।
य एवमेतां जानाति स गच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ॥[3]

नाट्य के चार तत्त्वों—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस—में गीत का प्रमुख स्थान है। गेयाधिकार में निम्नलिखित कारिका भी गीत, वाद्य के महत्त्व की दृष्टि से द्रष्टव्य है :—

---

१. बड़ौदा-संस्करण।
२. ना० शा० ६।१०।
३. वही, ७।१२१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एवं गानं च वाद्यं च नाट्यं च विविधाश्रयम् ।
अलातचक्रप्रतिमं कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः ॥[४]

अर्थात् नाट्य में विविधाश्रय (ग्रहण में विभिन्न इन्द्रियों के आश्रित अथवा गायक, वादक, नटादि विभिन्न व्यक्तियों के आश्रित) गान, वाद्य और नाट्य (अभिनय) का अलातचक्र के समान प्रयोग होना चाहिए । एक चक्र में बद्ध विभिन्न मशालों को द्रुत गति से घुमाने पर मशालों का अलग-अलग अस्तित्व दिखाई न देकर एक ज्योतिपुंज के रूप में दिखाई देना 'अलातचक्र' होता है । 'अलातचक्र' प्रयोग से यहाँ तात्पर्य यह है कि तीनों का यथास्थान एकलक्ष्य होकर प्रयोग करना चाहिए, एक साथ नहीं, अर्थात् synchronization होना चाहिये । नाट्य के सभी पात्र जितना अधिक एकलक्ष्य होकर कार्य करेंगे, उतनी ही अधिक सिद्धि प्राप्त होगी ।

उपर्युक्त कारिका में यह बिलकुल स्पष्ट है कि सिद्धि की दृष्टि से गीत, वाद्य और अभिनय ये ही नाट्य के मुख्य तत्त्व हैं; क्योंकि पाठ्य का समावेश तो वाचिकाभिनय में हो ही जाता है और रस नाट्य में साध्य है, जिसकी सिद्धि गान और अभिनय के द्वारा होती है ।

यहाँ गीत, वाद्य का प्रयोग नाट्य के अंग के रूप में है, इसलिये ये उपरंजनीय नाट्य के उपरंजक हैं, अर्थात् नाट्य की सिद्धि में सहायक हैं । लेकिन संगीत (इस शब्द का प्रयोग केवल गीत और वाद्य के ही सन्दर्भ में किया जायगा, गीत, वाद्य तथा नृत्य के समुच्चय के रूप में नहीं) का प्रयोग नाट्य से स्वतन्त्र रूप से होने पर संगीत ही रंजक बन जाता है; उसका उपरंजनीय कोई अन्य तत्त्व अपने-आप में नहीं रहता । उस स्थिति में संगीत की सिद्धि ही लक्ष्य माना जायेगा । भरत द्वारा प्रतिपादित नाट्यगत 'सिद्धि' संगीत के प्रसंग में सम्बन्ध स्थापित करना ही प्रस्तुत लेख का विषय है ।

'नाट्य' के प्रसंग में जहाँ 'नट' का प्रयोग हुआ है, उसे 'संगीत' में 'गायक', 'वादक' मानकर चलेंगे, क्योंकि जहाँ नाट्य की सिद्धि मुख्य रूप से नट के आश्रित है, वहाँ संगीत की सिद्धि का आधार मुख्यतः गायक-वादक ही होगा । इसी प्रकार नाट्य का 'सामाजिक' संगीत का 'श्रोता' होगा ।

सिद्धि-प्रकरण की प्रथम कारिका की टीका में अभिनवगुप्त ने यह शंका उठाई है कि सिद्धि किसकी मानी जाय—नट की अथवा सामाजिक की ? अभिनव के अनुसार 'सम्यक् प्रयोगनिष्पत्तिः' अर्थात् प्रयोग (नटगत कार्य) का

४. वही, २८।७ ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भली प्रकार सम्पन्न होना 'सिद्धि' है। 'नटः नटतीति नाटकम्'—नाटक की इस व्युत्पत्ति के अनुसार नट का कर्म ही नाटक है। इसलिए इसके द्वारा वे इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि 'नाटकाश्रयम्' कहकर भरत ने स्वयं ही नट के आश्रित सिद्धि को ही प्रमुखता दी है।

यहाँ शंका यह हो सकती है कि नाट्य का मुख्य प्रयोजन पुरुषार्थ प्राप्ति तो दीर्घकाल साध्य है और वह केवल प्रयोक्ता को ही होगा। फिर नाट्य देखने से सामाजिक को क्या लाभ? इसका समाधान अभिनवगुप्त ने इस प्रकार किया है। सामाजिक को तत्काल आनन्द की प्राप्ति 'संहित फल' है, जिसका आधार भी नट ही है। इसीलिए नट की सिद्धि ही प्रमुख है।

इसके अनुसार गायक या वादक की सिद्धि ही श्रोता की सिद्धि है। 'स्वांतः सुखाय' गाने-बजाने से तो आत्मानन्द की प्राप्ति गायक-वादक को होती ही है, लेकिन श्रोताओं को आनन्द प्राप्त होते देखकर प्रयोक्ता को प्राप्त होने वाला उत्साह और आनन्द भी कम नहीं होता। साथ ही श्रोताओं को प्राप्त होने वाले आनन्द का आधार भी वही है, इस दृष्टि से भी उसकी सिद्धि प्रमुख है। संगीत के श्रवण द्वारा श्रोताओं को प्राप्त होने वाला आनन्द श्रोता की सिद्धि है।

'अलातचक्रप्रतिम' प्रयोग पर ही जैसे नाट्य की सिद्धि का आधार है, उसी प्रकार संगीत में भी इसका महत्त्व है। वृन्द-गान अथवा वृन्द-वादन में विभिन्न गायकों या वादकों द्वारा परस्पर सहयोग की भावना से कार्यक्रम की सफलता का लक्ष्य सामने रखकर प्रयत्न किया जाय, तो श्रोताओं के चित्त में रसोद्रेक करने में अधिक सफलता प्राप्त होगी। इसी प्रकार एकल गान या एकल वादन में गायक-वादक के साथ संगति करने वाले वादक या गायक जितना अधिक सहयोग करेंगे, उस पर भी सफलता बहुत निर्भर है। इसलिए सहयोग की भावना कार्यक्रम की सफलता के लिये मौलिक अनिवार्य शर्त है।

'सिद्धि' दो प्रकार की कही गई है—१. दैवी और २. मानुषी। दैवी सिद्धि भी दो तरह की होती है—१. जिसमें दैवी विघ्न न हों और २. जिसमें सत्त्व की प्रधानता हो। मानुषी सिद्धि के भी दो मुख्य भेद हैं—१. वाङ्मयी और २. शारीरी। वाङ्मयी के स्मित, अर्धहास, अतिहास, साधु, कष्ट, प्रवृद्धनाद और शारीरी के पुलक, अभ्युत्थान, चेलदान, अंगुलिक्षेप—इस प्रकार क्रमशः छह और चार भेद हैं। दोनों प्रकार की—दैवी तथा मानुषी—सिद्धि वाणी, सत्त्व, अंग और नेपथ्य अर्थात् चतुर्विध अभिनय से उत्पन्न होती है।

पहले प्रकार की दैवी सिद्धि वह है, जिसमें दैवकृत विघ्न न हों; जैसे आँधी, बिजली, वर्षा आदि; जिनके होने या न होने में मनुष्य का हाथ नहीं होता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्त्वातिशय से युक्त दूसरे प्रकार की दैवी सिद्धि वह है, जिसमें नट द्वारा अपने कर्म में डूब जाने पर सामाजिकों में भी शब्दादि वाग्व्यापार और क्षोभादि अंग-व्यापार नहीं रहते और अनेक स्थान पर अश्रु, पुलक-कंपादि सत्त्वों की प्रधानता हो जाती है। वाणी या अंगव्यापार की अपेक्षा सात्त्विक विकारों में सूक्ष्मता होने और इन विकारों के मनुष्य की इच्छा के बिना स्वतः प्रकट होने के कारण सत्त्व-प्रधान सिद्धि को 'दैवी सिद्धि' कहा है।

मानुषी सिद्धि के भी दो पक्ष हैं। नट के कार्य से सामाजिक को आनन्द की प्राप्ति एक पक्ष है। नट के वाचिक व आंगिक अभिनय की प्रतिक्रिया में सामाजिक द्वारा की जाने वाली चेष्टाओं द्वारा विशेष प्रसंगों में नट को प्रोत्साहन की प्राप्ति इसका दूसरा पक्ष है। इसे मानुषी सिद्धि कहने का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य अर्थात् नट द्वारा मनुष्य की अर्थात् मूल पात्र की प्रकृति के भान तथा उसके साथ तादात्म्य के बल से निष्पादित होती है। सामाजिक की चेष्टा से प्रोत्साहन किसी परिस्थिति-विशेष में तो हो सकता है, लेकिन जहाँ नट अभिनय में डूब जाता है, वहाँ उसे सामाजिक की चेष्टाओं के भान का अवसर नहीं रहता।

संगीत में भी दोनों प्रकार की सिद्धि हो सकती है। कार्यक्रम के बीच में आँधी, बिजली, वर्षा, भूकम्प आदि दैवी प्रकोपों का न होना संगीत की सफलता के लिये आवश्यक है। खुले मैदान में पण्डाल के नीचे होने वाले कार्यक्रमों में आँधी, वर्षा के होने से कार्यक्रम का पूरा होना ही असम्भव है। लेकिन बन्द हॉल में भी वर्षा, आँधी आदि आने से श्रोता सुन नहीं सकते। कोई दैवी उत्पात न होने पर भी पूरी सिद्धि तभी होती है, जब गायक या वादक भावों में तन्मय हो जाता है और उसमें तथा, उन्हीं भावों से साधारणीकृत होने पर, श्रोताओं में भी अश्रु, पुलक, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों का उदय हो जाता है। शेष चार सात्त्विक भाव—कम्प, वैवर्ण्य स्वर-भंग और मूर्च्छा संगीत के माध्यम से प्रकट नहीं होते। स्वर-भंग तो संगीत में दोष माना जायेगा। हाँ, 'काकु' का प्रयोग करके विभिन्न अवस्थाओं के अनुकूल कण्ठ में परिवर्तन अवश्य लाया जा सकता है। मूर्च्छा के लिये कोई अवकाश नहीं है। कम्प और वैवर्ण्य अत्यधिक भावातिशय में कभी प्रकट हो भी सकते हैं।

सत्त्व का बाहुल्य होने पर गायक-वादक का ध्यान केवल स्वरों के सन्निवेश बनाने पर नहीं रहता और न पद के शब्दों का ही बहुत महत्त्व रहता है। बल्कि पद के एक या अधिक शब्दों को आधार बनाकर और कभी-कभी पद को बिलकुल छोड़कर भी गायक पद से व्यंग्य भावनाओं में तल्लीन होकर, पद की परिस्थिति की कल्पना करके उसके साथ अभेद्य सम्बन्ध स्थापित करके या किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

राग के अपने रस में लीन होकर गाता है और तब उसमें सात्त्विक भाव स्वतः उत्पन्न होते हैं। पं० ओम्कारनाथ ठाकुर के श्रोता इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं। उच्चकोटि के गायक कभी-कभी केवल स्वर द्वारा भी विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति करते हैं, लेकिन पद या शब्द न होने पर भी जिस भाव की अभिव्यक्ति वे करते हैं, उसके अनुरूप परिस्थिति की कल्पना उनके मन में अवश्य रहती है। तब वे उस परिस्थिति से तादात्म्य स्थापित करके अभिव्यक्ति करते हैं।

गायक या वादक को कितनी सिद्धि हुई, इसका मापदण्ड वास्तव में यही है कि श्रोताओं को अपनी भावनाओं का अनुभव कराने में वह कितना समर्थ हुआ। यह तभी सम्भव है, जब उसमें भावों के साथ एकाकार हो जाने की और फिर स्वरों के माध्यम से उन्हें व्यक्त करने की सामर्थ्य हो, इसलिए दैवी सिद्धि गायक या वादक की मानी जायगी।

मानुषी सिद्धि के दोनों पक्षों का संगीत में महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रोता को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह गायक या वादक की सिद्धि के कारण होता है। लेकिन विभिन्न लयों में बोलतान, बोल-बाँट, गमकयुक्त व विविध तानों से उत्पन्न वैचित्र्य के कारण श्रोताओं द्वारा ताली बजाना, सम आने पर हाथ या चेहरे की चेष्टाओं द्वारा साथ देना और शब्द द्वारा वाहवाही देना आदि वाणी-व्यापार से गायक-वादक को भी बल और प्रोत्साहन मिलता है, जो लय द्रुत करते जाने, तानों की बौछार करने, कूट तानों के प्रयोग करने आदि के रूप में व्यक्त होता है। लेकिन मानुषी सिद्धि का यह पक्ष गौण है।

स्वरों में डूब जाने के कारण गायक-वादक में सात्त्विक भावों की प्रधानता होने पर सम्पूर्ण वातावरण सत्त्वमय हो जाता है और श्रोता सहृदय हों तो उनमें भी प्रयोक्ता की तरह सात्त्विक भावों का उदय होता है। भरत ने 'सम्पूर्णता च रंगस्य' यानी रंगभूमि की परिपूर्णता कहकर इसी के महत्त्व को स्पष्ट किया है। श्रोताओं में स्मित, साधु, प्रवृद्धनाद, पुलक, अभ्युत्थान, चेल-दान, अंगुलिक्षेप—मानुषी सिद्धि के इतने प्रकार तो स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। जब गायक-वादक की संगति करने वाले वादकों से 'भिड़न्त' होती है तो अर्ध-हास और अतिहास भी प्रकट होते हैं, लेकिन 'कष्ट' अर्थात् करुणोत्पादक परिस्थितियों में कष्ट या अन्य कष्टसूचक शब्दों का प्रयोग साधारणतः नहीं होता क्योंकि संगीत में करुण रस की (करुण रस से तात्पर्य यहाँ चित्त की द्रुति मात्र है, पारस्परिक मरणजनित शोक नहीं) व्यंजना तो होती है लेकिन उसमें श्रोता कष्ट का नहीं बल्कि आनन्द का ही अनुभव करता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस परिस्थिति में मुंह से शब्द नहीं निकलते, बल्कि अश्रु, पुलक आदि सात्त्विक विकार ही प्रकट होते हैं। कभी शब्द निकलते भी हैं तो वे कष्टसूचक न होकर आनन्दसूचक ही होते हैं।

हल्की-सी मुस्कुराहट आना 'स्मित' है। आनन्द में भरकर 'आह', 'अरे', 'वाह-वाह', 'बहुत सुन्दर' आदि शब्दों द्वारा प्रशंसा करना 'साधु', कभी-कभी वीरता, क्रोध, विस्मय, उत्साह व सम्बन्धित भावों के प्रसंग में श्रोताओं द्वारा ज़ोर से शब्द करना 'प्रवृद्धनाद' के अन्तर्गत आता है। श्रोताओं में होने वाली शारीरिक चेष्टाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं—१. वे जो बिना सोचे स्वतः हो जायँ; जैसे—वीर, रौद्रादि की व्यंजना में श्रोता उचकने लगें। ये 'अभ्युत्थान' में आते हैं। २. विचारपूर्वक जो चेष्टाएँ होती हैं, उनमें 'चेलदान' और 'अंगुलिक्षेप' हैं। चेलदान का अर्थ है, वस्त्रादि रंगमंच पर फेंकना और हाथ ऊपर करके अंगुलियों को लहराना 'अंगुलिक्षेप' है। भरतादि के काल में प्रेक्षक कुशल अभिनय देखकर अभिनेता को लक्ष्य करके वस्त्र, आभूषण आदि रंगमंच पर फेंक दिया करते थे। आधुनिक युग में सभ्यता का मापदण्ड बदल जाने से ऐसा करना मर्यादा के विपरीत ही समझा जायेगा। इसलिये श्रोताओं के मन में अनायास भेंट देने की भावना और संकल्प हो और कार्यक्रम समाप्ति के बाद उसकी कार्य रूप में परिणति ही चेलदान समझा जा सकता है। पश्चिमी देशों में जिस गायक-वादक का कार्यक्रम अत्यन्त सफल हुआ हो, उसे कार्यक्रम समाप्त होने के बाद महिलाओं द्वारा गुलदस्ता भेंट करने की परम्परा है। महान् रूसी कलाकार चैकोव्स्की के स्मारक भवन में उसे इसी प्रकार भेंट दिया गया एक बहुमूल्य टी-सॅट रखा है। इसी प्रकार अन्यान्य भेंट भी 'चेलदान' का आधुनिक रूपान्तर कही जा सकती हैं। अंगुलिक्षेप का प्राचीन स्वरूप तो आजकल कहीं दिखाई नहीं देता, लेकिन अपने सन्तोष और आनन्द को ताली बजाकर श्रोता अवश्य प्रकट करते हैं। गुजरात के देहाती क्षेत्र में एकाध स्थान पर अंगुलिक्षेप के भी दर्शन हुए, ऐसा वहाँ के एक विद्यालय के उत्सव के प्रेक्षकों द्वारा बताया गया। शायद ताली बजाना हमने पाश्चात्य परम्परा से ले लिया हो और फिर कार्यक्रम के बीच प्रसन्नता व्यक्त करने के स्वाभाविक माध्यम अंगुलिक्षेप का स्थान उसने ग्रहण कर लिया हो। वास्तव में कार्यक्रम के बीच में ताली बजाना घात ही है।

दैवी विघ्नों से रहित परिस्थिति में गायक-वादक द्वारा स्वर के माध्यम से ऐसी भावाभिव्यक्ति, जिसमें सत्त्व का बाहुल्य हो, संगीत में दैवी सिद्धि और उससे प्रभावित श्रोता की प्रतिक्रिया मानुषी सिद्धि है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कार्यक्रम के बीच में विघ्न-बाधाओं के आ जाने से संगीतकार और श्रोता की सिद्धि में भी बाधा पड़ती है। नाट्य में भरत ने मुख्य रूप से तीन प्रकार के घात कहे हैं—१. दैवोत्थित, २. परोत्थित और ३. आत्मोत्थित। कुछ औत्पातिक घात भी बताये हैं।

आँधी आना, आग लगना, वर्षा होना, बिजली गिरना, उन्मत्त हाथी का प्रवेश, मण्डप गिर जाना, साँप-बिच्छू आदि विषैले जन्तुओं का घुस आना, चींटियों का या पशुओं का प्रवेश आदि दैवोत्थित घात भरत ने बताये हैं। उस युग में पागल हाथी अक्सर घुस आते होंगे, इसलिए इसका भरत ने कई स्थानों पर उल्लेख किया है। आजकल हाथी का तो नहीं, पागल कुत्ते का घुस आना अवश्य विघ्न माना जा सकता है।

अन्य व्यक्तियों की ईर्ष्या-द्वेष के कारण जो विघात उत्पन्न होते हैं उन्हें परोत्थित घात कहा जाता है। दैवी उत्पातों में से कुछ मात्सर्य या द्वेष के कारण परोत्थित भी हो सकते हैं। जैसे—आग लगा देना, उन्मत्त पशु का प्रवेश करा देना, विषैले कीट-पतंग छोड़ देना, पण्डाल तोड़ देना।

कार्यक्रम के बीच में बिजली फ़ेल हो जाना भी बहुत बड़ा विघ्न माना जायगा। इसलिए ईर्ष्या के कारण बिजली फ़ेल कर देना, श्रोताओं में झगड़ा या मारपीट करा देना,. बार-बार ताली बजवा देना, 'बोर-बोर' की आवाज़ लगवाना भी सिद्धि-विघात होंगे, लेकिन कुछ ऐसे परोत्थित घात भी हो सकते हैं जो सीधे कलाकार के प्रदर्शन से सम्बद्ध हों। जैसे—तबला, सारंगी आदि की संगति करने के लिए ऐसे वादक रख दिये जाएँ, जो मुख्य कलाकार के स्तर के योग्य न हों अथवा उन्हें पहले से भड़का दिया जाए जिससे वे मुख्य कलाकार की अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न करें। आधुनिक युग में माइक्रोफ़ोन के बिना तो किसी कार्यक्रम का होना ही असम्भव है। 'माइक' अच्छा न हो या बार-बार बिगड़ जाये, तो विघ्न उपस्थित होगा। कोई ईर्ष्या से ऐसा करा दे, तो वह परोत्थित घात माना जायगा।

आत्मोत्थित विघ्नों में भरत ने नट की स्वगत भूल से उत्पन्न होने वाले विघ्नों को गिनाया है। लेकिन उनमें से अधिकांश आंगिक, वाचिक अभिनय से सम्बद्ध हैं। इसलिए उन्हें छोड़कर जो घात संगीत की दृष्टि से घात कहे जा सकते हैं, उनका ही यहाँ उल्लेख किया जाएगा। 'लक्ष्यच्युत' होने अर्थात् सम्वाद भूल जाने या 'आर्तनाद' अर्थात् बीच में कहीं ज़ोर से चिल्ला उठने के समकक्ष संगीत में बन्दिश भूल जाना या बीच में अस्वाभाविक रूप से बहुत ज़ोर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से ध्वनि उत्पादन कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त संगीत की ही दृष्टि से होने वाले कुछ आत्मोत्थित घात भरत ने भी बताये हैं। वे और अन्य जो घात हो सकते हैं, यहाँ बताए जा रहे हैं। वाद्यों का ठीक न मिलना, डर कर गाना, विस्वर होना अर्थात् बेसुरा गाना, बेताला होना, समय के अनुसार राग का चुनाव न करना (जैसे—दोपहर को मालकौंस अथवा रात को विभास का प्रयोग), रस-भाव के अनुकूल पद चयन न होना, राग के नियमों का उल्लंघन, पद के शब्द इस तरह गाना कि श्रोता समझ ही न सकें, पद का अशुद्ध उच्चारण करना, रागाभिव्यक्ति करने में समर्थ न होना, लय का ज्ञान न रहना, संगति करने वालों को अवसर न देना, सर्दी-खाँसी आदि के कारण आवाज़ ठीक न लगना, मन्द्र व तार सप्तक में कंठ का आसानी से न घूमना, राग का पर्याप्त विस्तार न कर सकना, तानों की तैयारी न होना, श्रोताओं की रुचि का ध्यान न रखकर बहुत देर तक गाना, पुनरावृत्ति—ये सब गायक के दोष माने जाएँगे। कंठ संबंधी दोषों को छोड़कर शेष सब वादक के भी दोष होंगे। वादक का हाथ ठीक न चले, उँगलियाँ फिसलती हों, द्रुत लय में बजाते समय हाथ थकता हो; खटके, मुर्की, जमज़मा, मींड, झाला आदि वाद्य-क्रियाओं का पूरा ज्ञान न हो या उनका ठीक से प्रयोग न कर सके—ये सब वादक-गत दोष होते हैं। गायक-वादक की सफलता या असफलता मुख्य रूप से उपर्युक्त दोषों के होने या न होने पर निर्भर हैं। इन सब बातों के न होते हुए भी मन स्थिर न हो, तो भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए इनका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है।

आजकल पद की बंदिश का महत्त्व नहीं रह गया है। बंदिश के नाम पर चाहे जैसे शब्दों को जोड़कर स्वर में बाँध लेना ही पर्याप्त माना जाता है। अर्थसंगति या पदलालित्य अथवा छन्द-योजना तो ऐसे पदों में होती ही नहीं, लेकिन स्वर-योजना भी अक्सर राग के रस के अनुकूल या राग के स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाली नहीं होती। इसलिए नाट्य की योजना करने वाले प्रयोक्ता की भाँति वाग्येयकार का जो महत्त्व शार्ङ्गदेव के काल तक था, उसका भी आज कोई महत्त्व नहीं रह गया। लेकिन आज भी प्रत्येक गायक-वादक आधार रूप में कोई पद या गत अवश्य लेते हैं और अवधान या एकाग्रता के लिये वह अत्यन्त सहायक होता है। इसलिए आज भी संगीत में पद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद अगर रस-भाव से युक्त, छन्द में बद्ध, भावानुकूल शब्द-योजना-सहित और अर्थपूर्ण हो तो आनन्दानुभूति कराने में अधिक सक्षम होगा। लेकिन यह बात ध्रुवपद आदि निबद्ध शैली में अधिक अच्छी तरह घटित होती है क्योंकि वहाँ शब्द और छन्द-योजना से ताल-योजना सीधे सम्बद्ध होती है और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शब्दों के लघु-गुरु-क्रम को तोड़ देना या बहुत अधिक लंबाना सम्भव नहीं होता। लेकिन ख्याल-शैली में, जहाँ अत्यन्त सीमित शब्दों को लेकर भी बंदिश की जा सकती है और मात्रा घटाने-बढ़ाने की पूरी गुंजाइश होती है, वहाँ छन्द की बहुत उपयोगिता नहीं रह जाती। दूसरी बात यह भी है कि गेय पर ध्यान केन्द्रित होने पर श्रोताओं का ध्यान पद पर उतना नहीं रहता। एक उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी। 'जोगी मत जा' इस पदांश का शाब्दिक अर्थ तो एक ही निकलता है लेकिन इन्हीं शब्दों को आधार-रूप में ग्रहण करके जब अनेक सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति की जाय, तो श्रोता का ध्यान उन शब्दों पर नहीं, बल्कि विभिन्न स्वर-सन्निवेशों से व्यक्त होने वाले भावों पर ही रहता है। इसलिए भारतीय संगीत में पद का भी सीमित उपयोग ही माना जा सकता है। निरर्थक पाटाक्षरों से युक्त बन्दिशों में पद का महत्त्व उतना भी नहीं रहता, यद्यपि भावाभिव्यक्ति वहाँ भी हो सकती है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ध्रुवपद अंग की बन्दिशों और छोटे ख्यालों में छन्द-बद्ध रचना हो तो विभिन्न तालों से उनका सीधा सम्बन्ध जुड़ जाने के कारण वे अधिक आनन्दप्रद हो सकती हैं। इसलिए बन्दिश अच्छी न होना वाग्येयकार का दोष माना जा सकता है जो कलाकार की सिद्धि में विघातक होगा।

भरत द्वारा कहे गए नेपथ्य दोष के कारण होने वाले घातों का महत्त्व नाट्य में तो है, लेकिन संगीत से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है; जैसे—अस्त्र-शस्त्र, कवचादि या वस्त्राभूषणादि का यथास्थान ग्रहण न करना या गिर जाना आदि। आहार्य का संगीत से सम्बन्ध जोड़ने की सामान्य रूप से कोई परम्परा न होने से उसका यहाँ महत्त्व नहीं है।

इन सब विघ्नों और दोषों के न होने पर कलाकार और श्रोता, दोनों की सिद्धि अवश्य होनी चाहिए। लेकिन भरत ने साथ ही इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि विश्व की कोई वस्तु केवल गुणयुक्त या केवल दोषयुक्त नहीं होती, इसलिये विघ्नों को जानते हुए भी नाट्य के दोषों को बहुत बढ़ाकर न देखना सामाजिक का कर्तव्य है। लेकिन नट इसी बात को ध्यान में रखकर वाक्, अंग, सत्त्व, नेपथ्य का अनादर करे अथवा रस, भाव, नृत्त, गीत, आतोद्य या लोकयुक्ति का व्यतिरेक करे, तो निश्चित ही सिद्धि का घात होगा। उसी प्रकार संगीत के श्रोताओं के लिये भी सन्तुलित दृष्टि रखकर कार्यक्रम का यथासम्भव आनन्द उठाना ही शोभनीय है लेकिन गायक-वादक के लिये भी अपने कर्म में कुशलता और सजगता अनिवार्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसा आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि दैवी सिद्धि का मापदण्ड श्रोता हैं इसलिए श्रोताओं में भी कुछ अनिवार्य गुण होने चाहियें, तभी वे संगीत का आनन्द उठा सकते हैं। इन्द्रियों की एकाग्रता, शुद्ध आचरण, कल्पना व ग्रहण-शक्ति, स्वर-लय का सामान्य संस्कार, संगीत में रुचि और रस-भाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता—ये श्रोताओं के गुण हैं। लेकिन विभिन्न आयु, लिंग, स्वभाव, शील, प्रकृति से युक्त श्रोताओं में ये सभी गुण एक साथ होना दुर्लभ होता है। भरत के अनुसार नाट्य के सामाजिकों में तरुण काम से, विदग्ध परम्परानुकूल कार्य से, अर्थ-परायण अर्थ प्राप्ति के प्रसंग से, विरागी मोक्ष प्राप्ति के प्रसंग में, वीर प्रकृति के लोग वीभत्स, रौद्र, युद्धादि से, वृद्ध लोग धर्माख्यान पुराण आदि से; बालक, मूर्ख और मध्यम प्रकृति की स्त्रियाँ हास्य व साज-सज्जा से सुखी होते हैं। इसी प्रकार संगीत में भी तरुण श्रृंगारिक अभि-व्यक्ति में; विदग्ध या संगीत के जानकार स्वर, लय, आलाप, तान आदि परम्परानुकूल सर्वांग-सम्पन्नता में; धार्मिक प्रवृत्ति के लोग वीर भावों की अभि-व्यक्ति में, बालक 'भिड़न्त' में और स्त्रियाँ श्रृंगार, करुण आदि प्रसंगों में विशेष रूप से आनन्द प्राप्त करेंगे। भरत के अनुसार तादात्म्य स्थापित करने वाला ही सच्चा श्रोता कहलाने का अधिकारी है।

नाट्य में क्रियागत मतभेद के अवसर पर अथवा पुरस्कार-वितरण के लिए किसी तटस्थ व्यक्ति द्वारा निर्णय कराना पड़ता है, जो 'प्राश्निक' कहलाते हैं। नाट्य संगठित कला है, जिसमें अनेक व्यक्तियों का सम्मिलित प्रयत्न होता है। पूर्वाभ्यास के समय किसी भी प्रसंग को लेकर नटों में मतभेद उत्पन्न हो सकता है ऐसे अवसर पर उचित निर्णय देना 'प्राश्निक' का कार्य है। खेलकूदों में 'रॅफ़री' (referee) अथवा पाश्चात्य संगीत में 'कण्डक्टर' या शिल्प में प्राचीन शिल्पी का जो स्थान है, वही स्थान नाट्य में 'प्राश्निक' का है। भरत ने 'प्राश्निक' तो कहे हैं, लेकिन 'सभापति' का नाम नहीं लिया है। परन्तु 'संगीत-रत्नाकर', 'मानसोल्लास' आदि में प्राश्निक के समान सभापति का भी वर्णन किया गया है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि नाट्य-प्रतियोगिता में निर्णय देने के लिए प्राश्निकों का मण्डल होता होगा और उनमें से एक अध्यक्ष होता होगा। इसी परम्परा का विकास होकर नाट्य से स्वतन्त्र संगीत के सन्दर्भ में अध्यक्ष का 'सभापति' के रूप में ग्रहण हुआ होगा।

जीवन की विभिन्न परिस्थियों का, विविध अभिनय का, गीत-वाद्य का, विविध कलाओं, विद्याओं तथा शिल्पों का, विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों का साज-सज्जा का, भाषा-भेदों का, धार्मिक अनुष्ठानों का समावेश नाट्य में होने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण प्राश्निक को इनका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। विशेष प्रसंग में उसका ज्ञाता प्राश्निक ही निर्णय दे सकता है। इस दृष्टि से नाट्य में दस प्राश्निक ही माने गये हैं—

१. यज्ञवित्, २. नर्तक, ३. छन्दोवित्, ४. व्याकरणाचार्य, ५. राजा, ६ वेश्या, ७. चित्रकार, ८. गान्धर्व, ९. धनुर्धर और १०. राजसेवक। सभी का चरित्रवान्, अभिनय-कुशल, शान्त-प्रकृति, बहुश्रुत (विद्वान्), यशस्वी, धर्म-परायण और मध्यस्थ आयु का (न बिलकुल युवा न बहुत वृद्ध) होना आवश्यक है।

भारतीय संगीत में मतभेद का अवसर सामान्यतः नहीं होता, क्योंकि यह नाट्य अथवा पाश्चात्य संगीत की भाँति संगठित कला नहीं है। हाँ, जब प्रतियोगिता हो, तब ज़रूर प्राश्निक होना चाहिए। इसलिए संगीत के सन्दर्भ में केवल प्रतियोगिता में ही प्राश्निक का उपयोग है। संगीत का प्राश्निक ऐसा व्यक्ति हो सकता है जिसमें भरत के प्राश्निकों के सामान्य गुण—शुद्ध चरित्र, अभिनय-कुशलता, शान्त-प्रकृति, बहुश्रुतता, धर्मपरायणता और मध्यस्थ वय—तो हों ही, लेकिन जो स्वयं संगीतज्ञ और संगीतशास्त्र का ज्ञाता भी हो। साथ ही रस-भाव-छन्द का ज्ञाता हो, सूक्ष्म दृष्टि से युक्त हो और हिन्दी, ब्रज, अवधी आदि भाषाओं का ज्ञाता हो, क्योंकि संगीत के गेय पद इन्हीं भाषाओं में हैं। प्राश्निक का सबसे बड़ा गुण समदृष्टि अर्थात् पक्षपातरहित होना है।

भरत के अनुसार प्राश्निक को स्वस्थ होकर लगभग १२ हाथ की दूरी पर बैठना चाहिए, लेखक और गणक की सहायता से सिद्धि और घातों को लिखवाते जाना चाहिए, दैवी और परोत्थित घातों को नहीं गिनना चाहिए; केवल आत्मोत्थित घातों पर ही ध्यान देना चाहिए और जिसकी सिद्धि अधिक और घात कम हों; उसी को 'पताका' यानी पुरस्कार का अधिकारी घोषित करना चाहिए। दो व्यक्ति सामान्य रूप से अधिकारी हों तो उनमें से एक का निर्णय राजा पर छोड़ देना चाहिए। नाट्य में अभिनय की प्रधानता के कारण प्राश्निक के लिए बारह हाथ की दूरी पर बैठने का विधान है और सम्भवतः राजा के विदग्ध मुख्य अतिथि होने के कारण उस पर अन्तिम निर्णय का भार रखा गया है। संगीत में ऐसा नहीं है, क्योंकि मुख्य अतिथि भी संगीतज्ञ हो यह आवश्यक नहीं इसलिए प्राश्निक स्वयं ही उचित निर्णय कर सकता है।

नट, प्रेक्षक और प्राश्निक—इन सबका कार्य नाट्य-प्रयोक्ता पर निर्भर होता है, इसलिए नाट्य-प्रयोग के लिए उचित दिन-काल का निर्णय, दिन व रात के विभिन्न कालों; जैसे पूर्वाह्न-मध्याह्न या प्रदोष-प्रभात आदि का पूर्ण ज्ञान और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभिन्न परिस्थितियों का, इन कालों के अनुकूल प्रयोग का भरत ने विधान किया है। लेकिन संगीत में तो पद की बन्दिश तक ही वाग्गेयकार का महत्त्व है। गेय होने पर तो वह भी गौण हो जाता है। नाट्य-प्रयोग मध्याह्न, अर्धरात्रि और संध्या-भोजन-काल में कभी नहीं करना चाहिए, ऐसा भी भरत ने कहा है। लेकिन संगीत में ऐसी कोई परम्परा नहीं है। इतना अवश्य है कि संगीत-सम्मेलनों में जब कार्यक्रम दिन-रात चलता था, तो मध्याह्न में कुछ घण्टे और रात को भी भोजनावकाश के लिए कार्यक्रम बन्द रखा जाता था। इसी प्रकार रात-भर संगीत सभा चलने के बाद सुबह भी कुछ घण्टों के लिए सभा स्थगित होती थी। रागों के काल-विभाजन में भी दिन और रात के सारे प्रहर समाविष्ट हो जाते हैं। भरत के उपर्युक्त विधान के पीछे यही व्यावहारिक भावना दृष्टि-गोचर होती है कि ऐसा समय न रखा जाय, जिससे दैनिक कार्यक्रमों, भोजन, निद्रा, आरामादि आवश्यक कार्यों में बाधा पड़े। इसे ध्यान में रखकर संगीत में भी कुछ काल-नियमन किया जा सकता है।

भरत का काल-विधान संगीत में, गीत-नाट्यों में उपयोगी अवश्य है। लेकिन आज तो एकल गान या वादन के अतिरिक्त प्राचीन विधाओं का प्रचार रह ही नहीं गया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि श्रोताओं की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए भावाभिव्यक्ति का लक्ष्य रखकर गायन-वादन किया जाय, तो कलाकार को सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी, क्योंकि लोकरञ्जन उतना ही अधिक होगा। श्रोता जितने सहृदय होंगे, उन्हें भी उतना ही आनन्द प्राप्त होगा। पद व बन्दिश में शब्द, छन्द, स्वर और ताल योजना के सौन्दर्य पर भी कलाकार व श्रोताओं की सिद्धि निर्भर है। जब निर्णय करने का प्रसंग हो तो प्राश्निक—जितना निष्पक्ष होगा, उतना ही सही निर्णय कर सकेगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भारतीय संगीत में शोध के विभिन्न पहलू

ज्ञान की प्राप्ति भारतीय विचारधारा के अनुसार दो प्रकार से होती है—दैवी प्रेरणा अथवा आत्मानुभूति से और बुद्धिबल अथवा अध्ययन से। इनमें से प्रथम प्रकार का ज्ञान शुद्ध, स्वयंपूर्ण और शाश्वत होता है। बुद्धि और अध्ययन के बल से प्राप्त ज्ञान परिवर्तनशील हो सकता है। प्रथम प्रकार के ज्ञान से युक्त व्यक्ति 'ऋषि' कहे जाते हैं और द्वितीय से युक्त 'विद्वान्'। विद्वत्ता अध्ययन के द्वारा प्राप्त होती है और उसमें शोध का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रायः 'शोध' और 'आविष्कार' को मिला दिया जाता है। वास्तव में प्रकृति में पहले से विद्यमान किसी तत्त्व को खोज निकालना 'शोध' है और ऐसे साधन या तकनीक का निर्माण करना, जो पहले से मौजूद न रहा हो, 'आविष्कार' कहलाता है।

शोध का रूप

आधुनिक विचारधारा के अनुसार शोध के दो रूप हैं—१. नए तथ्यों की खोज करना और २. स्थापित तथ्यों का नवीन निर्वचन (interpretation) करना। वास्तव में इनमें से पहला ही शोध है। लेकिन देश-काल के अंतर, प्रमाद, अध्ययन के अभाव आदि अनेक कारणों से स्थापित तथ्यों के दुरुह हो जाने पर उनका फिर से स्पष्टीकरण करना अथवा किसी विशेष काल की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए उनका नए ढंग से निर्वचन और संयोजन करना भी शोध ही माना जाता है। किसी गोचर घटना (phenomenon) का निरीक्षण करके सिद्धान्त स्थापित करना शोध का मूल रूप है; जैसे—प्राचीन समय में लोक में प्रचलित धुनों में से कुछ में पंचम का षड्ज से संवाद तथा अन्यों में पंचम का ऋषभ से संवाद सुनकर क्रमशः षड्ज-ग्राम और मध्यम-ग्राम के रूप में ग्राम-सिद्धान्त की स्थापना—यह मूल रूप है। लेकिन इनके अस्पष्ट हो जाने के बाद बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब इनका स्पष्टीकरण हुआ, तो प्रयोगगत रागों का उन ग्रामों की स्वर-योजना के अनुसार वर्गीकरण करना अथवा ग्रामों से सम्बद्ध रागों का प्रयोग करना - यह दूसरा रूप है।

सिद्धान्तों का सामान्यीकरण धारणाओं के रूप में होता है और शोधकार्य इन्हीं धारणाओं के आधार पर होता है; जैसे—दोनों पंचमों के अंतर को सुनकर पहले यह सिद्धान्त स्थापित हुआ कि षड्ज-ग्राम में तेरह श्रुत्यन्तर से षड्ज-पंचम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संवाद होता है और मध्यम-ग्राम में नव श्रुत्यन्तर से ऋषभ-पंचम में। धारणा यह बनी कि जिन रागों में षड्ज-पंचम संवादी हों वे षड्जग्रामिक और जिनमें ऋषभ-पंचम संवादी हों वे मध्यमग्रामिक राग होते हैं। इसी सिद्धान्त और धारणा के आधार पर आज के रागों का ग्रामों से सम्बन्ध स्थापित करना शोधकार्य कहलाएगा।

शोध के लिए कोई समस्या होनी चाहिए, जो किसी गोचर तत्त्व से और मूल विषय से सम्बद्ध होनी चाहिए तथा उसकी कोई धारणा होनी चाहिए; जैसे शोध की समस्या हो—'ख़्याल का स्वरूप क्या है ?' समस्या इस गोचर तत्त्व से उत्पन्न हुई कि प्रयोग में अनेक प्रकार के ख़्याल दिखाई देते हैं। मूल विषय यह है कि ख़्याल भी एक प्रकार का 'प्रबन्ध' ही है। धारणा यह है कि स्वर, ताल और पद से युक्त रचनाएँ 'प्रबन्ध' कहलाती हैं, ख़्याल में भी ये तीन तत्त्व हैं, इसलिए यह भी 'प्रबन्ध' है। आजकल 'शोध' शब्द का बहुत अनियंत्रित ढंग से प्रयोग हो रहा है, जिसके अनुसार कोई भी समस्या लेकर उस पर मूल से सम्बद्ध किये बिना प्रयोग या विचार कर लिया जाता है। यह शोध के मूल अर्थ को ज़बरदस्ती खींचना है।

धारणाएँ शुरू में लक्ष्य के आधार पर बनती हैं, लेकिन बाद में वे लक्ष्य को भी प्रभावित करती हैं; जैसे आरंभ में गीतों में स्वर, ताल, ईश्वरवाचक शब्द, गुणसूचक शब्द, अन्य सार्थक शब्द और पाटाक्षरों को देखकर यह धारणा बनी कि जिस रचना में स्वर, ताल, तेन, विरुद, पद और पाट हों, वह 'प्रबन्ध' है। बाद में इन्हीं छह तत्त्वों के आधार पर अनेक प्रकार के प्रबन्धों की रचना हुई।

लक्ष्य को प्रत्ययात्मक (conceptual) बनाने और व्यक्त करने के लिए नाम (संज्ञा) देने पड़ते हैं। इन्हीं नामों से किसी शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली बनती है। उस शब्दावली के साथ उस शास्त्र, विद्या अथवा कला का इतिहास जुड़ा होता है। अनेक शताब्दियों के प्रयत्नों और विकास के बाद उस शब्दावली का निर्माण होता है, इसलिए कई सदियों के बाद भी किसी कला की पारिभाषिक शब्दावली का इतिहास केवल ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं देखा जाता, बल्कि इस दृष्टि से कि उसका महत्त्व क्या है और आज उसका प्रयोग क्यों किया जाता है। स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, वर्ण, अलंकार, ग्रह, अंश, वादी, संवादी, विवादी, अनुवादी, जीव, स्थायी आदि प्राचीन शब्द अपने भीतर गहरा अर्थ समेटे हुए हैं। आज की दृष्टि से ये व्यर्थ (outdated) नहीं हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इनके मूल अर्थ को समझा जाय और वर्तमान सन्दर्भ में उनकी उपयोगिता और सार्थकता को समझकर उनका प्रयोग किया जाय।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शब्दों के ग्रहण अथवा प्रयोग के बारे में दो प्रकार के दृष्टिकोण हो सकते हैं—१. किसी शब्द को सुनकर छानबीन किये बिना ग्रहण कर लेना। इससे इन शब्दों के साथ सही परिचय नहीं होता। २. शब्द के बारे में सोचना तथा अन्यत्र उसका सम्बन्ध देखना। ऐसा करने से शब्दों का व्यापक और गूढ़ अर्थ समझ में आता है और उनकी अन्वर्थता भी सिद्ध होती है; जैसे संगीत से थोड़ा-बहुत परिचय रखने वाले व्यक्ति भी 'स्वर' शब्द का प्रयोग करते हैं और संगीत-शास्त्र का अध्ययन करने वाले भी। लेकिन दूसरे वर्ग के लोग भी प्रायः छान-बीन का रवैया नहीं अपनाते। इस शब्द की छानबीन की जाय, तो मालूम होगा कि 'स्वर' शब्द का प्रयोग व्याकरण-शास्त्र और वेदांगों में भी हुआ है। इन सबका अध्ययन करने से अन्यत्र किये गये 'स्वर' शब्द के प्रयोग और संगीत में प्रयुक्त 'स्वर' शब्द का सम्बन्ध, भेद और अन्वर्थता समझ में आती है।

संगीत में शोधकार्य का रूप

आज संगीत में शोधकार्य का सम्बन्ध नवीन खोज से उतना नहीं है जितना स्पष्टीकरण अथवा निर्वचन से है। हमारे ऋषि, मुनि, आचार्य इतना सूक्ष्म, गहन और व्यापक विचार कर चुके हैं और ऐसे सिद्धान्त स्थापित कर चुके हैं कि संगीत में नई खोज या नये सिद्धान्तों की स्थापना के लिए बहुत गुंजाइश नहीं है। आज जब कोई बात कही जाती है, तो बात नई नहीं होती, बल्कि या तो उसे कहने का ढंग नया होता है अथवा लक्ष्य का संग्रह कर दिया जाता है। लेकिन इन्हें शोध नहीं कहा जा सकता। स्थापित सिद्धान्तों का आज के सन्दर्भ में स्पष्टीकरण ही मुख्य रूप से संगीत में शोधकार्य है।

संगीत सबसे अधिक चल यानी परिवर्तनशील कला है। परिवर्तन विकास का महत्त्वपूर्ण अंग है, जो निरन्तर होता रहता है। लेकिन हर परिवर्तन को विकास या प्रगति नहीं कहा जा सकता। न यह मानने की आवश्यकता है कि आज जो कुछ है, वह सब विकसित है और प्राचीन सब अविकसित या अनगढ़ था। कोई वृक्ष हज़ार साल पहले बर्फ़ में जम कर जीवाश्म (fossil) बन गया हो, तो उसे आज यह कहा जा सकता है कि यह मर गया, क्योंकि इस अर्से में इसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। दूसरी ओर एक ऐसे वृक्ष के हर परिवर्तन को विकास नहीं कह सकते जो हज़ार साल से जीवित तो है, लेकिन जिसकी टहनियाँ सूख गईं, कोटर बन गये। यह विकास नहीं ह्रास है। न नौ सौ वर्ष पहले के उस रूप को अविकसित कह सकते हैं, जिसका तना आज की अपेक्षा पतला था, टहनियाँ कम थीं, पत्ते कम थे और जिसका फैलाव कम था। क्रमिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विकास में सभी पूर्वरूपों का महत्त्व रहता है, इसलिए आज के रूप पर कुछ शोध करनी हो, तो उसकी उत्पत्ति, प्रारम्भिक रूप और निरन्तर हो रहे परिवर्तनों पर विचार करना अनिवार्य होगा।

भारतीय संगीत वेद से सम्बद्ध है, यह तो प्रायः सुना जाता है। लेकिन कैसे, कहाँ, कितना जुड़ा है—यह काम करना शोध है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टि रखनी ही होगी। फिर इतिहास से, प्राचीन और प्राचीनता से—चिढ़ क्यों ? वर्तमान भारतीय संगीत का मूल इतनी प्राचीन परम्परा में है, जो अत्यन्त विकसित और सूक्ष्म थी। उस परम्परा को तोड़ा नहीं जा सकता। आज के संगीत के किसी भी पक्ष को सही रूप में समझने के लिए प्राचीन परम्परा को देखना ही होगा। ऐसा किये बिना आज का संगीत समृद्धि खो देगा। प्राचीन संगीत एक जीवित अंगी था और अत्यन्त विकसित था, जिसका अत्यन्त सूक्ष्म, पूर्ण और विकसित शास्त्र था। उस प्राचीन की विशेष चेतना आज के संगीत में भी विद्यमान है। लेकिन यह चेतना उसी के लिए महत्त्व रखती है, जो उसे समझे, समझने के लिए प्रयत्नशील हो अथवा कम-से-कम उसके प्रति श्रद्धा रखता हो। यद्यपि यह भी सही है कि संकटकाल में अनायास भगवान् का नाम स्मरण करने वाले नास्तिकों की तरह प्राचीन संगीत व शास्त्र पर अश्रद्धा रखने वाले लोग भी अन्त में उसी की शरण लेने लगते हैं।

भारतीय संगीत के क्षेत्र में शोध करने वाले व्यक्ति को यह समझ लेना आवश्यक है कि परिवर्तन संगीत के बाह्य रूप में हुए, मूलभूत सिद्धान्तों में नहीं। यदि वर्तमान संगीत को प्राचीन की अपेक्षा अधिक विकसित कहें, तो इसे प्रमाणित करना होगा। आज के संगीत में स्वर, श्रुति, विशेष प्रकार की स्वर व्यवस्था, मौलिक तत्त्व, मूल राग, जन्य राग, वर्ण, अलंकार, ताल, वाद्य, गीत, भावोत्पादकता आदि प्राचीन तत्त्वों से भिन्न कोई विशेषताएँ नहीं हैं। चतुर्विध वाद्यों के अतिरिक्त कोई नये वाद्य नहीं हैं। विशिष्ट प्रकार के नियमों से युक्त आनन्ददायक स्वर-रचना से भिन्न किसी रूप को आज भी राग नहीं कहा जाता। सात स्वरों के क्षेत्र के अतिरिक्त कोई नया साधन हमने नहीं खोजा। स्पष्ट है कि उसके स्वरूप या सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं आया। उसे व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होने वाली भाषा बदली है। संस्कृत शब्दों के स्थान पर विदेशी अथवा देशी भाषाओं के शब्द आ गये। आवश्यकता इस बात की है कि शब्द-प्रयोगों में जो अवैज्ञानिकता आ गई है उसे दूर करें और हमारे पास जो सार्थक शब्दावली है उसे समझकर उसका प्रयोग करें, पुरानी कहकर निकाल न दें। इस दृष्टि से प्राचीन शब्दावली का स्पष्टीकरण, आज के लक्ष्य से उसका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बन्ध-स्थापन, शास्त्रकारों की वैज्ञानिक निरूपण-पद्धति, शब्दों का इतिहास, तत्कालीन लक्ष्य से उनका सम्बन्ध, अस्पष्ट विषयों का स्पष्टीकरण, खंडित व भ्रष्ट पाठ वाले ग्रन्थों का पाठ सुसम्बद्ध और शुद्ध करना, शास्त्रकारों में रहे मतभेदों के कारण खोजना और शंकाओं का समाधान करना आदि संगीत में शोध का क्षेत्र हो सकता है।

शोध का अधिकारी व्यक्ति

संगीत में शोधकार्य करने का अधिकारी कौन है, इस बारे में दो भिन्न विचारधाराएँ हैं—१. संगीत जानने वाला हर व्यक्ति शोध कर सकता है। इसमें संगीत की क्रिया को जानना या प्रस्तुत कर सकना ही शोध के लिए मूल योग्यता मान लिया गया है। २. संगीत से भिन्न किसी अन्य विषय में अच्छी योग्यता प्राप्त व्यक्ति संगीत के व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना भी संगीत में शोध कर सकता है। वास्तव में ये दोनों ही विचार दो छोर हैं और सही नहीं हैं। न तो केवल गायक अथवा वादक होने से संगीत में शोध करने की क्षमता आ जाती है और न ही अन्य विषय के अनुभव और प्रशिक्षण के आधार पर संगीत के ज्ञान के बिना संगीत में शोधकार्य सम्भव है। वास्तव में संगीत में प्रशिक्षण और अनुभव तथा शोध-सम्बन्धी अनिवार्य गुण ही योग्यता माने जा सकते हैं। उपर्युक्त दोनों विचारों के पीछे रहस्य है। पहले विचार में यह कि अनेक कारणों से जिन गायक-वादकों का बौद्धिक विकास समाज के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कम होता है, उनमें हीन भावना आ जाती है। इसे छिपाने के लिए यह दिखावा किया जाता है कि संगीत में शोध करने के लिए गाने बजाने की क्षमता पर्याप्त योग्यता है। दूसरे विचार का रहस्य यह है कि जो लोग अपने क्षेत्र में कोई विशेष काम नहीं कर सकते, वे संगीत के तथा-कथित शोधकार्य के स्तर को देखकर यह सोचते हैं कि उसमें काम करना आसान है, इसलिए उसी में कुछ कर लें अथवा अपने क्षेत्र में विशेष योग्यता होने पर कला के क्षेत्र में भी कुछ कर दिखाने का मोह नहीं छोड़ सकते।

शोध करने के लिए केवल संगीतकार होना पर्याप्त नहीं है। शोधकर्ता में गम्भीर विचार-शक्ति, मनन, अध्ययनशीलता, अभिव्यक्ति-क्षमता, सामान्य समझदारी तो होनी ही चाहिये; स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकने की क्षमता, वस्तुनिष्ठ होकर सोचने की शक्ति, व्यापक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी उसके लिए अनिवार्य गुण हैं। संगीत ऐसी अभ्यास-सिद्ध कला है जिसके सच्चे साधक को संगीत की साधना के सिवा दूसरे प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का समय और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवसर प्रायः नहीं होता। उसमें आम तौर पर उपर्युक्त गुण नहीं होते। ऐसा होने पर उसमें हीन भावना नहीं आनी चाहिए। अपनी विशेषताओं और मर्यादाओं का भान रखकर अपने क्षेत्र में परिश्रम और उपलब्धियों का अनुभव कराना भी उसे आना चाहिए।

संगीत के शोधकर्ता में निम्नलिखित बातें अवश्य होनी चाहिएँ—

१. उसे इतना संगीत अनिवार्य रूप से आना चाहिए, जिससे वह यह समझ सके कि संगीत में किस प्रकार के काम के लिए कितना और कैसा प्रयत्न करना पड़ता है और गान-वादन में किस व्यक्ति का कौन-सा अंग अच्छा या दुर्बल है। इसका अर्थ यह है कि निजी अनुभव और अभ्यास के आधार पर वह गायक-वादक की विशेषताओं और दुर्बलताओं का विश्लेषण कर सके।

२. संस्कृत भाषा पर इतना अधिकार होना चाहिए, जिससे शब्दों की व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति को समझ सके। प्राचीन ग्रन्थों की रचना संस्कृत में ही हुई और भारतीय संगीत के किसी भी पक्ष पर शोध करने के लिए उन ग्रन्थों के मूल सिद्धान्तों का अध्ययन करना अनिवार्य है। संगीतज्ञों और संगीत-शिक्षकों की यह धारणा अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है कि संगीत सीखने वालों के लिए संस्कृत जानने की आवश्यकता नहीं है।

३. संगीत की पारिभाषिक और लक्ष्यगत शब्दावली से अच्छा परिचय होना चाहिए।

४. उर्दू-भाषा का ज्ञान हो तो अच्छा है, क्योंकि मुग़लकालीन भारतीय संगीत और संगीतज्ञों पर बहुत सामग्री उर्दू के ग्रन्थों में है। बँगला और मराठी भी जानें तो और अच्छा है, क्योंकि इन दोनों भाषाओं में भी संगीत पर काफ़ी लिखा गया है। आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा और संगीत-साहित्य से परिचय पाने के लिए अंग्रेज़ी का ज्ञान भी होना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संगीत पर भी अंग्रेज़ी में पर्याप्त लेखन हुआ है। कम-से-कम अपने विषय से सम्बद्ध सामग्री जिस भाषा में हो उसका ज्ञान जरूर होना चाहिए।

पश्चिम की ओर दृष्टि रखने वालों के लिए यह उल्लेख उपयोगी होगा कि वहाँ वादक के लिए अपनी मातृभाषा के अलावा लेटिन और जर्मन भाषा सीखना अनिवार्य है और गायक के लिए इटैलियन; क्योंकि ऑपेरा, जिनका कण्ठ संगीत की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है, इटैलियन में हैं।

५. भारतीय दर्शन और काव्य-शास्त्र का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि इन दोनों का संगीत से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

६. भारत के इतिहास और भौगोलिक स्थिति का भी सामान्य ज्ञान होना चाहिए।

७. संगीत काफ़ी सुना हो, यानी गायन-वादन की विभिन्न शैलियों से अच्छा परिचय हो।

आजकल यह भी कहा जाता है कि संस्कृत और संगीत से इतर किसी विषय के ज्ञाता द्वारा संगीत पर किया गया कार्य इतिहास-सम्बन्धी होगा और लक्ष्य अथवा क्रिया से उसका सम्बन्ध नहीं होगा तथा संगीतज्ञ द्वारा किया गया कार्य आज के लक्ष्य की दृष्टि से उपयोगी होगा। इसके मूल में एक भ्रम है कि यहाँ संगीत के क्षेत्र में शोध और रचना अर्थात् निर्माण को मिला दिया गया है। यानी यह मान लिया गया है कि संगीत के शोधकर्ता में रचना-शक्ति भी होनी चाहिए। लेकिन जैसे काव्य के आलोचक के लिए कवि होना आवश्यक नहीं, उसी तरह संगीत के शोधकर्ता के लिए भी गायक-वादक होना अनिवार्य नहीं है। इसके साथ ही यह विचार भी भ्रमपूर्ण है कि अन्य विषय का विशेषज्ञ संगीत की अच्छी समझदारी होने पर भी संगीत में शोध नहीं कर सकता। पाश्चात्य देशों के बड़े-बड़े म्यूजिकॉलोजिस्ट तथा शोधकर्ताओं में से अनेक पहले अन्य विषयों के विशेषज्ञ रहे हैं और बाद में म्यूजिकॉलोजी के क्षेत्र में आए हैं। इसलिए जहाँ यह भ्रम है कि गायक-वादक ही संगीत में शोध कर सकते हैं तथा अच्छा गायक-वादक होने से शोध करने की योग्यता स्वतः प्राप्त हो जाती है, वहाँ यह भी भ्रम ही है कि संगीत के अलावा अन्य विषयों के व्यक्ति संगीत में शोध नहीं कर सकते।

जिन्होंने भारतीय विद्याओं तथा कलाओं के शास्त्र का अध्ययन किया है, वे यह जानते हैं कि भारतीय विचारधारा की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उसमें विद्याएँ और कलाएँ कभी-भी एक-दूसरे से विच्छिन्न नहीं रहीं और पाश्चात्य विचारधारा की तरह अपने-अपने में स्वतन्त्र नहीं रहीं। प्राचीन ऋषियों, आचार्यों और विद्वानों ने सभी क्षेत्रों में ऐसा घुल-मिलकर विचार किया कि न्यूनाधिक मात्रा में सभी विद्याएँ परस्पर सम्बद्ध रहीं। भारतीय संगीत-शास्त्र के साथ दर्शन, काव्य-शास्त्र, व्याकरण, छन्दःशास्त्र, भौतिक-विज्ञान, गणित, शरीररचना-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, मनोविज्ञान सीधे सम्बद्ध हैं, इसलिए इन विषयों के जानकार व्यक्ति तो संगीत का ज्ञान होने पर संगीत में शोध कर ही सकते हैं। उदाहरण के लिए वाद्यों की बनावट और तकनीक पर कोई शोध करे, तो उसके लिए केवल संगीत-ज्ञान ही नहीं, भौतिक-विज्ञान और विशेष रूप से ध्वनि-विज्ञान का अच्छा ज्ञान अनिवार्य होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शोध की वर्तमान स्थिति व समस्याएँ

भारतीय और यूरोपीय विद्वान् अठारहवीं शताब्दी से भारतीय संगीत के प्राचीन ग्रन्थों---विशेष रूप से 'नाट्यशास्त्र', 'बृहद्देशी' और 'संगीतरत्नाकर' पर लेखनी चलाते रहे हैं और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उन्हें समझने-समझाने का प्रयत्न करते रहे हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश इन ग्रन्थों के रहस्यों को समझ नहीं सके। वास्तव में संगीत में शोधकार्य का प्रारम्भ बीसवीं सदी में हुआ। यह कार्य मुख्य रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है—१. प्राचीन सिद्धान्तों के निर्वचन और स्पष्टीकरण की दृष्टि से लिखी गई पुस्तकें और २. शोध-उपाधि के लिए लिखे गये शोध-प्रबन्ध। उद्देश्य-भेद, समय, साधन और सुविधाओं की मर्यादाओं तथा लेखकों की योग्यता में अन्तर के कारण इनमें स्तर-भेद है। इनमें से दूसरे वर्ग के कुछ प्रबन्ध शोध के स्तर की दृष्टि से प्रथम वर्ग में रखे जा सकते हैं।

शोध की वर्तमान स्थिति के सन्दर्भ में, विशेष रूप से द्वितीय वर्ग-सम्बन्धी कुछ पहलुओं पर प्रकाश डालना ही यहाँ हमें अभिप्रेत है, अब तक हुए शोधकार्य का मूल्यांकन करना नहीं। इस दृष्टि से हमने शोध से सम्बन्धित सात पक्ष चुन लिए हैं—१. शोधकर्ता २. आवश्यक साधन तथा सुविधाएँ, ३. शोध-समितियाँ, ४. शोध-निर्देशक, ५. शोध-प्रबन्ध-परीक्षक, ६. शोध-प्रबन्ध तथा ७. प्रकाशन।

१. शोधकर्ता : व्यापक शिक्षा प्रणाली (mass education) ने जहाँ छात्रों की संख्या में तेजी से वृद्धि की, वहीं शिक्षा के स्तर को गिरा दिया। लाखों और हज़ारों की संख्या में बी० ए० और ऍम्० ए० पास छात्र-छात्राओं को अपने विषय का विशेष ज्ञान तो क्या, सामान्य परिचय भी नहीं होता। ऐसे ऍम्० ए० पास छात्रों के लिए शोध करना अब अनेक 'फ़ैशनों' में से एक है। अधिकांश छात्र-छात्राएँ शोध के लिए पंजीयन इसलिए करा लेते हैं कि योग्यता का सर्वोच्च प्रमाणपत्र बिना प्रयास के या बहुत थोड़े-से प्रयास से प्राप्त हो जाता है। उनमें न तो शोध करने की योग्यता और प्रवृत्ति होती है और न रुचि व उत्साह, न भाषा का समुचित ज्ञान और न अभिव्यक्ति-क्षमता। अपने शोध-विषय से सम्बन्धित भाषा को सीखने की रुचि भी नहीं होती। शिक्षा-प्रणाली में पश्चिम से प्रेरणा लेने वाले लोगों के लिए 'ऍन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के बाईसवें खण्ड के पृष्ठ ७६० के द्वितीयार्ध में 'रिसर्च' के सम्बन्ध में प्रकट किये गए ये विचार उल्लेखनीय हैं :—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

"All teachers, it is felt, should be familiar with methods of research and should have a scholarly mastery of their fields, but not all have the ability to do research."

अर्थात् ऐसा महसूस किया जाता है कि सभी शिक्षकों को शोध करने की पद्धति से परिचित होना चाहिए और अपने विषय पर विद्वत्तापूर्ण अधिकार होना चाहिए, लेकिन सभी में शोध करने की योग्यता नहीं होती।

संगीत में स्थिति अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। स्वर, ताल के पक्के संस्कारों तक से रहित, बौद्धिक विकास की दृष्टि से अधूरे, बी० ए० स्तर की सामान्य शिक्षा के अभाव में सामान्य समझदारी से हीन, ऍम्० ए० के पाठ्यक्रम के कुछ चुने हुए रागों में बड़ा ख्याल अथवा छोटा ख्याल सीखकर बने-बनाए आलाप-तान रटकर 'प्राइवेट' परीक्षा देकर यानी संगीत के आवश्यक संस्कार, अनुभव और प्रशिक्षण से रहित तथा शोध के महत्त्व और समझ से कोसों दूर व्यक्ति शोध उपाधि के लिए पंजीयन करवा लेते हैं। ऐसी स्थिति में बेचारा 'निर्देशक' कौन-सा 'जादुई डण्डा' फेरकर शोधकार्य पूरा करा सकता है? किन्तु ऐसे छात्रों का पंजीयन कराने में मदद करने के दोष का भागीदार वह अवश्य बनता है।

२. आवश्यक साधन एवं सुविधाएँ। शोध के लिए पंजीकृत व्यक्तियों को शोध-सम्बन्धी आवश्यक साधन और सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिएँ। इसके अभाव में कार्य सुचारु रूप से नहीं चलता, योग्य व्यक्ति अपेक्षित कार्य नहीं कर पाते तथा शोध का क्षेत्र प्रतिभाओं के पूर्ण लाभ से वंचित रह जाता है। विश्वविद्यालयों के संगीत-विभाग और शोध-विभाग तथा ऐसे संगीत-महाविद्यालय, जहाँ शोध-उपाधि के लिए कार्य किया जाता है, आवश्यक ग्रन्थों, पुस्तकों और पांडुलिपियों से युक्त नहीं हैं। इस कारण थोड़े खर्चे से जो सामग्री अनेक शोध-कर्ताओं को आसानी से एक स्थान पर उपलब्ध कराई जा सकती है, उसके लिए सभी को इधर-उधर भटक कर धन, समय और शक्ति नष्ट करनी पड़ती है। शोधकर्ताओं को शोधकार्य के लिए दी जाने वाली छात्र-वृत्तियाँ समय पर और नियमित रूप से न दी जाने से अर्थाभाव के कारण अनेक योग्य छात्रों को शोधकार्य छोड़ देना पड़ता है अथवा अपेक्षित समय से अधिक समय लगाना पड़ता है।

संगीत में ऍम्० ए० या समकक्ष परीक्षा पास करके तुरन्त शोधकार्य प्रारम्भ करने वाले छात्रों के लिए निर्देशक के पास कभी-कभी जाकर केवल परामर्श के माध्यम से शोध करना असम्भव है, क्योंकि शास्त्र के अध्ययन की ऍम्० ए०

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तक जो स्थिति है और संस्कृत, अंग्रेजी अथवा विषय से सम्बन्धित अन्य भाषा के आवश्यक ज्ञान का जैसा अभाव है उसमें शोध के लिए जो नींव चाहिए, वह नहीं बन पाती। इसलिए शोध छात्रों के लिए सतत मार्गदर्शन तथा निर्देशन की सुविधा उपलब्ध कराना अनिवार्य आवश्यकता है। इसके अभाव के कारण ही विश्वविद्यालयों में ऐसे अनेक पंजीकृत व्यक्ति पड़े हैं, जिनकी शोध-पंजीयन की अवधि समाप्त होने के बाद भी कार्य का वास्तव में प्रारम्भ भी नहीं हो पाया।

३. शोध-समितियाँ : शोध-उपाधि के लिए पंजीयन से पहले शोध के विषय, शोधकर्ता की योग्यता तथा निर्देशक की उपयुक्तता आदि की जाँच करने तथा शोध-सम्बन्धी अन्य बातों पर विचार करने के लिए विश्वविद्यालयों में शोध-समितियाँ होती हैं। अभी अनेक शोध-समितियों में ऐसे सदस्य हैं, जिन्हें न तो शोध करने का अथवा निर्देशन का कोई अनुभव है और न शोध के विषयों के बारे में वे समझते हैं। जो धर्म, प्रान्त और जातिगत संकुचितताओं से मुक्त संगीत-जैसी कला में भी प्रान्तीयता की भावना जबरदस्ती लाते हैं; शोध की दृष्टि से अनुभवी, योग्य और मान्य व्यक्तियों को स्वार्थ के कारण शोध-समितियों में न आने देने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करते हैं और योग्य छात्रों के पंजीयन में तथा कार्य के सुचारु रूप से चलने में बाधा उत्पन्न करते हैं। वे संगीत की सेवा नहीं, कुसेवा करते हैं।

४. शोध-निर्देशक : संगीत में शोध का निर्देशन करने के लिए योग्य व्यक्तियों का उपलब्ध होना, सबसे बड़ी समस्या है। वास्तव में, संगीत में ऐसे व्यक्ति गिने-चुने ही हैं। उपयुक्त निर्देशन के अभाव में प्रामाणिक कार्य की अपेक्षा नहीं रखी जा सकती। निर्देशक के लिए सबसे आवश्यक गुण है शोध का अनुभव तथा शोध की दृष्टि से सम्पन्न होना। जिनके पास शोध-उपाधि न हो, वे भी उपर्युक्त गुणों के आधार पर निर्देशन कर सकते हैं तथा दूसरी ओर इनके अभाव में शोध-उपाधि से युक्त व्यक्ति भी निर्देशन नहीं कर सकते। शिक्षा-संस्थाओं में अभी भी ऐसे व्यक्ति सम्मानित पदों पर प्रतिष्ठित हैं जो एक ओर तो ऐसे विचार व्यक्त करते हैं कि संगीत में 'डी॰ लिट्॰' उपाधि के साथ सात वर्ष तक स्नातकोत्तर कक्षाओं को संगीत सिखाने का अनुभव निर्देशक के लिए अनिवार्य योग्यता होनी चाहिए और दूसरी ओर शोधकार्य के किसी भी प्रकार के अनुभव यानी शोध-उपाधि अथवा विशेष लेखन-प्रकाशन के बिना केवल संगीत सिखाने का अनुभव शोध-निर्देशन के लिए पर्याप्त योग्यता स्वीकार करते हैं। इनमें से प्रथम स्थिति को स्वीकार कर लेने पर संगीत-जगत् को अनेक मूर्धन्य विद्वानों के निर्देशन के लाभ से वंचित होना पड़ेगा, क्योंकि संगीत

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में उपर्युक्त योग्यता का व्यक्ति शायद ढूंढ़ने पर भी न मिले। दूसरी स्थिति स्वीकृत होने पर अनेक अपढ़, निरक्षर गायक-वादक और पढ़े-लिखे, किन्तु शोध के अनुभव से रहित तथा 'कुएँ के मेंढक' जैसी वृत्ति वाले शिक्षक भी निर्देशक के पद पर आसीन हो जाएँगे। उस स्थिति में होने वाले शोधकार्य की कल्पना बुद्धिमान् लोग आसानी से कर सकते हैं।

दूसरी ओर योग्य व्यक्ति समयाभाव और आवश्यक सुविधाओं के उपलब्ध न होने के कारण या तो निर्देशन करते नहीं अथवा अनेक छात्रों का पंजीयन करा लेते हैं, लेकिन अनेक कारणों से अपेक्षित मार्ग-दर्शन नहीं दे पाते, जिससे शोधकर्ताओं का समय नष्ट होता है और उनमें निराशा उत्पन्न होती है।

५. शोध-प्रबन्ध-परीक्षक : शोध-प्रबन्ध का परीक्षण अत्यन्त महत्त्व का काम है। इसके लिए ऐसे व्यक्ति को ही परीक्षक नियुक्त किया जाना चाहिए जिसे शोध के अनुभव के साथ संबद्ध विषय का ज्ञान भी हो। अभी स्थिति यह है कि संगीत-संस्थाएँ इस कार्य के लिए ऐसे परीक्षक नियुक्त करती हैं जिन्हें न शोध का अनुभव है, न इस कार्य के महत्त्व को समझते हैं। यहाँ तक कि संगीत-सम्बन्धी किसी विषय पर सुसंगत और सुसम्बद्ध रूप से कुछ भी लिख नहीं सकते। उन्हें केवल पारिश्रमिक से 'प्रेम' होता है और संस्थाएँ उन्हें यह 'प्रेम' देकर उनका मुँह बन्द कर देती हैं, ताकि वे शोध-प्रबन्ध न कहलाने वाले स्तर के प्रबन्ध को भी स्वीकृति दे दें और इस प्रकार संस्थाओं को फ़ीस के रूप में धन और अधिकतम शोध-उपाधियों के वितरण का श्रेय मिलता रहे। इस प्रकार की संस्थाओं और परीक्षकों का बहिष्कार होना चाहिए।

शोध-प्रबन्ध : शोधकर्ता में शोध करने की योग्यता के अभाव में संगीत में जिस स्तर के शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं तथा जिन पर शोध-उपाधि दी जा चुकी हैं, उन्हें शोध-प्रबन्ध कहना 'शोध' और 'प्रबन्ध', का अपमान है। विश्वविद्यालयों और संगीत-संस्थाओं द्वारा ऐसे शोध-प्रबन्धों पर उपाधियाँ दी जा चुकी हैं, जिनमें शोधकार्य की पद्धति का सम्पूर्ण अभाव है, जो विषय से सम्बद्ध मूल ग्रन्थों की गन्ध तक से कोसों दूर हैं; जिनमें सुनी-सुनाई, मनगढ़न्त और अप्रामाणिक बातों को प्रमाण मान लिया गया है तथा जिनमें न लेखन-शैली है और न अभिव्यक्ति-क्षमता। ऐसे प्रबन्धों के निर्देशक और परीक्षक विशेष रूप से दोषी हैं, क्योंकि वे अपने कर्तव्य और इस कार्य की गरिमा से च्युत हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

७. शोधकार्य का प्रसार व प्रकाशन : शोध की सुविधा के लिए पंजीकृत विषयों और स्वीकृत प्रबन्धों की सूची व संक्षेपसार तुरन्त प्रकाशित न होने के कारण शोधकार्य में पुनरावृत्ति हो जाती है। शोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और उच्च स्तर के शोध-प्रबन्धों का प्रकाशन न होने से विद्वानों, विद्यार्थियों और शोध-कर्ताओं को वह सामग्री भी उपलब्ध नहीं हो पाती, जो अन्यथा उपलब्ध हो सकती है। प्रकाशित होने के बाद प्रकाशकों के लिए उनकी बिक्री की समस्या रहती है।

कुछ सुझाव

शोधसम्बन्धी उपर्युक्त समस्याओं से निपटने के लिए नीचे कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं :—

१. शोध करने की स्वीकृति केवल ऐसे ही व्यक्तियों को दी जानी चाहिए जिनमें उसके लिए अपेक्षित क्षमता व योग्यता हो।

२. शोध-विषय के पंजीकृत होते ही तथा उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के स्वीकृत होते ही उनके संक्षेप-सार सहित उनकी सूची प्रकाशित की जानी चाहिए ताकि प्रारम्भ हुए तथा स्वीकृत हुए शोधकार्य की जानकारी तत्काल मिल सके।

३. उपयुक्त निर्देशन सतत मिलने की तथा अन्य आवश्यक साधन व सुविधाओं की व्यवस्था होनी चाहिए।

४. शोध-समितियों के सदस्य ऐसे व्यक्ति ही होने चाहिएँ, जिन्हें शोध का अनुभव हो और जो संगीत के शोधकार्य की विशेषताओं और समस्याओं से परिचित हों।

५. निर्देशन ऐसे व्यक्तियों द्वारा मिलना चाहिए जो नियमित समय दे सकें तथा जिनमें निर्देशन करने की योग्यता और क्षमता हो।

६ शोध-प्रबन्धों के परीक्षक के लिए निर्देशक की भाँति कुछ अनिवार्य योग्यता होनी चाहिए।

७. श्रेष्ठ सामग्री से युक्त शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन की उचित व्यवस्था होनी चाहिए ताकि संगीत के क्षेत्र में हो रहे शोधकार्य को प्रकाश में लाया जा सके। वह दायित्व मुख्य रूप से संगीत-ग्रन्थों के प्रकाशकों और विश्व-विद्यालयों के प्रकाशन-विभागों का है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

८. संगीत विभागों से युक्त विश्वविद्यालयों, संगीत संस्थाओं, विद्वानों और छात्रवृत्ति पाने वाले शोधकर्ताओं को ऐसी प्रकाशित पुस्तकों को उचित संख्या में खरीदना अपना कर्तव्य समझना चाहिए।

यद्यपि संगीत के क्षेत्र में शोध की ओर विद्वानों और छात्रों का ध्यान आकर्षित हुआ है, फिर भी वह अभी शैशवावस्था में ही है। लेकिन यह चिन्तनीय है कि जहाँ अन्य विषयों में शोध का स्तर प्रारम्भ में बहुत अच्छा रहा और धीरे-धीरे उसमें गिरावट आई, वहाँ संगीत के शोधकार्य का स्तर शुरू में ही बहुत नीचा है। निर्देशकों, विद्वानों और सम्बन्धित व्यक्तियों को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सूर-काव्य के संगीत-पक्ष के विश्लेषण का दिशासूचन

सूरकाव्य के संगीत पक्ष के विश्लेषण के सन्दर्भ में तीन पक्ष सामने आते रहे हैं—१. सूरदास संगीतज्ञ, शास्त्रज्ञ, वाग्गेयकार थे तथा संभवत मुरली की निर्माण विधि में भी पारंगत थे, २. यह शंका कि वे इनमें से कुछ भी थे अथवा नहीं? और ३. 'मध्यम मार्ग' यानी हो भी सकते हैं अथवा नहीं भी (जिसमें झुकाव होने की ओर अधिक है)। इन सभी में कुछ न कुछ मानकर चले हैं। वास्तव में यथासम्भव तटस्थ अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण होना चाहिए यानी कुछ भी मानकर न चलें बल्कि उनका संगीत पक्ष क्या था और आज के साथ उसका क्या सम्बन्ध है यह देखें, यह अधिक अच्छा होगा। किसी भी पक्ष को सिद्ध करने के लिये क्या और कैसे किया जाय यानी किसी प्रक्रिया या पद्धति पर विचार करना ज़रूरी है जिसके आधार पर कार्य किया जा सके। प्रस्तुत लेख को इस दिशा में मोड़ने का कुछ प्रयत्न किया गया है।

मूल मुद्दा यह है कि सूरदास महाकवि के रूप में तो प्रतिष्ठित हैं ही किन्तु वे संगीतज्ञ भी थे, यह मान्यता है। इसका परीक्षण करना और प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करना अपेक्षित है, इसे मानकर नहीं चल सकते। किन्तु वे संगीतज्ञ थे इस ओर झुकाव रखकर चलने में कोई हानि नहीं क्योंकि आस्था आगे बढ़ने का मार्ग और प्रेरणा प्रदान करती है।

विभिन्न विषयों के विशेष अध्ययन की दिशा में २०वीं शताब्दी में जब से व्यक्तियों के कार्यों के मूल्यांकन यानी विश्लेषणात्मक अध्ययन की शुरुआत हुई तब से महाकवि सूरदास के काव्य का साहित्य पक्ष तो अध्ययन और विश्लेषण का विषय बना लेकिन उनका संगीत-पक्ष प्रायः उपेक्षित ही रहा। कारण अनेक हैं। साहित्य में, विद्याओं तथा शास्त्रों में और संगीत के अतिरिक्त अन्य कलाओं में तो अध्ययन को सम्मान दिया जाता रहा है लेकिन संगीत के क्षेत्र में उसे उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा जाता रहा और क्रिया की अपेक्षा अध्ययन को निम्न समझा जाता रहा। एक कारण यह भी है कि किसी काव्य के संगीत पक्ष पर कार्य करने के लिये साहित्य व साहित्यशास्त्र से परिचय तथा संगीत के क्रियापक्ष की दृढ़ भित्ति के साथ-साथ संगीत के सिद्धान्तों यानी शास्त्र का अच्छा ज्ञान भी अपेक्षित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत भाषा से भी परिचित होना चाहिए। संगीत के क्षेत्र में ऐसे व्यक्ति उपलब्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं थे। फलतः साहित्य के अध्येताओं द्वारा ही संगीत-पक्ष पर भी कार्य हुआ। इनमें तीन नामों और उनकी पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है—१. डॉ० उषा गुप्त की 'हिन्दी के कृष्णभक्ति-कालीन साहित्य में संगीत' २. डॉ० सावित्री सिन्हा की 'व्रजभाषा के कृष्ण-भक्ति काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प' और ३. डॉ० हेम भटनागर की 'शृंगार-युग में संगीतकाव्य'। इन पुस्तकों की समालोचना करने का यहाँ अवसर नहीं है फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्य के संगीत-पक्ष के अध्ययन की शुरुआत करने में इनका योगदान अवश्य है।

सूरकाव्य के संगीत पक्ष पर अनुसंधान करने की दृष्टि से निम्न मूलभूत सिद्धान्तों का उल्लेख आवश्यक है—

१. अनुसंधान की पहली शर्त शंका और जिज्ञासा है। अनुसंधानकर्ता एक सम्भावना यानी hypothesis को लेकर तो चलता है किन्तु मान्यताओं को शुरू में ही नकारता है क्योंकि शंका और जिज्ञासा की डोर के सहारे ही वह आगे बढ़ सकता है।

२. सच्चे अन्वेषक की दृष्टि, प्रयत्न और लक्ष्य किसी पक्ष के सकारात्मक यानी positive रूप को सिद्ध करना होता है, नकारात्मक यानी negative पक्ष को नहीं।

३. श्रद्धा के पात्र में सभी गुण अधिष्ठित कर देना भारतीय जनमानस की विशेषता है जिसे अन्धश्रद्धा भी कह सकते हैं। नीरक्षीरविवेक इसकी अनुमति नहीं देता। तथ्यों पर आधारित होकर ही गुण की सत्ता मानी जा सकती है।

४. अनुसन्धान की एक अनिवार्य शर्त यह है कि विषय से सम्बन्धित मूल सामग्री यानी source material के आधार पर ही यथासम्भव कार्य किया जाए 'अ-मूल' यानी secondary material को आधार रूप में तभी लिया जाय जब मूल सामग्री उपलब्ध न हो। संगीत में यह पद्धति अभी अपनी शैशवावस्था में है।

५. कोई चित्रकार यदि किसी वाद्य का चित्र बना दे तो वह संगीतज्ञ नहीं बन जाता अथवा कोई संगीतज्ञ अपनी रचना में चित्रकला के शब्दों का प्रयोग कर दे तो वह चित्रकार नहीं कहलाता। उसी प्रकार कोई कवि संगीत के कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर देने मात्र से संगीतशास्त्र का ज्ञाता नहीं हो जाता और न ही राग नामों का प्रयोग कर देने मात्र से संगीतज्ञ कहला सकता है। इसलिए सूर ने जिन संगीत-सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग किया है उन्हें अनेक दृष्टियों

१८

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से परख कर यह सिद्ध करना होगा कि वह उनके शास्त्रज्ञान का सूचक है या नहीं। यह भी विचारणीय है कि शास्त्र यानी क्या ? क्रियाओं, उनसे सम्बन्धित शब्दों, परिभाषाओं आदि का इच्छानुसार प्रयोग या अर्थ कर देना शास्त्रज्ञान का सूचक नहीं है।

सूर का संगीत में निष्णात होना सिद्ध न हो तो भी उनके भक्तकवि स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता और न उनके काव्य के पठन या श्रवण से प्राप्त होने वाले आनन्द में कोई कमी आती है। किन्तु यदि उनका शास्त्रज्ञान, संगीत-क्रिया की परम्परा से परिचय और विधिवत् संगीत शिक्षा भी सिद्ध हो सके तो वे महाकवि ही नहीं 'नायक' और संगीतज्ञ भी कहे जा सकेंगे। इस पक्ष को उजागर करने की दृष्टि से अनुसन्धान होना चाहिए।

प्रस्तुत पंक्तियों का प्रयोजन इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए कुछ दिशासूचन करना मात्र है, किन्हीं मान्यताओं की पुष्टि या खण्डन अथवा नवीन तथ्यों की स्थापना करना नहीं।

काव्य के क्षेत्र में कवि को जो स्थान दिया जाता है वही स्थान संगीत में गायक का है। किन्तु यदि किसी में दोनों का समावेश हो जाए तो वह इन दोनों की अपेक्षा निश्चित रूप से श्रेष्ठ कहलायेगा। संगीत के क्षेत्र में इस प्रतिभा को 'वाग्गेयकार' के रूप में सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

वाग्गेयकार में कवि, गायक, शास्त्रज्ञ, रचनाकार, सफल प्रस्तुतकर्ता आदि सभी के गुणों का समावेश कहा गया है। कवि के लिए आवश्यक माने गये गुण छन्दोज्ञान, व्याकरण, अलंकार-ज्ञान, शब्दसंग्रह, रीतिज्ञान, भाषाज्ञान, उद्भावना की शक्ति यानी प्रतिभा, भावाभिव्यक्ति का सामर्थ्य, रसभावों का ज्ञान आदि का होना तो अनिवार्य है ही, साथ ही संगीत के शास्त्रज्ञ, रचनाकार और प्रस्तुतकर्ता के गुण भी वाग्गेयकार में अपेक्षित हैं। सफल कलाकार की दृष्टि से वाक्पटुता, राग-द्वेष का त्याग, सहृदयता आदि गुणों का समावेश भी होना चाहिये। इसीलिये वाग्गेयकार को कवि, नायक, गायक, शास्त्रज्ञ आदि से ऊँचा स्थान दिया गया है।

वाग्गेयकार के जो विभिन्न वर्ग संगीतरत्नाकर में बनाए गये हैं उनमें वाक् और गेय तत्त्वों की प्रमुखता के आधार पर दो मुख्य भेद किए गये है। प्रथम वर्ग में उत्तम कोटि की शब्द रचना किन्तु गेय का उत्कर्ष प्रधान है। दूसरे वर्ग में वाक् की प्रमुखता है लेकिन गेय तत्त्व वहाँ भी है, भले ही उसका उत्कर्ष काव्य की अपेक्षा अधिक न भी हो। कवि और वाग्गेयकार का क्षेत्र एक दूसरे से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बहुत सटा हुआ है। पद में शब्दार्थ के सौन्दर्य के रहते हुए भी यदि स्वर-लय का आनन्द अधिक हो जाय तो कविता अपनी सीमा लाँघ कर संगीत के क्षेत्र में पहुँच जाती है और यदि वाग्गेयकार की रचना में शब्दार्थ का सौन्दर्य गेय की अपेक्षा अधिक हो जाता है तो वह अपने क्षेत्र से हटकर कवि के क्षेत्र में चला जाता है। इन दोनों की सीमा रेखा सूक्ष्म होने पर भी गेय और वाक् यानी पद के उत्कर्ष के आधार पर ही निर्णय किया जा सकता है कि किसी रचनाकार को कवि कहा जाय या वाग्गेयकार।

किसी रचना में वाक् और गेय में से किसका अधिक उत्कर्ष है इसे परखने के लिए शब्द-रचना और गेय-रूप दोनों का अध्ययन आवश्यक है। गेय रचना में गेय का उत्कर्ष देखना तभी सम्भव है जब रचनाकार द्वारा निर्मित गेयांश ठीक उसी रूप में मौखिक परम्परा में अथवा लिखित रूप में प्राप्त हो। वस्तु-स्थिति यह है कि गेय रचनाओं का शब्दांश तो प्राप्त होता है किन्तु स्वर-ताल योजना प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं होती। लिखित रूप में तो प्राप्त होती ही नहीं, गायक वादकों की मौखिक परम्परा में रचनाओं का जो रूप प्राप्त है उसे निर्विवाद रूप से मूल नहीं कहा जा सकता।

कवि और वाग्गेयकार के अतिरिक्त एक वर्ग कवि-वाग्गेयकार का भी हो सकता है जिसमें वे रचनाकार रखे जा सकते हैं जिनको रचनाएँ गाये बिना स्वतन्त्र रूप से सुपाठ्य भी हैं और जिनके अन्तःसाक्ष्यों और गेयांश के लिखित या मौखिक क्रियात्मक स्वरूप के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनका गेय भी आनन्ददायक है, अर्थात् जिनकी रचनाओं में वाक् और गेय का समान उत्कर्ष है। नायक बैजू, गोपाल, तानसेन जैसे संगीत जगत् के प्रतिष्ठित व उत्तम कोटि के वाग्गेयकार इसी वर्ग के रचनाकार हैं। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि वाक् और गेय दोनों के समान उत्कर्ष का अनुभव एक साथ नहीं किया जा सकता। वाक् के द्वारा आनन्दप्राप्ति के क्षणों में गेय गौण हो जाता है और गेय के द्वारा होने वाली आनन्दानुभूति की स्थिति में शब्दार्थ गौण हो जाता है। किसी रचना को पढ़ने पर या स्वर-बद्ध रूप में पाठ करने पर ही उसकी छन्द, अलंकार-योजना तथा शब्दार्थ का आनन्द प्राप्त होता है। क्योंकि इस स्थिति में वक्ता और श्रोता दोनों का अवधान शब्द और उसके अर्थ में होता है, शब्दों का उच्चारण स्पष्ट और सुसम्बद्ध रूप में होता है और शब्दों से अर्थग्रहण के लिए अपेक्षित अन्विति बनी रहती है। लेकिन उसी रचना को गाने पर भरतादि की भाषा में वर्णों का 'कर्षण' होने से शब्दों में वह निकटता और अन्विति नहीं रहती जो अर्थ-ग्रहण के लिए आवश्यक है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रयोक्ता और श्रोता का ध्यान शब्द और उसके अर्थ पर नहीं बल्कि स्वरताल-योजना पर केन्द्रित रहता है इसलिए पद गौण हो जाता है और गेय रूप ही आनन्द का हेतु बन जाता है। इसलिए समान उत्कर्ष का अर्थ यह है कि स्वतन्त्र स्थिति में यानी अलग-अलग जिस रचना के वाक् और गेय दोनों समान रूप से आनन्ददायक हों।

सूरकाव्य का संगीत-पक्ष विस्तृत अनुसन्धान का विषय है। सूर का पद-साहित्य तो उपलब्ध है किन्तु गेयांश लिखित रूप में प्राप्त नहीं; यद्यपि उनके उच्चकोटि का गायक होने के उल्लेख यत्र-तत्र मिलते हैं। सूरसागर में पदों के साथ रागों का निर्देश तो है किन्तु तालों का नहीं। ऐसी मान्यता अवश्य है कि वर्तमान पुष्टिमार्गी मन्दिरों के संगीत में अष्टछाप का मूल संगीत सुरक्षित है। यद्यपि ५०० वर्षों के लम्बे समय में मौखिक परम्परा के द्वारा आने के कारण इस संगीत के मूल रूप में परिवर्तन होने की सम्भावना है किन्तु कुछ ऐसे कारण भी हैं जो यह सोचने के लिए आधार देते हैं कि सम्भवतः परिवर्तन न हुए हों अथवा बहुत कम हुए हों। वर्तमान शास्त्रीय संगीत में पिछले ५०० वर्षों में इतना उलट फेर हुआ है कि उस अनुभव के कारण यह विश्वास नहीं हो पाता कि कोई संगीत इतने लम्बे समय में अपरिवर्तित रह सकता है। जो संगीत दरबारों और राज्याश्रयों में पला, विकसित हुआ उसमें अनेक कारणों से परिवर्तन होते रहे। भारत के विशाल भूखण्ड में प्रचलित होने से, स्थानीय रुचि भेद से और अन्य कारणों से उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक था। शास्त्र-ग्रन्थों से तथा क्रिया की परम्परा से भी यह प्रमाणित है कि उसमें परिवर्तन हुए। पुष्टिमार्गी संगीत की स्थिति कुछ भिन्न थी। उसमें लौकिक उपलब्धि अथवा आश्रयदाताओं की प्रसन्नता की दृष्टि से परिवर्तन की आवश्यकता नहीं रही, भावदशा में कोई नई स्वर कल्पना हो गई हो यह सम्भव है। वहाँ शिक्षा परम्परागत रूप में प्राप्त होती थी और उसमें परिवर्तन की छूट नहीं थी। इसलिए इस संगीत में परिवर्तन न हुए हों या बहुत कम हुए हों इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

इन कारणों से इन मन्दिरों के संगीत को आधार मानकर यानी यह hypothesis लेकर सूरकाव्य के संगीत पक्ष के अध्ययन की शुरूआत की जा सकती है कि इस संगीत में सूर के संगीत का मूल रूप हो सकता है। यह संगीत व्रज, राजस्थान और गुजरात में है। अनुसन्धान के लिये उन प्रदेशों के या उन मन्दिरों में सुरक्षित साहित्य तथा अन्य लिखित सामग्री का अध्ययन भी अपेक्षित होगा क्योंकि लिखित रूप में वही आधार या सहायक सामग्री हो सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसलिए राजस्थानी, व्रज और गुजराती—इन तीनों भाषाओं से परिचय होना चाहिए। वर्तमान रागाधारित संगीत के दृष्टिकोण से देखने के लिये आज के इस संगीत का शिक्षण और अभ्यास भी अपेक्षित होगा। तत्कालीन शास्त्रगत रूप के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करने के लिए संस्कृत ज्ञान तो आवश्यक होगा ही।

सूर के पदों के आधार पर उनके संगीत पक्ष के अध्ययन का कुछ दिशा-सूचन यहाँ किया गया है। यह लेख नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित सम्पूर्ण सूरसागर के एक पुराने संस्करण पर ही आधारित है। कुछ कार्य संगीत के शास्त्रग्रन्थों के आधार पर किया गया है लेकिन जो ग्रन्थ प्राप्त हैं उनमें अनेक अपूर्ण और खण्डित हैं। कुछ व्यावसायिक प्रकाशकों के संस्करण इतनी अशुद्धियों से भरे हैं कि भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। एक ग्रन्थ के श्लोक ज्यों के त्यों किसी अन्य ग्रन्थ में दिखाई देते हैं तथा काल निर्णय न होने के कारण यह समस्या उत्पन्न होती है कि उनमें से किसे प्रथम माना जाए। राग-लक्षणों में या तो स्वररूप प्राप्त ही नहीं होते या अत्यन्त संक्षिप्त हैं। राग-लक्षणों में प्रयुक्त स्वर-संज्ञाओं को समझने के लिये उन-उन ग्रन्थों के स्वरप्रकरणों का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थकारों ने भिन्न स्वरसंज्ञाओं का प्रयोग किया है।

सूर के पदों में किन-किन रागों का प्रयोग कितने पदों में हुआ है अर्थात् मोटे रूप में किन रागों का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है यह जानने के लिये हमने डॉ० उषा गुप्त की पुस्तक में दी गयी संख्या को आधार मान लिया है।

सूरसागर में उपलब्ध संगीत-सम्बन्धी[1] सामग्री चार प्रकार की है—

१. राग-सम्बन्धी, २. वाद्य-सम्बन्धी, ३. संगीतक्रिया-सम्बन्धी शब्द और ४. शास्त्रीय अर्थात् पारिभाषिक शब्द।

रागों का उल्लेख दो रूपों में प्राप्त है—१. पदों के ऊपर उल्लिखित रागों के नाम जो उन पदों को उन रागों में गाये जाने के सूचक हैं और २. पदों के अन्तर्गत आये रागों के नाम। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत हमें लगभग १०० नाम प्राप्त हुए जिनकी तालिका इस प्रकार है—

१. बिलावल	५. गौरी	९. कान्हरौ
२. सारंग	६. नट	१०. कान्हरा
३. धनाश्री	७. रामकली	११. बिहागरो
४. मलार	८. कान्हडा	१२. बिहागडो

१. यहाँ केवल गायन-वादन-सम्बन्धी सामग्री का ही उल्लेख किया गया है, नृत्य का नहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१३. केदारो
१४. केदारौ
१५. सोरठ
१६. मारू
१७. कल्यान
१८. आसावरी
१९. जैतश्री
२०. तोडी
२१. टोडी
२२. गुंडमलार
२३. गौडमलार
२४. सूहौ
२५. सूही
२६. सूहा
२७. गूजरी
२८. देवगन्धार
२९. भैरव
३०. भैरो
३१. नटनारायण
३२. काफी
३३. ललित
३४. पूर्वी
३५. पूरबी
३६. सूहाबिलावल
३७. ईमन
३८. अडाना
३९. सुघरइ
४०. वसन्त
४१. विभास
४२. केदार
४३. श्रीहठी
४४. बिहागड़ा
४५. हमीर
४६. गुंड
४७. परज
४८. भूपाली
४९. भोपाला
५०. भोपाल
५१. नारायनी
५२. सोरठि
५३. सोरठी
५४. देवसाख
५५. शंकराभरण
५६. होरी
५७. भैरवी
५८. गौड
५९. मेघमलार
६०. बिहाग
६१. अहीरी
६२. जैजैवन्ती
६३. श्री
६४. राज्ञीमलार
६५. अलहिया
६६. देसाख
६७. कर्णाट
६८. कर्नाटी
६९. गन्धारी
७०. गन्धार
७१. गान्धार
७२. कुरंग
७३. संकीर्ण
७४. घमार
७५. वैराटी
७६. देशकार
७७. सानुत
७८. रामगिरि
७९. पूरिया
८०. वसन्ती
८१. मालकौंस
८२. राज्ञीहठीली
८३. झिंझोटी
८४. राज्ञी श्रीहठी
८५. जंगला
८६. मुल्तानीघनाश्री
८७. खम्बावती
८८. राज्ञी रामगिरि
८९. मुल्तानी
९०. अलहियाबिलावल
९१. कामोद
९२. श्रीमलार
९३. नायकी
९४. मलारकामोद
९५. विलावलरामकली
९६. गुनकली
९७. गुनसारंग
९८. देवगिरी
९९. षटपदी
१००. परासी

इन नामों को देखने से कुछ बातें सामने आती हैं जो इस प्रकार हैं :—

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१. अनेक नामों में बहुत साम्य है। जैसे—कान्हडा-कान्हरौ-कान्हरा, बिहागरो-बिहागडो-बिहागडा, भोपाल-भोपाला-भूपाली, सोरठ-सोरठी-सोरठि, गन्धार-गन्धारी-गान्धार, सूहौ-सूहा-सूही आदि। यह अनुसन्धान का विषय है कि ये भिन्न-भिन्न रागरूप थे अथवा एक ही राग के अलग-अलग नाम हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि शास्त्रग्रन्थों में ये नाम किसी न किसी रूप में उल्लिखित अवश्य हैं।

२. कुछ नाम ऐसे हैं जो प्रायः शास्त्रग्रन्थों में देखने को नहीं मिले। जैसे—श्रीहठी, राझीमलार, संकीर्ण, सानुत, राझी हठीली, राझी रामगिरि, गुंडमलार, राझी श्रीहठी।

३. कुछ ऐसे नाम हैं जो गीत के प्रकार या गायन शैली के रूप में तो सुपरिचित हैं किन्तु रागनाम नहीं जान पड़ते। जैसे—होरी, धमार, पट्पदी। सम्भव है उस काल में इनका सम्बन्ध किसी विशेष राग से रहा हो और इस कारण उस धुन में गाये जाने वाले गीत-विशेष को भी उसी धुन के नाम से पहचाना जाने लगा हो।

४. कुछ नाम ऐसे हैं जो एकाध ग्रन्थ में ही मिले। जैसे—गुंड 'रागतरंगिणी' में ही मिला तथा वैराटी 'संगीतदर्पण' में है। वराटी और वराडी संज्ञाएँ तो अनेक ग्रन्थों में हैं किन्तु वैराटी नहीं जो पूर्वोक्त नामों का परिवर्तित रूप हो सकता है।

५. सूरमल्हार के नाम से प्रचलित एक राग को आज सूरदास द्वारा रचित माना जाता है किन्तु यह नाम सूर-काव्य में प्राप्त नहीं होता और १८वीं शताब्दी तक के शास्त्रग्रन्थों में भी प्रायः नहीं मिला। केवल 'राधागोविन्दसंगीतसार' में यह नाम प्राप्त हुआ जो १८वीं शताब्दी के अन्त और १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ का ग्रन्थ है।

६ वृन्दावनी के नाम से आज अत्यन्त प्रचलित सारंग प्रकार का उल्लेख सूर-काव्य में नहीं मिलता जिसके बारे में यह मान्यता है कि यह वृन्दावन में विशेष प्रचलित था। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि वृन्दावनी नाम से एक राग का उल्लेख सारंग संस्थान के अन्तर्गत लोचन ने किया है। इसके स्वररूप वाला अंश रागतरंगिणी में तो खंडित है किन्तु एक अन्य ग्रन्थ में उल्लिखित है जिससे मालूम होता है कि इसमें वही स्वर हैं जो आज के वृन्दावनी सारंग में हैं।

सूरसागर में पदों के अन्तर्गत अपेक्षाकृत बहुत कम नाम मिलते हैं; जैसे—गौडी, सारंग, नटनारायन, गौरी, मलार, नट, पूरबी, ललित। किन्तु एक अन्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पद जो डॉ० सावित्री सिन्हा ने सूरसागर से उद्धृत किया है। (ललिता ललित बजाय रिझावत), में ३६ रागों के नाम इस प्रकार हैं—

१. ललित	२. पंचम	३. षट
४. मालकोस	५. हिण्डोल	६. मेघ
७. मालव	८. सारंग	९. नट
१०. सावंत	११. भूपाली	१२. ईमन
१३. कान्हरौ	१४. अडान	१५. नायकी
१६. केदारौ	१७. सोरठ	१८. गौडमलार
१९. भैरव	२०. विभास	२१. बेलावल
२२. देवगिरि	२३. देसाक	२४. देव
२५. गौरी	२६. जैतश्री	२७. पूर्वी
२८. टोडी	२९. आसावरी	३०. रामकली
३१. गुनकली	३२. सुघराई	३३. जैजैवन्ती
३४. सूआ	३५. सिंधुवार	३६. प्रभाती

पहले दी गयी १०० रागों की सूची तथा इस सूची पर दृष्टिपात करने से मालूम होता है कि इस सूची में कुछ नाम ऐसे हैं जो प्रथम सूची में नहीं हैं। जैसे—पंचम, षट, हिन्दोल, मालव, सावंत, सिंधुवार, प्रभाती। संभव है कि ये ३६ नाम राग-रागिणी परम्परा से लिये गये हों। जिन भिन्न-भिन्न रागों के नाम इसमें आए हैं उसके वे अंश जिनमें रागनाम हैं आज भी उन्हीं रागों में गाये जाते हैं। यदि ऐसा मूल पदों में भी रहा हो तो यह कहा जा सकता है कि सूरकाव्य में पंचम आदि उपर्युक्त ७ राग भी प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार सूरकाव्य के रागों की संख्या १०७ हो जाती है। पदों के साथ दिए गये रागनामों के सम्बन्ध में यह शंका हो सकती है कि क्या ये सभी राग सूरदास द्वारा प्रयुक्त हुए होंगे? क्या सूर के द्वारा वे पद उन्हीं रागों में गाये गये होंगे जो प्रत्येक पद के साथ दिए गये आज प्राप्त होते हैं? अथवा पदों के संग्रहकर्ताओं द्वारा जोड़ दिए गये होंगे? अथवा पाण्डुलिपिकर्ताओं द्वारा जुड़ गये होंगे? ये सब अनुसन्धान की अपेक्षा रखते हैं।

इन रागनामों के अतिरिक्त 'रागरागिनी' और 'छहो राग छत्तीसों रागिनि'—इस प्रकार रागरागिणी परम्परा का भी उल्लेख मिलता है। 'राग-रागिणी' और '६ राग ३६ रागिनी'—ये शब्द-समूह दो संकेतों के सूचक हो सकते हैं—१. ब्रज की पदगान शैली पर सामान्य रूप से राग-रागिणी परम्परा का प्रभाव रहा हो अथवा २. पदों का गान विशेष रूप से ६ राग ३६ रागिणियों में किया जाता हो। सूरसागर के पदों को जिन रागों में गाये जाने का सूचन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उन पदों के साथ उल्लिखित रागों में होता है उनमें अनेक रागिणियों के नाम तो हैं किन्तु विभिन्न मतों के प्रमुख ६-६ रागों में से कई नाम सूरसागर के रागों में नहीं हैं। जैसे—पंचम, कौशिक, हिन्दोल, दीपक, नाट। किसी भी एक मत के छहों पुरुष-रागों के नाम उसमें प्राप्त नहीं होते। इससे सरसरी तौर पर यह कहा जा सकता है कि सम्भव है किसी एक मत के ६ राग और ३६ रागिणी से सूरदास का निकट सम्बन्ध न रहा हो।

वाद्यों के लगभग ४३ नाम सूरसागर में प्राप्त हैं। मोटे रूप में इनमें से ८ तत वर्ग में, १६ अवनद्ध वर्ग में, ५ घन वर्ग में और ८ सुषिर वर्ग में रखे जा सकते हैं :—

तत	अवनद्ध	घन	सुषिर
१. बीना	१. मृदंग	१. ताल	१. बेनु
२. रबाब	२. पखावज	२. झाँझ	२. संख
३. बीन	३. आउज	३. घुंघरू	३. सृंग
४. सुरमण्डल	४. भेरि	४. मुहचंग	४. मुरली
५. किन्नरी	५. पटह	५. मंजीरा	५. बाँसुरी
६. तुंबुर	६. निसान		६. महुवरि
७. जंत्र	७. मुरज		७. गोमुख
८. तार	८. उपंग		८. सहनाई
	९. डफ		
	१०. चंग		
	११. झालरी		
	१२. दुन्दुभि		
	१३. ढोल		
	१४. रुंज		
	१५. डिमडिम		
	१६. झील		

वर्गरहित वाद्य-नाम

१. विषान
२. अमृतकुंडली
३. राइ
४. गिरगिरी
५. झिमझिमी
६. मन्दिर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इन वाद्यों के सम्बन्ध में कुछ उल्लेखनीय बातें इस प्रकार हैं :—

१. सबसे अधिक अवनद्ध वर्ग के वाद्यों के नाम सूरसागर में प्राप्त होते हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं। जैसे—तत्कालीन पुष्टिमार्गी मन्दिरों में इस वर्ग के वाद्यों का सबसे अधिक प्रयोग, लोक में इनका अधिक प्रचलन, सूर का इन वाद्यों के प्रति अधिक आकर्षण अथवा संयोगवश इन वाद्यों के नाम अधिक आये हों। यों आज भी लोक में अवनद्ध वर्ग के वाद्यों की संख्या सबसे ज़्यादा है।

२. कुछ नाम ऐसे हैं जो प्रायः शास्त्रग्रन्थों में प्राप्त नहीं होते। ऊपर 'वर्गरहित वाद्य नाम' शीर्षक के अन्तर्गत दिये गये वाद्य ऐसे ही हैं। इनके बारे में निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं कि ये किस वर्ग के वाद्य हैं। किन्तु विषान शृंग नामक वाद्य से संबन्धित हो सकता है जो सुषिर वर्ग में है। गिरगिरी, झिमझिमी नामों में घर्षण या झमझम की ध्वनि का कुछ आभास होता है। इस आधार पर ये घन वर्ग के हो सकते हैं।

३. सूरकाव्य में झालरी और भेरी—ये दो ऐसे नाम हैं जो शास्त्रग्रन्थों में दो-दो वर्गों में वर्णित हैं। झालर नाम से एक अवनद्ध में और दूसरा घन में—यों दो भिन्न-भिन्न वाद्य कहे गये हैं। इसी प्रकार भेरी भी सुषिर और अवनद्ध—इन दो भिन्न वर्गों में ग्रन्थों में वर्णित है। सूर के झालरी और भेरी किस वर्ग के हैं यह खोज का विषय है।

४. सूर का मन्दिर नामक वाद्य इस नाम से ग्रन्थों में उल्लिखित नहीं है। किन्तु पद साहित्य का 'मंदिलरा' नामक वाद्य अवनद्ध वर्ग का रहा होगा, ऐसा लगता है। संभव है कि मंदिर और मंदिलरा एक ही वाद्य हो। मंजीरा नामक वाद्य का उल्लेख काव्य में 'मंजीर' और 'मंजिर' के रूप में होता रहा है जो घनवाद्य है। संभव है कि मंजिर का भाषागत परिवर्तित रूप मंदिर हो गया हो या पाण्डुलिपि को पढ़ते समय ऐसा पढ़ लिया गया हो। यों 'मर्दल' नाम का एक अवनद्ध वाद्य काफ़ी प्राचीन ग्रन्थों में है। सम्भव है मर्दल→मद्दल→मंदर यों अपभ्रंश रूप मंदर बना हो। 'रे मंदर बाजो'—इस गेय पद में मंदर के 'तक धिलांग', 'धा', 'धुमकिट', 'गदगिन' आदि बोल अवनद्ध वाद्यों के ही हैं।

संगीत-क्रिया सम्बन्धी शब्द वे हैं जिनका प्रयोग गायकों द्वारा किया जाता है अथवा जिनका सीधा सम्बन्ध संगीत के क्रियापक्ष से है। इस प्रकार के मुख्य रूप से कुछ ही नाम सूरसागर में प्राप्त हुए—सप्तताल, झपतार, उपज, सरगम, तान, आलाप, बन्धान। इनके बारे में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं :—

१. 'सप्तताल' और 'झपतार' (झपताल) ताल सम्बन्धी शब्द हैं। 'सप्तताल' की धारणा १६वीं शताब्दी से प्राप्त होने वाले अनेक ग्रन्थों में है किन्तु सूलादि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'सप्ततालं' के रूप में इनका विशेष प्रकार का विकास और स्वरूप दक्षिण के ग्रन्थों में दिखाई देता है। कर्णाटक संगीत में आज भी ये प्रचलित हैं। उत्तर के संगीत से सम्बद्ध माने जाने वाले ग्रन्थ 'संगीतपारिजात' में भी सप्ततालों का मूल रूप है जो सूर के लगभग ७५-१०० साल बाद का ग्रन्थ है। किन्तु उत्तर में लक्ष्य में केवल सात तालों का या सूलादि सप्ततालों का प्रयोग होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इस पृष्ठभूमि में यह भी अनुसंधान का विषय हो सकता है कि क्या सूरकाल में ब्रज व समीपवर्ती क्षेत्र में सप्तताळ के प्रयोग की परम्परा या प्रचलन था अथवा सूर द्वारा इस शब्द का प्रयोग संयोगवश हुआ है।

२. उत्तर में प्रयुक्त तालों में से एक नाम 'झपतार' यानी झपताल प्राप्त होता है। सूर के पदों के साथ प्रयोज्य रागों के नाम तो उल्लिखित हैं लेकिन तालों के नाम नहीं। इसलिए अन्तःसाक्ष्य के आधार पर सूर के तालपक्ष पर प्रकाश डालना सम्भव नहीं है। सूर के वाग्गेयकारत्व पर विचार करने की दृष्टि से इस पक्ष का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि वाग्गेयकार में ताल-सम्बन्धी अनेक गुणों का समावेश किया गया है।

३. रागाधारित संगीत में स्वर के विस्तार पक्ष से सम्बन्धित शब्द ये हैं—उपज, तान, सरगम, आलाप। तालबद्ध रूप में गीत को गाने के बाद स्वकल्पना के आधार पर गायक जो विस्तार करता है उसे आज 'उपज' शब्द में समेट लिया जाता है। शास्त्र में यह शब्द नहीं मिलता। स्वरों के अलंकारों पर आधारित लयबद्ध तथा द्रुतगति के स्वर संचारों का काम आज 'तान' कहलाता है। यह निश्चित है कि तान का आज जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है वह प्रायः शास्त्रग्रन्थों में नहीं है। दूसरी ओर मौखिक परम्परा में आज भी गायकों द्वारा राग के एक स्वरगुच्छ को तान कहा जाता है। जैसे, म् रि् ग को पूरिया की तान कहा जाता है। इसी प्रकार स्वरों के वाचक स, रि, ग आदि अक्षरों का उच्चारण करते हुए उन्हीं स्वर-ध्वनियों के प्रयोग का काम आज 'सरगम' कहलाता है। प्रायः १५ वीं १६ वीं शताब्दी तक के शास्त्रग्रन्थों में सरगम और तान शब्द उपर्युक्त अर्थ में नहीं मिलते। मौखिक परम्परा पूरी की पूरी ग्रन्थों में नहीं आई अतः सम्भव है कि उसमें ये शब्द रहे हों। स्वर का सारा विस्तार जो पूर्वरचित और निबद्ध न हो वह 'आलाप' अथवा इसके प्रायः समानार्थक शब्द 'आलप्ति' में समाहित था जो शास्त्रीय शब्द था। किन्तु इसके रहते उपज, सरगम, तान आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता था क्योंकि ये सभी 'आलाप' में अन्तर्भूत थे। सम्भव है आलाप-सम्बन्धी ये संज्ञाएँ भी मौखिक परम्परा में अपने-अपने प्रदेशों में रही हों।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४. 'बंधान' के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं। यह शब्द बँधने से सम्बन्धित जान पड़ता है।

संगीत के कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी सूर के पदों में हुआ है। जैसे—अतीत, अनागत, गत, जति, सप्तसुर, स्रुति, तीनिग्राम, इकईस मूर्च्छना, कोटि उनचास तान, छन्द ध्रुवनि। अतीत और अनागत ताल के 'ग्रह' के प्रकार हैं। काल के नियमित रूप को 'गति' कहा जाता है। 'यति' का ही व्रजभाषा रूप 'जति' है। ताल के सन्दर्भ में तीनों लयों की विभिन्न क्रमों से योजना को यति कहा गया है। सप्तसुर से तो सभी परिचित हैं। सभी ग्रन्थों में शुद्ध स्वरों की संख्या सात ही कही गयी है किन्तु ग्रन्थकारों के शुद्ध स्वर भिन्न-भिन्न रहे हैं। सूर के सप्तस्वर कौन से रहे होंगे यह अनुसन्धान का विषय है।

'स्रुति' 'श्रुति' है जो स्वर का घटक है। षड्जग्राम, मध्यमग्राम और गान्धार ग्राम—ये तीन ग्राम प्रसिद्ध हैं। इन तीनों ग्रामों की २१ शुद्ध मूर्च्छनाएँ होती हैं। नाट्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले गेय छन्दों को भरत ने 'ध्रुवा' कहा है। सम्भव है कि सूरदास का 'छन्द ध्रुवनि' इन ध्रुवा छन्दों का सूचक हो। 'कोटि उनचास तान' या 'उनचास कोटि तान' का प्रयोग काव्य में बहुलता से होता रहता है। इनमें 'कोटि' शब्द के दो शास्त्रसम्मत अर्थ सम्भव हैं—करोड़ और कूट। शास्त्रग्रन्थों में कूटतानें कही गई हैं जिनकी संख्या ५०४० होती है। शुद्ध तानों में षड्जग्राम और मध्यमग्राम की षाडव तानें कुल मिला कर उनंचास होती है। सम्भव है कि उनंचास की संख्या और 'कूटतान' में से 'कूट' शब्द का किसी प्रकार संयोग हो गया और 'उनचास कोटि तान' प्रचलित हो गया। अथवा कोटि शब्द असंख्य—इस सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो। मध्य-युग के ग्रन्थों में कूटतानों की गणिताधारित संख्या एक विशेष विधि से लाखों तक पहुँचाई गई है।

क्रिया-सम्बन्धी और पारिभाषिक शब्दों पर ध्यान देने से निम्न बिन्दु ध्यान में आते हैं—

१. क्रिया-सम्बन्धी शब्दों में कोई विशेष उल्लेखनीय शब्द नहीं है। वाद्य-शैली से सम्बन्धित शब्द तो शायद ही कोई मिले।

२. 'धातु' और 'मातु' जैसे शब्द जो गीत के गेय और पद पक्ष के लिए लोक में प्रचलित थे वे भी प्राप्त नहीं होते जबकि सूर के पूर्ववर्ती अथवा सम-कालीन बख्शू ने इनका बार-बार प्रयोग किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

३. ताल-सम्बन्धी ऐसे कोई संकेत नहीं हैं जिनसे सूर के ताल सम्बन्धी ज्ञान का परिचय मिल सके।

४. पारिभाषिक शब्दों का जिस रूप में प्रयोग हुआ है वह इनकी शास्त्रीय धारणा के ज्ञान का सूचक नहीं है क्योंकि तीन ग्राम, इकईस मूर्च्छना और ध्रुवाछन्द का लक्ष्यगत संगीत में शास्त्रोक्त विधि से कोई स्थान नहीं रह गया था, यह शास्त्रग्रन्थों और क्रिया परम्परा से प्रमाणित है। फिर भी ग्रन्थों में इनकी चर्चा होती रही और पदों में ये शब्द आते रहे। यह परम्परा-निर्वाह का अथवा शाब्दिक परिचय मात्र का सूचक प्रतीत होता है। 'उनचास कोटि तान' इसका प्रमाण है।

सूरसागर के पदों में प्रयुक्त रागों में से हमने ऐसे १३ नामों को चुना जिसके बारे में शास्त्रीय ग्रन्थों में सामग्री प्राप्त हो सकी। इनके नाम इस प्रकार हैं—बिलावल, सारंग, धनाश्री, मलार, गौरी, कान्हड़ा-कान्हरौ अथवा कान्हरा, बिहागरो अथवा बिहागड़ो, केदारो, सोरठ, मारू, कल्यान, आसावरी तथा भैरव। इन रागों के स्वरूप के ऐतिहासिक सर्वेक्षण के लिए विशुद्ध दाक्षिणात्य ग्रन्थों को छोड़कर निम्न २० ग्रन्थों को आधार रूप में चुना—

१. सुधाकलश का 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार'।
२. 'औमापतम्'।
३. मानसिंह के 'मानकुतूहल' के फ़ारसी रूपान्तर 'रागदर्पण' का हिन्दी अनुवाद।
४. शुभंकर का 'संगीतदामोदर'।
५. अहोबल का 'संगीतपारिजात'।
६. पुण्डरीक विट्ठल कृत 'सद्रागचन्द्रोदय'।
७. ,, ,, 'रागमंजरी'।
८. ,, ,, 'रागमाला'।
९. श्रीकण्ठ की 'रसकौमुदी'।
१०. दामोदर का 'संगीतदर्पण'।
११. नारद का 'चत्वारिंशच्छतरागनिरूपणम्'।
१२. ,, ,, 'संगीतमकरन्द'।
१३. लोचन की 'रागतरंगिणी'।
१४. हृदयनारायण देव का 'हृदयकौतुक'।
१५. ,, ,, 'हृदयप्रकाश'।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१६. श्रीनिवास का 'रागतत्त्वविबोध'।
१७. भावभट्ट का 'अनूपसंगीतरत्नाकर'।
१८. ,, ,, 'अनूपसंगीतविलास'।
१९. ,, ,, 'अनूपसंगीतांकुश'।
२०. प्रतापसिंहदेव का 'राधागोविन्दसंगीतसार'।

इनमें से कुछ ग्रन्थ अपूर्ण और खंडित हैं। कुछ में मूल स्वर नहीं बताये गये इसलिए रागलक्षणों में आये स्वर नामों के आधार पर उनके स्वररूप निश्चित करना संभव नहीं। कुछ में रागों के स्वर नहीं हैं। कहीं मूलस्वर और रागों के स्वर में से कुछ भी नहीं दिये हैं या अत्यन्त अस्पष्ट हैं। दुर्भाग्य से सूर का ठीक समकालीन कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। शुभंकर का संगीतदामोदर लगभग समकालीन है किन्तु उसमें रागलक्षण नहीं हैं। कुछ ग्रन्थों में किसी अन्य ग्रन्थ के श्लोक ज्यों के त्यों ले लिये गये हैं। उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण निम्न ७ ग्रन्थों में ही अपने प्रयत्न को सीमित करना पड़ा—संगीतपारिजात, सद्रागचन्द्रोदय, रसकौमुदी, रागतरंगिणी, हृदयकौतुक, रागतत्त्वविबोध और राधागोविन्दसंगीतसार। इन सभी में आज की अपेक्षा भिन्न स्वर संज्ञाओं का और भिन्न स्वरों का प्रयोग हुआ है। उन्हें आज के स्वरों व स्वरसंज्ञाओं में रूपान्तरित करके रागों के स्वरूप का जो अध्ययन हमने किया उसमें निम्न बातें ज्ञातव्य हैं—

१. शास्त्रग्रन्थों में बिलावल के स्थान पर वेलावली संज्ञा ही प्राप्त है, केवल राधागोविन्दसंगीतसार में बिलावली नाम है। वेलावली में शुद्ध स्वर प्रयुक्त होते थे। अहोबल ने इसके आरोह में म–नि और अवरोह में ग वर्ज्य कहे हैं। सूरसागर में बिलावल, अलहिया और अलहिया बिलावल तीन नाम हैं। आज ये तीनों प्रायः एक ही राग माने जाते हैं।

२. सारंग नाम सभी में है तथा सभी ने स रि म शुद्ध, म तीव्र, प, नि कोमल, नि शुद्ध—इसी क्रम से स्वर कहे हैं। जिन ग्रन्थकारों ने स्वर के प्रस्तार दिये हैं उनमें दोनों म और दोनों नि का प्रयोग एकसाथ हुआ है। आज के शुद्ध सारंग में भी अनेक गायक-वादक इन्हीं स्वरों का प्रयोग करते हैं किन्तु प्रयोग का ढंग कुछ भिन्न है।

३. धनाश्री में लोचन, हृदयनारायण और प्रतापसिंह कोमल रि-ध और तीव्र म का प्रयोग करते हैं, शेष ग्रन्थकार कोमल ग–नि का प्रयोग करते हैं। कोमल ग–नि वाली धनाश्री के मुख्य दो रूप दिखाई देते हैं—१. सम्पूर्ण रूप जिसके आरोह में रि–ध वर्जित हैं और आज के भीमपलासी से मिलता है। २. औडव रूप जिसमें रि–ध पूर्णतः वर्जित हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

४. मल्लार, मल्लारी, मल्हारिका आदि एक दूसरे से साम्य रखने वाले नाम ग्रन्थों में हैं। इन्हीं के पर्याय के रूप में अथवा समानता रखने वाला नाम मेघमल्लार भी है। इनके निम्न रूप प्राप्त होते हैं—

(अ) सब शुद्ध स्वर, ग–नि वर्ज्य, जो वर्तमान दुर्गा के सदृश है। संगीत-पारिजात में इसे मल्लार और मेघ कहा गया है।

(आ) सब शुद्ध स्वर, स-प वर्जित। सद्रागचन्द्रोदय और संगीतदर्पण में यही रूप है। 'स' का वर्जित होना विचित्र लगता है क्योंकि ये सभी ग्रन्थ उस पद्धति के हैं जिसमें षड्ज अवर्ज्य और आधार स्वर माना गया है।

(इ) श्रीकण्ठ की मल्हारिका में रि-ध कोमल तथा मल्लार में कोमल रि और दोनों निषाद हैं।

(ई) हृदयनारायण के मल्लार में दोनों नि और शेष स्वर शुद्ध हैं।

(उ) श्रीनिवास की मल्लारी में रि-ध कोमल, नि वर्ज्य तथा आरोह में ग वर्जित है।

५. गौरी सभी के लिये कोमल रि-ध से युक्त रही है केवल प्रतापसिंह ने तीव्र ग का भी प्रयोग किया है।

६. लोचन ने कानर और कानरा, हृदयनारायण ने कानरो और प्रतापसिंह ने कान्हरो संज्ञा दी है। हृदयनारायण ने इसमें कोमल नि लगाया है, शेष ग्रन्थकारों के स्वर प्राप्त नहीं हैं।

७. बिहागड़ो नाम प्राप्त नहीं है। उसके स्थान पर बिहागरा, बिहागरा या बिहंगड संज्ञा है। इनका स्वरूप ध वर्जित शुद्ध मध्यम वाले षाडव बिहाग जैसा है।

८. केदारी, केदार और केदारो संज्ञा से दो रूप प्राप्त होते हैं—१. शुद्ध स्वरों में रि-ध वर्जित यानी औडव बिहाग जैसा और २. शुद्ध स्वरों में रि-प वर्जित यानी भिन्नषड्ज जैसा।

९. एक स्थान पर यह मिला कि सौराष्ट्री ही सोरठ भी कही जाती है। किन्तु ग्रन्थों में हमें दोनों के स्वरूप बिलकुल भिन्न दिखाई दिये। सोरठी में नि कोमल तथा सौराष्ट्री में रि-ध कोमल हैं।

१०. मारू के कई रूप हैं—ग-नि कोमल, नि कोमल ध वर्जित, आरोह में ध वर्जित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

११. कल्यान या कल्याण के तीन रूप प्राप्त होते हैं—(१) तीव्र म, आरोह में म-नि वर्जित यानी वर्तमान भूपकल्याण अथवा शुद्धकल्याण जैसा, (२) ग-ध कोमल, म तीव्र, (३) ग कोमल, म तीव्र।

१२. आसावरी में सभी ने कोमल रि-ध कहा है, केवल प्रतापसिंह की आसावरी में रे-ग-ध-नी कोमल हैं और वर्तमान कोमल रिषभ आसावरी जैसा रूप है।

१३. भैरव के तीन रूप स्पष्टतः दिखाई देते हैं—१. ध कोमल रि-प वर्जित, २. रि-ध-नि कोमल और ३. रि-ध कोमल।

उपर्युक्त अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सूरकाव्य में प्रयुक्त रागों का स्वरूप भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न रहा है। इन रागों के अध्ययन का एक दूसरा पक्ष यह है कि एक ही रूप भिन्न नामों से भी विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है। सूर के रागों के अध्ययन से सम्बन्धित निम्न पक्ष हो सकते हैं—

१. सूर द्वारा प्रयुक्त रागों का मूल रूप।

२. एक नाम के राग के अनेक रूपों के साथ सूर के उन्हीं नाम वाले रागों का सम्बन्ध।

३. एक रूप वाले किन्तु भिन्न-भिन्न नामों से कहे गये रागों के साथ सूर के रागरूपों का सम्बन्ध।

४. सूरकाव्य के रागों की संज्ञाओं का और उनसे मिलते-जुलते संस्कृत राग नामों का सम्बन्ध, साम्य और भेद।

५. तत्कालीन रागों का वर्तमान लक्ष्यगत रागों से सम्बन्ध।

६. तत्कालीन ग्रन्थोक्त रागों का, सूर के रागों का तथा वर्तमान लक्ष्यगत रागों का सम्बन्ध स्थापित करना।

७. विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित रागों में स्वरूप-भेद का कारण उन-उन प्रदेशों के स्थानीय रूप हो सकते हैं जहाँ उन ग्रन्थों की रचना हुई। क्या सूर के रागों का उनमें से किसी के साथ सम्बन्ध हो सकता है?

८. क्या सूर के राग किसी ऐसी परम्परा से सम्बद्ध हैं जो शास्त्रोक्त सम्प्रदायों या परम्पराओं से भिन्न रही हो? और इस सन्दर्भ में पुष्टिमार्गी रागों का स्वरूप।

९. तत्कालीन रागों का गान-समय निश्चित था या नहीं? यदि था तो उन रागों के आज के रागरूपों के गान-समय से साम्य अथवा भेद।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

१०. सूर का संगीत और शास्त्रीय संगीत—दोनों ही मौखिक परम्परा से प्राप्त हैं। किन्तु यदि सूर-संगीत का मूलरूप पूर्णतः या अधिकांशतः सुरक्षित रहा तो क्यों और दूसरे में बड़े उलट-फेर क्यों हो गये ?

११. सूर के पदों की शब्दरचना शुद्ध व मूलरूप में प्राप्त है किन्तु शास्त्रीय संगीत के पदों की नहीं। ऐसा क्यों ?

संगीत के शास्त्रग्रन्थों अथवा संगीतकारों की परम्परा में सूर का नाम संगीतज्ञ के रूप में नहीं लिया जाता, यह सर्वविदित है जबकि उसी युग के अन्य वाग्येयकारों, जैसे—बैजू, बख्शू, गोपाल आदि का प्राप्त है। इसलिए इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि शायद सूर को संगीत के शास्त्रपक्ष का ज्ञान और रागाधारित संगीत का ज्ञान न हो किन्तु मन्दिर परम्परा के अनुसार पदों के गान में वे कुशल रहे हों। जो कुछ भी हो ये सभी अनुसन्धान के विषय हैं। सम्भव है कि सूरदास के संगीत पक्ष का अध्ययन संगीत के कई क्षेत्रों को उजागर कर सके।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शिल्प में संगीत-विषयक अभिव्यक्ति के अध्ययन की समस्याएँ

कलाएँ सदा से अभिव्यक्ति का माध्यम रही हैं और यह अभिव्यक्ति मुख्यतः दो प्रकार की हो सकती है—१. वस्तुस्थिति के चित्रण की यानी जीवन की घटनाओं, वस्तुओं आदि के अंकन की और २. चित्तवृत्ति यानी भावों के अंकन की। यद्यपि चित्तवृत्ति, जो अमूर्त और बड़ी सूक्ष्म है, को भी जब किसी कला के द्वारा व्यक्त करना हो, तो स्थूल माध्यम में और किसी न किसी आकार के द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है; इसलिये चित्तवृत्ति का आधान भी वस्तुओं या व्यक्तियों में ही करना संभव है। लेकिन प्रधानता-गौणता के आधार पर ऊपर दो भिन्न प्रकार की अभिव्यक्ति कही गई। इनके अलावा वर्तमान सदी में अभिव्यक्ति की एक और प्रवृत्ति दिखाई देती है जिसमें न तो वस्तुस्थिति का चित्रण है और न चित्त-वृत्ति का, बल्कि कला के अपने ही विभिन्न तत्त्वों अथवा माध्यमों की कलात्मक योजना होती है। इसे abstract अर्थात् अमूर्त अभिव्यक्ति कहा जाता है। अभिव्यक्ति के विभिन्न पक्षों पर चर्चा करना हमारे इस लेख की सीमा में नहीं है इसलिये यहाँ इस पर विशेष चर्चा करना संभव नहीं है। लेकिन यह स्पष्ट करना ज़रूरी है कि इस लेख का विषय मुख्यतः पहले प्रकार की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है।

संगीत एक प्रयोगात्मक कला है जिसकी अभिव्यक्ति काल की भित्ति पर क्रमिक रूप में होती है। मानसपटल पर अंकित किसी अनुभव की स्मृति के अलावा संगीत का कोई भी अंश प्रयोग के बाद शेष नहीं रहता। संगीत के तीन अंगों (गायन, वादन और नर्तन) में से गायन और वादन पूरी तरह शब्द (ध्वनि) के आश्रित हैं। शब्द, जो चल है अथवा काल की दृष्टि से जिसमें क्रमिकता होती है, की अनुकृति शिल्प जैसी दृश्यकला में नहीं की जा सकती क्योंकि शिल्प में शब्द का नहीं दृश्य का ही अनुकरण हो सकता है। यह ज़रूर है कि दृश्य के माध्यम से श्रव्य का किसी सीमा तक अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार वास्तविक संगीत से भिन्न लेकिन उससे सम्बन्धित होने के कारण प्रयोगकर्ता की गायन, वादन और नर्तन की मुद्रा के अलावा विभिन्न प्रकार के वाद्य भी शिल्प में अनुकरण के विषय हो सकते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि शिल्प में वास्तविक अनुकरण या अंकन किसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक क्षण का ही होता है, गतिशील स्थिति का नहीं। इसलिये किसी शिल्प कृति के द्वारा गायक, वादक या नर्तक की किसी एक ही स्थिति का दर्शन हो सकता है और इस क्षणिक स्थिति के आधार पर काल की क्रमिकता में होने वाले प्रयोग की समग्रता का अनुमान ही करना पड़ता है जो अत्यन्त कठिन है।

इससे यह स्पष्ट है कि शिल्प के द्वारा वास्तविक संगीत का बोध तो नहीं हो सकता लेकिन संगीत की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित स्थूल सामग्री की अनुकृति शिल्प में पर्याप्त मात्रा में दिखाई देती है। इनमें मानवाकृति के बाद सबसे प्रमुख स्थान है वाद्यों का। संगीत-विषयक अभिव्यक्ति यों तो गीत, वाद्य और नृत्य–तीनों से संबद्ध है लेकिन प्रस्तुत लेख में हम मुख्य रूप से शिल्प में वाद्यों के अंकन से जुड़ी कुछ प्रमुख समस्याओं की ही चर्चा करेंगे।

भारतीय मनीषियों ने आज से कम से कम दो-ढाई हज़ार साल पहले वाद्यों के चार वर्ग बनाये—तत, अवनद्ध, घन और सुषिर। इनमें से अवनद्ध को वितत भी कहा गया। उल्लेखनीय है कि पश्चिमी देशों में अभी लगभग १५० वर्ष पहले ही वाद्यों के चार वर्ग बनाये गये जो भारतीय वर्गों के समकक्ष हैं। यही वर्गीकरण विश्व में सबसे ज़्यादा वैज्ञानिक माना जाता है। तत आदि वर्गों में से हम तत और अवनद्ध वर्ग के वाद्यों के आधार पर विचार करेंगे क्योंकि एक तो लोक, शास्त्र और कला—इन तीनों क्षेत्रों में इन्हीं दो वर्ग के वाद्यों की विविधता ज़्यादा दिखाई देती है और दूसरे शिल्प में घन और सुषिर वाद्यों की पहचान (identification) करना कठिन है। इसलिये इन दोनों वर्गों के वाद्यों की चर्चा आनुषंगिक रूप से ही की जायगी।

भारत जैसे विशाल देश के हर खण्ड में कलाओं में, ख़ास तौर पर शिल्प और चित्र में, असंख्य कलाकृतियाँ बिखरी पड़ी हैं। उन सबमें वाद्यों के अंकन का कोई पूर्ण सर्वेक्षण अभी तक नहीं हो पाया है इसलिये कोई निष्कर्ष निकालना संभव नहीं है। यहाँ हम केवल यह दिशा सूचन करने का प्रयत्न करेंगे कि इस प्रकार के अध्ययन में क्या समस्याएँ और संभावनाएँ हो सकती हैं तथा क्या सावधानी रखना अपेक्षित हो सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से वाद्य के अध्ययन से संबंधित सामग्री मुख्य रूप से निम्न वर्गों में रखी जा सकती है—१. स्वयं वाद्य या उसके अवशेष, २. शिल्प, चित्र आदि में वाद्यों की अनुकृति, ३. लक्षण ग्रंथों में प्राप्त शाब्दिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवरण, ४. साहित्यिक कृतियों में उल्लेख या विवरण और ५. अभिलेखों, सिक्कों आदि में अंकन।

स्थिति यह है कि डेढ़ दो सौ साल से पहले के वाद्य तो आज प्राप्त नहीं हैं। चित्र-शिल्प में वाद्यों की अनुकृति बड़ी मात्रा में प्राप्त हैं लेकिन उन पर अनेक दृष्टियों से विचार करना अभी बाक़ी है। लक्षण ग्रंथ बहुत से तो लुप्त हैं और जो प्राप्त हैं उनमें काल का बड़ा व्यवधान है। 'नाट्य-शास्त्र' और 'संगीतरत्नाकर' जैसे मुख्य ग्रंथों में कम-से-कम १५–१६ शताब्दियों का अन्तराल है। इन दोनों के बीच केवल 'भरतभाष्यम्' में थोड़ा सा तन्त्री प्रकरण है और कुछ निरूपण 'मानसोल्लास' में प्राप्त है। संगीतरत्नाकर का विवरण पूर्ण होते हुए भी इतना संक्षिप्त है और उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द आज इतने अपरिचित हो गये हैं कि उनके आधार पर वाद्य का सही रूप समझना या निर्मित करना बड़ा कठिन है।

साहित्य में प्राप्त उल्लेख उपयोगी तो हो सकते हैं क्योंकि कभी-कभी किन्हीं प्रचलित वाद्यों के उल्लेख शास्त्र ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होते लेकिन साहित्य में उनका उल्लेख महत्त्वपूर्ण हो सकता है। जैसे १६वीं शताब्दी से पहले के शास्त्रग्रंथों में तम्बूरे का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन वल्लभ संप्रदाय के पदों में १५वीं शताब्दी में भी इसका बार-बार उल्लेख होता रहा है। अभिलेखों और सिक्कों पर वाद्यांकन किसी विशेष पक्ष का सूचक हो सकता है।

शिल्प में हुए वाद्यों के अंकन सम्बन्धी प्रमुख समस्या यह है कि उन्हें कितना प्रामाणिक माना जाय। प्रायः यह देखा जाता है कि चित्रकार या शिल्पी का वाद्य से पूरा परिचय नहीं होता इसलिये उसके द्वारा अंकित वाद्य वास्तविक वाद्य की सही प्रतिकृति नहीं होते। आज उपलब्ध संगीत-सम्बन्धी पुस्तकों के कवर और सरस्वती के हाथ में पकड़ाई गई वीणा के रूप में सितार अथवा चित्रों में अंकित वाद्य इसके प्रमाण हैं। प्राचीन शिल्पी अथवा चित्रकार का वाद्यों से इतना अपरिचय नहीं होता था क्योंकि एक कला में प्रवीणता के साथ अन्यों का भी परिचय ज़रूरी समझा जाता था। फिर भी कुछ व्यतिक्रम तो दिखाई देता ही है इसलिये एक ही आधार को प्रमाण नहीं मान सकते और इसीलिये संगीतशास्त्र, साहित्य आदि दूसरे आधारों को भी लेना पड़ता है।

जैसा कहा जा चुका है, शिल्प में किसी एक क्षण का ही अंकन करना संभव है जब कि संगीत चल और ऐसी सूक्ष्म कला है जिसमें क्रिया हर क्षण बदलती

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहती है। इसलिये शिल्प में अंकित वाद्य के बारे में यह भी विचारणीय है कि किसी 'पॅनल' में वाद्य का अंकन वास्तविक प्रयोग के किसी एक क्षण को अंकित करने के लिये हुआ है या प्रयोग से निरपेक्ष रूप में केवल वाद्य का अंकन करना ही प्रयोजन है ? यह दूसरी समस्या है।

तीसरी समस्या है यह पहचान कि अमुक वाद्य कौन सा है। यह बड़ा कठिन काम है और इसमें कई तरह की कठिनाइयाँ हैं। इनमें से कुछ का संकेत यहाँ किया जायगा। वास्तविक वाद्य ही पहचान के लिये सबसे उपयुक्त आधार हो सकता है, लेकिन प्राचीन वाद्य तो आज प्राप्त नहीं हैं। इस स्थिति में पहचान के लिये लक्षण ग्रंथ ही प्रामाणिक आधार हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि लोक में ऐसे अनेक वाद्य प्रचलित रहे हैं जिनका लक्षण-ग्रंथों में नाम या विवरण प्राप्त नहीं है। प्रमुख अथवा ज़्यादा प्रचलित वाद्यों के ही लक्षण देने की परंपरा रही है। इसका प्रमाण यह है कि ग्रंथकार यह कहते रहे हैं कि जो कुछ ग्रन्थ में 'अनुक्त' है यानी कहा नहीं गया उसे लोक से समझ लेना चाहिये। कई बार यह भी दिखाई देता है कि ग्रन्थोक्त विवरण से शिल्प में कुछ भेद है। उदाहरण के लिये ग्वालियर के पद्मावती मन्दिर के एक शिल्प में वादिका को एक ऐसा अनवद्ध वाद्य बजाते हुए दिखाया गया है जिसकी बनावट और आकार तो ग्रन्थोक्त अवनद्ध झल्लरी जैसा है लेकिन वादन का ढंग ग्रंथ से भिन्न दिखाई देता है।

तत्कालीन लक्ष्य में प्रचलित ऐसे भी कुछ वाद्य हो सकते हैं जो ग्रन्थों में वर्णित हैं और लोक में भी प्रचलित रहे हैं लेकिन उनके साथ आज हमारा विशेष परिचय न रह गया हो। जैसे, संगीतरत्नाकर में हुडुक्का एक प्रमुख अवनद्ध वाद्य है लेकिन उत्तर भारत में केवल पूर्वी उत्तर प्रदेश और उससे लगे हुए बिहार के प्रदेशों में ही आज वह लोक-वाद्य के रूप में जीवित है। इस वाद्य की बनावट बहुत सादी है लेकिन वादन शैली आज भी अत्यन्त विकसित और समृद्ध दिखाई देती है। (उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत के शास्त्रीय संगीत के संगतवाद्यों में हुडुक नाम से एक वाद्य आज भी प्रयुक्त हो रहा है) इस वाद्य का भारत के विभिन्न प्रदेशों के शिल्प में अंकन हुआ दिखाई देता है। इस दृष्टि से वाद्यों के अंकन का अध्ययन करते समय किसी वाद्य के काल और स्थान विशेष की परम्परा पर भी ध्यान देना होगा।

शिल्प में प्रायः वादकों को खड़ी आकृतियों के रूप में अंकित किया गया है। लेकिन लक्षण ग्रंथों में तत और अवनद्ध वर्ग के वाद्यों को प्रायः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बैठ कर बजाने का उल्लेख या संकेत प्राप्त है। विशेष प्रसंगों को छोड़कर लोक में भी बैठ कर बजाने का ही प्रचलन है। इसलिये एक ओर लोक और शास्त्र की परंपरा और दूसरी ओर शिल्प-परंपरा का यह अन्तर चौथी समस्या है। औरंगाबाद की एक गुफ़ा में और ग्वालियर के पवाई (पद्मावती) मंदिर-शिल्प में वादिकाएँ बैठी हुई अंकित की गई हैं। संभव है कि अन्य स्थानों पर भी ऐसा अंकन हुआ हो। इससे यह प्रश्न खड़ा होता है कि क्या उस प्रदेश में उन वाद्यों को बैठकर बजाया जाता होगा और अन्यत्र खड़े होकर ही बजाया जाता होगा? अथवा क्या पूरे 'पॅनल' में संतुलन बनाये रखने के लिये या अभिव्यक्ति की आवश्यकता या सुविधा अथवा अन्य कारणों से खड़ी आकृतियाँ ही अंकित हुई होंगी? अथवा ये 'पॅनल' किसी ऐसे अवसर का अंकन करते होंगे जिनमें खड़े होकर या चलते हुए वादन अपेक्षित होगा, जैसे—जुलूस, शोभायात्रा अथवा उत्सव पर?

यह उल्लेखनीय है कि पिछली कुछ शताब्दियों से नृत्य के साथ वादन के समय वादक नर्तकी के पीछे-पीछे घूमते हुए वादन करते रहे हैं किन्तु यह परम्परा संभवतः मुस्लिम काल की देन है और भारतीय परम्परा में न रही हो या सम्मानजनक न मानी गई हो। इसीलिये ग्रंथों में खड़े होकर या घूमते हुए वादन करने के संकेत नहीं है। यह ध्यान देने योग्य है कि नाट्य-शास्त्र के अनुसार 'पूर्वरंग' में 'कुतपविन्यास' में वादक नियत स्थान पर बैठ कर ही वादन करते थे। बीसवीं शताब्दी में श्रीमती रुक्मिणी देवी अरुण्डेल ने नृत्य के साथ बैठकर वादन करने की शुरुआत की और इस प्रकार वादकों को प्राचीन सम्मान फिर से दिलाने की पहल की थी।

खड़ी वादक आकृतियों से सम्बन्धित प्रमुख समस्या यह है कि एकतंत्री अथवा उससे मिलते-जुलते वाद्यों को खड़े होकर बजाने का जो अंकन शिल्प में है वह वास्तविक नहीं हो सकता। वह सुविधा अथवा सौंदर्य की सृष्टि के लिये किया गया लगता है। संगीतरत्नाकर में एकतंत्री को पैरों के बीच में दबा कर यानी बैठकर बजाने की विधि बताई गई है। यों भी दोनों हाथों से बजाने के लिये एकतंत्री को खड़े होकर धारण करना संभव नहीं है। संभव है कि बनावट की दृष्टि से ग्रंथोक्त एकतंत्री से मिलती-जुलती होने पर भी खड़े होकर बजाते समय इसका प्रयोजन स्वतंत्र वादन अथवा गायन की संगति न होकर केवल तार को छेड़कर आधार स्वर देना हो।

शिल्प और शास्त्र में विपर्यास का एक उदाहरण गंडई (खैरागढ़,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मध्य प्रदेश) के शिव मन्दिर में बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देता है जहाँ वीणा को ग्रन्थोक्त विधान अथवा लोक विधि के विपरीत यानी बाएँ कंधे के स्थान पर दाहिने कंधे पर टिका कर बजाते हुए अंकित किया गया है। इस प्रकार का अंकन वास्तविक विधि का अपवाद ही कहा जा सकता है।

प्राय: पूरे भारत के शिल्प में वाद्य स्त्रियों के हाथ में दिखाया गया है किन्तु छत्तीसगढ़ (मध्य प्रदेश) के गंडई, भोरमदेव आदि के शिल्प में पुरुष वादक भी अंकित हैं। इसके सही मूल्यांकन के लिये ग्रंथों का सहारा लेना आवश्यक होगा। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि नाट्यशास्त्र के बड़ौदा संस्करण में पाठ्यविधि पुरुषों के लिये और गानविधि स्त्रियों के लिये कही गई है[1] किन्तु बनारस संस्करण में पुरुषों के लिये पाठ्य के स्थान पर वाद्यविधि का उल्लेख मिलता है।[2] इस पाठभेद के आधार पर शिल्प में पुरुषों के द्वारा वादन क्रिया के औचित्य पर विचार किया जा सकता है। यह भी संभव है कि किसी विशेष अंचल में स्त्रियों के स्थान पर पुरुषों के द्वारा अवनद्ध वादन किया जाता रहा हो। सामान्य रूप से स्त्रियों द्वारा अवनद्ध वादन की कोई परम्परा ढोलक और ढोल को छोड़कर, आज भारत में प्राय: दिखाई नहीं देती। किन्तु नेपाल में कुछ वर्ष पूर्व तक ध्रुपद गान के साथ स्त्रियों द्वारा पखावज वादन किया जाता था और मणिपुरी नृत्य में स्त्रियों द्वारा खोल वादन अभी भी होता है।

लक्षण के साथ शिल्प का सम्बन्ध जोड़ते समय यह समझना जरूरी होगा कि लक्षण ग्रंथों और शिल्प में क्षेत्रीय प्रभाव है या नहीं और है तो कितना? अथवा क्या कुछ ऐसे वाद्य हैं जिनसे शिल्पियों का अधिक परिचय रहा हो और शायद इसीलिये वे प्राय: सर्वत्र अंकित हुए दिखाई देते हैं?

शिल्प में अंकित अवनद्ध वाद्यों की पहचान के बारे में विचार करने के कुछ आधार ये हैं :—

(१) वाद्य की बनावट और आकार,
(२) निर्माण सामग्री जैसे लकड़ी, धातु, चमड़ा,
(३) धारण और वादन विधि,
(४) विनियोग यानी विशेष अवसर या प्रसंग पर वादन।

---

१. ३३।५-६।
२. ३२।४६५-४६८, संस्क० सन् १९२९।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवनद्ध वाद्यों के आकार की बड़ी विविधता ग्रन्थों में दिखाई देती है। जैसे—खड़े रखकर या आड़े रखकर बजने वाले। प्रायः खड़े अवनद्धों में जोड़ी और आड़े में अकेला वर्णित है। आड़े में दो मुँह वाले जिनमें से कुछ बीच से उभरे हुए कुछ बिल्कुल सपाट और कुछ डमरू की तरह बीच से सँकरे हैं। इनमें दोनों मुँह पर बजाये जाने वाले और केवल एक मुँह पर बजाये जाने वाले भी हैं। विशेष जानवर का चमड़ा, उसमें भी मोटे-पतले का भेद और चमड़ा मढ़ने के तरीक़े में भी अंतर है। जैसे—चमड़े को मुँह पर केवल चिपका दिया गया हो अथवा धातु, वल्ली या लकड़ी का वलय लगाकर विशेष प्रक्रिया से उसमें आरपार सादी डोरी या चमड़े की डोरी डाल कर खींचकर तनाव पैदा किया गया हो अथवा चमड़े की अलग-अलग परत लगाकर उनमें सीवन प्रक्रिया से डोरी डाली गई हो अथवा दोनों सिरों पर अलग-अलग डोरियाँ डालकर वाद्य के बीच में दोनों ओर की डोरियों को खिचा रखने के लिये विशेष व्यवस्था हो। वादन के लिये हथेली, अँगुली या कोण आदि के प्रयोग का भी उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त वाद्य सम्बन्धी ऐसे अनेक छोटे-छोटे ब्योरे दिये गये हैं जो वाद्य निर्माण के लिये आवश्यक हैं।

लक्षण और शिल्पांकन में काफ़ी अन्तर दिखाई देता है और कई बार एक के आधार पर दूसरे को सिद्ध करना भी संभव नहीं होता। कुछ वाद्य ग्रंथों में भी हैं और लक्ष्य में भी। लेकिन शिल्प में प्रायः दिखाई नहीं देते। इससे यह प्रश्न भी उठता है कि लोक और शास्त्र के अनेक वाद्य शिल्प में क्यों छोड़ दिये गये? इसके विपरीत यह भी दिखाई देता है कि प्रयोग से कोई वाद्य लुप्त हो चुका है किन्तु शिल्प में उसके बाद भी एक-डेढ़ शताब्दी तक चला आता है।

संगीत के मूलग्रंथ नाट्यशास्त्र में सौ से भी अधिक अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख है यद्यपि उनका विवरण उसमें नहीं है। इनमें से प्रमुख 'त्रिपुष्कर' है जो तीन वाद्यों का समूह है। इनमें से 'आंकिक' दो मुँह वाला और गोद में आड़ा रखा जाता था तथा 'ऊर्ध्वक' और 'आलिंग्य' एक मुँह वाले खड़े वाद्य थे और आंकिक के सामने रखे जाते थे। ये तीनों वाद्य एक ही वादक द्वारा बजाये जाते थे। संगीतरत्नाकर में इनका उल्लेख नहीं है और दो मुँह वाले आड़े वाद्यों ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया है। आगे चल कर कई शताब्दियों के बाद फिर से जोड़ी वाला खड़ा वाद्य कहीं-कहीं उल्लिखित है।

शिल्प में त्रिपुष्कर के बाद ऊर्ध्वक-आलिंग्य की जोड़ी अलग और आंकिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अलग हो गया है। इसके बाद जोड़ी लुप्त होकर केवल आड़ा वाद्य दिखाई देता है। अंत में जोड़ी फिर से दिखाई देती है जो संभवतः वर्तमान तबला जोड़ी का पूर्वरूप है।

शिल्प के आधार पर तंत्रीवाद्यों की पहचान और लक्षण साम्य स्थापित करना और भी ज़्यादा कठिन है। वीणा यानी तंत्रीवाद्य मुख्यतः दो प्रकार का होता है—एक तो मुक्त तंत्री वाला (harp) जिसमें प्रत्येक स्वर के लिये अलग-अलग तार होते हैं और दूसरा डाँड वाला (lute) जिसमें एक मुख्य तंत्री पर अँगुली या किसी अन्य माध्यम से अलग-अलग स्थानों पर दबा कर विभिन्न स्वर उत्पन्न किये जाते हैं। नाट्यशास्त्र में दो तंत्री वाद्यों का उल्लेख है—७ तार वाली चित्रा और ९ तार वाली विपंची। इनके अलावा 'वीणा' का उल्लेख है लेकिन उसके तारों की संख्या आदि की कोई जानकारी नाट्य-शास्त्र में नहीं है। लगभग १२ सदियों के बाद अभिनवगुप्त ने उसे २१ तार वाली मत्तकोकिला बताया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में उल्लिखित ये सभी तंत्रीवाद्य ऊपर कहे गये पहले वर्ग में आते हैं।

संगीतरत्नाकर के तन्त्री लक्षण को अभी तक पूरी तरह और स्पष्ट रूप में समझा नहीं जा सका है। फिर भी ऐसा दिखाई देता है कि उसमें प्रधानता दूसरे वर्ग के तंत्री वाद्यों की है। इनमें अंगुली, कोण, धनुष आदि से बजने वाली वीणाएँ हैं जिनके आकार, बनावट, धारण विधि और वादन विधि के ब्योरे दिये गये हैं। इन ब्योरों में वाद्य तंत्री और श्रुति तंत्री (चिकारी) की ऊँचाई में अन्तर (level) महत्त्वपूर्ण है। किन्नरी में एक ही कील में ऊपर की ओर श्रुति तंत्री और नीचे की ओर वादन तंत्री है। बाद में उत्तर भारत की रुद्र वीणा और दाक्षिणात्य तंजौर वीणा में वाद्य तंत्री दाहिनी यानी भीतर की ओर तथा उसी ओर कुछ नीचे level पर श्रुति तंत्री या चिकारी का तार है। आगे चलकर वाद्य तंत्री बाईं ओर यानी बाहर की ओर आ गई तथा श्रुति तंत्री भीतर की ओर वाद्य तंत्री की ऊँचाई पर ही है। Level का यह अन्तर वादन की सुविधा के लिये ज़रूरी है। शिल्प में अंकित वाद्यो में level का यह अन्तर समझना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

इनके अलावा वाद्यों की लम्बाई-चौड़ाई, सामग्री यानी धातु, मिट्टी, लकड़ी; धातु में लोहा, पीतल आदि; सारिका (पर्दे) की सामग्री, जैसे लोहा, हड्डी आदि; तार की सामग्री अर्थात् रेशम, सूत, ताँत, लोहा, पीतल,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आदि; घुड़च की सामग्री, श्रुतितंत्री और वाद्यतंत्री किस ओर है—इन सबकी पहचान; कोण या अँगुली में से किसके द्वारा बजाई जाती है; तारों को कसने की विधि आदि को शिल्प में समझना संभव नहीं है।

अवनद्ध वाद्यों में भी इसी प्रकार की अनेक समस्याएँ हैं। जैसे—वाद्य के पात्र की सामग्री, पात्र की वास्तविक लम्बाई-चौड़ाई, चमड़े का मोटा या पतलापन, चमड़े की परतों की संख्या, चमड़े या सूती डोरी का भेद; मुँहों पर लेप और उसकी सामग्री आदि।

शिल्प में वाद्यों की पहचान के सम्बन्ध में जिन चार आधारों की चर्चा की गई है उनमें से वाद्य की स्थूल आकृति और बनावट की, धारणा विधि की और विनियोग की किसी हद तक पहचान की जा सकती है। वाद्य के आकार और बनावट सम्बन्धी सूक्ष्म ब्योरों, निर्माण सामग्री और वादन विधि को शिल्प के द्वारा समझना संभव नहीं है।

अन्त में घन और सुषिर वर्ग के वाद्यों पर भी दृष्टि डाल लेना उचित होगा। ग्रन्थों में घन वाद्य मुख्यतः दो प्रकार के वर्णित हैं। एक तो परस्पर टकरा कर बजाये जाने वाले और दूसरे घर्षण से बजाये जाने वाले। इनमें से प्रथम वर्ग में आने वाले छोटे-बड़े आकार के ताल नामक वाद्य (जैसे—झाँझ, मँजीरा) और नृत्य के समय पैरों में बाँधने वाली क्षुद्र घंटिका (घुंघरू) का अंकन प्रायः शिल्प में दिखाई देता है। घर्षण वाले वाद्य अगर अंकित हुए हों तो उनका अध्ययन अभी शेष है। आज लोक में घन के प्रकार बड़ी संख्या में प्रचलित हैं जबकि ग्रंथों में और शिल्प में बहुत कम दिखाई देते हैं, यह विचारणीय है।

सुषिर वर्ग के वाद्य आकार की दृष्टि से मुख्यतः धत्तूराकार (धतूरे के फूल की तरह बीच से सँकरे और चारों ओर खुल कर चौड़े होने वाले); आड़ी और सीधी धारण की जाने वाली वंशी के प्रकार के, शंख के प्रकार के और 'चक्रिका' (भीतर 'रीड' जैसी व्यवस्था) वाले अथवा बिना चक्रिका वाले, विभिन्न संख्या के छिद्रों से युक्त आदि भेद ग्रंथों में वर्णित हैं।

शिल्प में प्रायः आड़ी और सीधी वंशी, धत्तूराकार छोटे बड़े वाद्य और शंख दृष्टिगोचर होते हैं। शिल्प में केवल स्थूल आकृति (shape) ही समझी जा सकती है, शेष ब्योरे समझना बहुत कठिन है। किन्तु शिल्प में बाँसुरी का जिस प्रकार से अंकन हुआ है उसके आधार पर यह खोजने की कोशिश की जा सकती है कि बाँसुरी का प्रयोजन क्या था ? क्या वह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वतंत्र वादन के लिये अथवा गायन की संगति के लिये अथवा आधार स्वर देने के लिये प्रयुक्त होती थी। इस सम्बन्ध में लक्षण ग्रन्थ और साहित्य —दोनों से कुछ मदद मिल सकती है। 'संगीतरत्नाकर' और 'कुमारसम्भव' दोनों में वंशी के लिये 'स्थानप्रदायी' और 'तानप्रदायी' पाठ मिलते हैं जो महत्त्वपूर्ण आधार बन सकते हैं और इनके साथ शिल्पांकन को मिला कर देखने से कुछ तथ्य निकल सकते हैं।

नृत्य की मुद्राओं में कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये सबसे अधिक क्षेत्र होने के कारण भारत के सभी प्रदेशों के मंदिर शिल्प में अत्यधिक मात्रा में अंकन हुआ है। लक्षण ग्रंथों में नृत्य-सम्बन्धी मुद्राओं का अत्यन्त विस्तार और सूक्ष्म ब्योरों के साथ निरूपण नाट्यशास्त्र से लेकर १५वीं १६वीं शताब्दी तक के ग्रंथों में हुआ है। लक्षण और शिल्प को जोड़ कर अध्ययन करने की दिशा में कुछ प्रयत्न हुए हैं लेकिन अभी बहुत काम शेष है। प्रायः सभी नृत्यशैलियों का मूल नाट्यशास्त्र में प्राप्त होता है जो नृत्यसम्बन्धी लगभग सभी प्रकार की विविधताओं का उत्स है। शिल्प में अंकित विभिन्न मुद्राओं को एक ओर लक्षण ग्रंथों से और दूसरी ओर वर्तमान लक्ष्य के साथ जोड़ना अभी शेष है। सम्भव है कि शिल्पाकृतियों को आज की किसी विशेष शैली के साथ स्पष्टतः न जोड़ा जा सके। उदाहरण के लिये ग्वालियर के पद्मावती शिल्प में एक नर्तकी की मुद्रा को आज की कत्थक शैली से जोड़ने का प्रयत्न किया गया है जो पूरी तरह कत्थक की नहीं है किन्तु नृत्य की स्थानीय लोकशैली में ज्यों की त्यों जीवित कही जाती है।

लोक, शास्त्र और शिल्प आदि में हुए संगीत-विषयक अंकन के अध्ययन से सम्बन्धित और भी पक्ष हो सकते हैं। इस प्रकार का कार्य व्यक्तिगत प्रयत्न की अपेक्षा सामूहिक प्रयत्न के द्वारा अधिक अच्छा हो सकता है क्योंकि ऐसे अध्ययन के लिये विविध विषयों की आधारभूत जानकारी अपेक्षित होती है। पाश्चात्य देशों में शिल्प के आधार पर वाद्यों के पुनर्निर्माण (reconstruction) को बड़ा महत्त्व दिया जा रहा है और अनेक वाद्यों का पुनर्निर्माण हुआ भी है। हमारे देश में इस ओर कोई सुनियोजित और ठोस कार्य अभी तक नहीं हुआ है, कुछ व्यक्तिगत प्रयत्न ज़रूर हुए हैं। किन्तु प्राचीन संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने की जो चेतना जाग्रत हुई है उससे यह आशा की जा सकती है कि शिल्प में संगीत-सम्बन्धी जो अमूल्य निधि सुरक्षित है उसका पुनरुद्धार होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शाङ्‌र्गदेव और उनके टीकाकारों के मंगलाचरण, आत्म-परिचय और उपसंहार

मंगलाचरण

मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में समासोक्ति अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः'।[1] अर्थात् श्लेषयुक्त (अनेक अर्थों से युक्त) 'भेदक' यानी विशेषण पदों के द्वारा 'पर' अर्थात् अप्रस्तुत का कथन समासोक्ति है। इस अलंकार में अनेक अर्थों से युक्त शब्दों से प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का कथन होता है। 'समासोक्ति' का अर्थ है समास रूप में यानी संक्षेप में कहना।

'संगीतरत्नाकर' के प्रथम अध्याय के शुरू में 'ब्रह्मग्रंथिजमारुतानुगतिना' से आरंभ होने वाले श्लोक में शाङ्‌र्गदेव ने समासोक्ति अलंकार का प्रयोग करते हुए मंगलाचरण किया है। यों तो संस्कृत साहित्य में परंपरागत रूप से दृष्ट-अदृष्ट फल की इच्छा अथवा ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति की कामना से सभी ग्रंथकार ग्रंथ का आरंभ करने से पूर्व अपने इष्ट देवता का स्मरण करते हैं। शाङ्‌र्गदेव को संगीत पर ग्रंथ लिखना है इसलिए संगीत के आदि-देव शंकर की उपासना करना ही इस श्लोक का प्रस्तुत अर्थ है। लेकिन इस श्लोक में प्रयुक्त 'हृत्पंकजे', 'सूरीणां', 'श्रुतिपदं', 'ग्राम', 'वर्ण', 'अलंकार', 'जाति', 'नादतनुं', 'शंकर' आदि श्लिष्ट पद हैं, जिनका सीधा अर्थ शंकर की वंदनास्वरूप होते हुए भी प्रतिपाद्य विषय—संगीत—के मुख्य अंगों का कथन भी अप्रस्तुत रूप से यहीं कर दिया गया है। श्लोक इस प्रकार है :—

ब्रह्मग्रंथिजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पंकजे
सूरीणामनुरंजकः श्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते।
यस्मात् ग्रामविभागवर्णरचनाऽलंकारजातिक्रमो
वंदे नादतनुं तमुद्धुरजगद्गीतं मुदे शंकरम् ॥[2]

प्रस्तुत श्लोक का स्तुतिपरक अर्थ इस प्रकार है। निरपेक्ष आनंद के लिए उस शंकर को नमस्कार है जो ब्रह्मग्रंथि से उठने वाली वायु की गति का

१. काव्य०, १०।९७, सूत्र १४८।
२. सं० र०, १।१।१।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुसरण करने वाले चित्त के द्वारा प्रणव आदि वाचक पदों के श्रवण के बाद श्रुतियों का आश्रयरूप है, जो योगियों के हृदय-कमल में रंजक रूप से अर्थात् अपने से अलग पदार्थ को अपने में अंतर्भूत करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है, जिससे ग्राम, धनधान्यादि का विभाजन, ब्राह्मणादि वर्ण, वर्ण रचना, विभिन्न जातियाँ तथा उनकी व्यवस्था बनती है, नाद अथवा आकाश ही जिसका शरीर है तथा जो जगत् के द्वारा उत्कट रूप से गाया जाता है।

संगीत-पक्ष में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है। उस सुखदायक स्वर को या स्वर संदर्भ-रूप गीत को नमस्कार है जो संगीत के तत्त्वज्ञों के हृदयरूप मंद्रस्थान में ब्रह्मग्रंथि से उठने वाली वायु की गति का अनुसरण करने वाले चित्त के द्वारा रंजकता के कारण स्वयं प्रकाशित होता है. जिससे मूर्च्छनादि का आश्रयरूप ग्राम, षड्ज-मध्यमादि ग्राम विभाजन, स्थायी आदि वर्ण, उनका विनियोग, प्रसन्नादि आदि अलंकार, षाड्जी आदि जातियाँ और उन सबकी व्यवस्था उत्पन्न होती है, जो नादस्वरूप ही है और जिसके द्वारा जगत् का उत्कट रूप से गान होता है अथवा जो जगत् में उत्कट रूप से गाया जाता है।

शंकर उस ब्रह्म का सगुण रूप माना गया है जिसकी उपासना 'नादब्रह्म' या 'अक्षर ब्रह्म' के रूप में की जाती है। ग्रंथकार ने 'नादतनुं' विशेषण का प्रयोग करके सगुण शंकर के द्वारा उसी नादब्रह्म के प्रति मंगलाचरण किया है। हमारे यहाँ निर्गुण की उपासना में सगुणोपासना का विशेष महत्त्व है क्योंकि ईश्वर का सगुण रूप निर्गुण तक पहुँचने की सीढ़ी है। आरंभ में चित्त की एकाग्रता न होने से निर्गुण का ध्यान दुष्कर होता है इसलिए सगुण की पूजा विहित मानी गई है। गीत, वाद्य आदि के द्वारा की जाने वाली पूजा और भी श्रेष्ठ मानी गई है क्योंकि गीत रंजक होने के कारण चित्त को सहज ही एकाग्र बना देता है। गीत का आधार भी 'नाद' ही है। अतः 'नादब्रह्म' (संगीत में विशेष महत्त्व होने के कारण प्रथम अध्याय के तृतीय प्रकरण के आरंभ में जिसकी वंदना की जाने वाली है) और 'गीत' दोनों में नाद के व्याप्त होने के कारण अथवा दोनों के नादरूप ही होने के कारण 'नादतनुं' विशेषण अत्यंत सार्थक है।

मनुष्यों के समूहरूप ग्राम आदि की सृष्टि का कारण शंकर-रूप ब्रह्म है उसी प्रकार ग्राम, वर्ण, अलंकार आदि संगीतशास्त्र-गत प्रपंच की सृष्टि का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण भी 'शंकर'-रूप (सुखदायक) गीत ही है। ब्रह्म जिस प्रकार योगियों के हृदय में अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होता है उसी प्रकार गीत भी तत्त्वज्ञों के लिए मूल (मंद्र) स्वरों के उत्पत्ति-स्थान हृदय में स्वतः स्फुट होता है। ब्रह्म जैसे (वेदादि) श्रुतियों का आश्रय है उसी प्रकार गीत भी (छंदोवती आदि) श्रुतियों का आश्रय है। प्रकाशन की क्रिया तो शाब्द बोध के बाद चित्त के द्वारा ही संपन्न होती है, फिर चाहे ईश्वर का प्रकाशन हो अथवा गीत का। शाब्द बोध भी आत्मा से प्रेरित होकर चित्त के द्वारा अनुप्रेरित होने वाली वायु के क्रमशः ब्रह्मग्रंथि से कंठ, मूर्धा आदि स्थानों में चलने पर ही होता है। इस प्रकार मंगलाचरण का प्रत्येक पद अत्यन्त सार्थक और ईश्वर के साथ-साथ गीत-अर्थ में पूरी तरह युक्तिसंगत तो है ही; प्रथम चरण में 'न' की, दूसरे चरण में 'य' की और अन्तिम चरण में 'न' और 'द' की आवृत्ति होने से प्रास का सौंदर्य और श्रवण-माधुर्य होने के कारण यह श्लोक शब्दार्थ के चमत्कार के साथ-साथ स्वर और लय के आनन्द से भी युक्त है। अतः शास्त्र-सिद्धान्तों की परिपक्वतासहित ग्रंथ के अन्तर्गत प्रकट होने वाले साहित्यिक सौन्दर्य का भी पूर्वपरिचायक है।

प्राचीन और मध्ययुगीय दर्शन और काव्यशास्त्र के ग्रंथों के अध्ययन में निरुक्त, भाष्य तथा टीका ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'संगीतरत्नाकर' पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गईं। किन्तु उनमें से 'संगीतरत्नाकर' के अध्ययन में सिंहभूपाल की 'संगीतसुधाकर' और कल्लिनाथ की 'कलानिधि' टीका का विशेष महत्त्व है। इसलिए हमने प्रस्तुत लेख में केवल इन्हीं दो टीकाओं का उपयोग किया है। इन दोनों टीकाकारों ने कुछ भिन्न दृष्टिकोण रखकर मंगलाचरण श्लोक की जो व्याख्या की हैं वे अपने में एक स्वतंत्र लेख की अपेक्षा रखती हैं। फिर भी दोनों के दृष्टिभेद का उल्लेख करना अस्थानीय नहीं होगा।

सिंहभूपाल का दृष्टिकोण पूरे ग्रंथ की व्याख्या में अधिक व्यावहारिक है, ऐसा अनुभव अनेक स्थानों पर होता है। इस श्लोक के सम्बन्ध में भी यही लगता है। शास्त्र की रचना आरम्भ में लक्ष्य यानी क्रिया के आधार पर होती है, यह एक स्वीकृत तथ्य है। 'संगीत' में प्रधानता हमेशा गीत की ही रही, वाद्य और नृत्य या तो गीत के उपरंजक रहे या अनुकर्ता रहे। इसलिए सिंहभूपाल ने इस श्लोक का संगीतपरक अर्थ करते समय 'स्वयं राजते' से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'स्वर' शब्द की निरुक्ति कह कर भी 'गीत' को विशेष्य पद बना कर रंजक स्वरसंदर्भ-रूप गीत की वंदना की है। दूसरी ओर, कल्लिनाथ का दृष्टिकोण अधिक 'पंडिताऊ' और गूढ़ है। लक्ष्य के आधार पर शास्त्ररचना हो जाने के बाद शास्त्र के आधार पर लक्ष्य का विवेचन और कभी-कभी रचना भी होती है। इस दृष्टि से सारी संगीत-सृष्टि का आश्रय स्वर ही सिद्ध होता है। यों तो श्रुति ही मूल है लेकिन प्रयोग की दृष्टि से स्वर ही मूल तत्त्व है। इसीलिए कल्लिनाथ ने संगीत-पक्ष में 'स्वयं राजते' से स्वर की निरुक्ति करके 'शंकर' से 'सुखकर स्वर' अर्थ ग्रहण करके 'स्वर' की वंदना की है।

वंश-परम्परा और आश्रयदाता

मंगलाचरण के बाद शाङ्गंदेव ने अपनी वंशपरम्परा; आश्रयदाताओं और स्वयं अपने बारे में जो श्लोक लिखे हैं वे 'संगीतरत्नाकर' के महत्त्व को और अधिक बढ़ाते हैं। यह सभी जानते हैं कि काश्मीर अत्यन्त प्राचीन काल से श्री व संपदा के साथ-साथ विद्वानों, पंडितों, दार्शनिकों और वाग्देवी के उपासकों की जन्म, कर्म और पुण्य-स्थली रहा है। उसी काश्मीर में वृषगण नामक ऋषि से उत्पन्न एक वंश था जिसकी कीर्ति चारों दिशाओं में फैली थी और जो कल्याण का घर था। उस वंश में श्रेष्ठ याज्ञिक धर्मिष्ठ, वेदज्ञ, अवतारतुल्य, उत्तम ब्राह्मणों में भी श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न हुये। ऐसी ही वंश में शाङ्गंदेव के भास्करनामा पितामह उत्पन्न हुए जो भास्कर अर्थात् सूर्य की ज्योतिरूप तेज के समान ही ब्रह्मतेज के पुंज थे। वे काश्मीर से दक्षिण दिशा की ओर आकर बस गए थे। यह वही काल था जब महमूद ग़ज़नवी के बर्बरतापूर्ण आक्रमणों से संपूर्ण उत्तरापथ भयभीत हो चुका था। विद्वान्, पंडित और कलाममंज्ञों ने काश्मीर छोड़कर अन्यत्र आश्रय ले लिया था। सरस्वती के अनेक पुत्र असमय कालकवलित हो गए थे। जो बचे थे वे आक्रमणकारियों की पहुँच से बाहर के प्रदेशों में चले गए थे। गुरु परम्परा नष्ट हो चली थी और कला तथा लक्ष्य का सम्बन्ध भी टूट चला था। विद्या और कलाप्रेमी राजाओं के आश्रय में ही विद्वानों को सम्मान प्राप्त था।

शाङ्गंदेव के पिता सोढल के आश्रयदाता राजा भिल्लम थे जो अवश्य ही विद्या और कलाओं के प्रेमी रहे होंगे क्योंकि उनसे सोढल ने श्री, संपत्ति और लोककल्याणकारी कीर्ति प्राप्त की थी। भिल्लम के बाद सिंघण इनके

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आश्रयदाता थे। सिंघण देवगिरि के राजा थे जिन्होंने सन् १२१० से १२४७ ई० तक राज्य किया। वे स्वयं अत्यन्त पराक्रमी, गुणवान् और गुणानुरागी थे। सोढल महादानी, यज्ञकर्ता, संपत्तिशाली, धर्मधारक और गुणवान् थे इसलिये अपने अनेक गुणों के कारण इन्होंने अपने आश्रयदाता राजा को प्रसन्न करके वैभव और सम्मान प्राप्त किया था। शाङ्गंदेव क्षीरसागर की तरह निर्मल यशवाले इन्हीं सोढल के पुत्र थे। इसलिए इनका समय १३वीं सदी का पूर्वार्ध कहा जा सकता है।

शाङ्गंदेव ने अपनी वंशपरम्परा और उनके आश्रयदाताओं के साथ-साथ अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह उनकी विद्वत्ता, योग्यता और बहुमुखी प्रतिभा को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है। सम्बन्धित श्लोक इस प्रकार हैं:—

तस्माद्दुग्धाम्बुधेर्जातः शाङ्गंदेवः सुधाकरः।
उपर्युपरि सर्वान्यः सदौदार्यस्फुरत्करः॥
कृतगुरुपदसेवः प्रीणिताशेषदेवः
कलितसकलशास्त्रः पूजिताशेषपात्रः।
जगति विततकीर्त्तिर्मन्मथोदारमूर्तिः
प्रचुरतरविवेकः शाङ्गंदेवोऽयमेकः॥
....
... ...

स विनोदैकरसिको भाग्यवैदग्ध्यभाजनम्।
धनदानेन विप्राणामार्ति संहृत्य शाश्वतीम्॥
जिज्ञासूनां च विद्याभिर्गदार्तानां रसायनैः।[3]

चन्द्रमा के समान शीतल, उदार, कृपादानी तथा कामदेव के समान सुंदर होते हुए भी उन्होंने गुरु चरणों की सेवा की थी, अनंत देवों को प्रसन्न किया था, अनेक विद्वानों को संतुष्ट करके समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया था। वे अत्यन्त विवेकशील व विनोदप्रिय थे और भाग्यलक्ष्मी के कृपापात्र थे। उन्होंने अन्न, वस्त्र तथा धन का दान करके ब्राह्मणों को, विद्यादान करके जिज्ञासुओं को तथा औषधि देकर रोग पीड़ितों को सन्तुष्ट और सुखी किया था। इससे सिद्ध होता है कि शाङ्गंदेव आयुर्वेदाचार्य भी थे। 'पिंडोत्पत्तिप्रकरण' में उनका यह उल्लेख 'अस्मद्विरचितेऽध्यात्मविवेके

३. वही, १।१।९-१३।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वीक्ष्यतां बुधैः'[४] इस बात का प्रमाण है कि वे वेदांत के भी पंडित थे और उन्होंने 'अध्यात्मविवेक' नामक ग्रंथ की रचना भी की थी। यह ग्रंथ अब प्राप्त नहीं है। मुग़लों के आक्रमणों से पीड़ित होने पर विद्वान् तथा कला-मर्मज्ञ आश्रय की खोज में भटक-भटक कर थक गए थे। लेकिन शाङ्र्गदेव में सबका एकत्र ज्ञान-भंडार था, इसका संकेत निम्न श्लोक में मिलता है :—

> नानास्थानेषु संभ्रांता परिश्रांता सरस्वती ।
> सहवासप्रिया शश्वद्विश्राम्यति तदालये ।।[५]

अर्थात् अनेक स्थानों पर घूम-घूम कर सरस्वती थक कर शाङ्र्गदेव के यहाँ उपयुक्त स्थान पाकर उसके निवासस्थान में सहवासप्रिया बनकर शश्वत् विश्राम करती है।

शुद्ध चैतन्यरूप निर्गुण ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ होते हुए भी कठिन और दुष्कर होने के कारण सगुण को सोपान बना कर ही वहाँ तक पहुँचना संभव है। वहाँ भी ध्यान और एकाग्रता सहज नहीं तथा अनाहत नाद की उपासना सुखकर होते हुए भी रंजक नहीं। किन्तु आहत नाद से उत्पन्न गीतादि के सम्यक् प्रयोग द्वारा धर्म, अर्थ व काम की प्राप्ति के साथ-साथ निःश्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति सामान्य मनुष्य को भी अनायास हो जाती है। इसलिए त्रिविध तापों से पीड़ित लोकों के कष्ट को दूर करने के उपाय-स्वरूप संगीत के सम्यक् प्रयोग को सरल बनाने के लिए शाङ्र्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' की रचना की।

शाङ्र्गदेव तथा उसके कुछ समय पूर्व की राजनैतिक स्थिति का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, सिंहभूपाल के टीकाग्रंथ के आरंभ के श्लोकों से भी कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उन परिस्थितियों के प्रभाव से अन्य विद्याओं और कलाओं की भाँति संगीत की प्राचीन परंपरा काफ़ी हद तक टूट चुकी थी और भरत आदि प्राचीन आचार्यों के शास्त्रग्रंथ, जिनके द्वारा संगीत की एक पद्धति स्थिर हुई थी, दुरूह हो गए थे। शाङ्र्गदेव के काल में भी उनके कुछ ही अंश सर्वगम्य थे और अनेक ग्रंथों में सामग्री बिखरी हुई थी। यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को शाङ्र्गदेव ने एकत्र करके अपने लक्ष्य-ज्ञान के अमृत से भर कर, सरस बना कर प्रकट किया। इसलिए पूर्ववर्ती ग्रंथों की

४. वही, १।२।११९।
५. वही, १।१।११।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपेक्षा भी इसका महत्त्व अधिक है। अपने टीकाग्रंथ 'संगीतसुधाकर' के द्वारा 'संगीतरत्नाकर' को 'राजपथ बनाने का यत्न' कह कर सिंहभूपाल ने 'संगीतरत्नाकर' के कार्य की महत्ता को अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट किया है। पहले से बने हुए किसी रास्ते को ही उसकी उपयोगिता के कारण राजपथ बनाया जाता है। लेकिन जैसे किसी बीहड़ वन में से झाड़-झंखाड़ काट कर योजनानुसार कोई कच्चा रास्ता बनाया जाय, जो वर्षों तक अनेक लोगों के उपयोग में आता रहे और तब उसे सर्वसुलभ बनाने के लिए कोई व्यक्ति उस रास्ते को राजपथ बनाने का संकल्प करे, उसी प्रकार का कठिन कार्य 'संगीतरत्नाकर' था। इसे समझना सबके लिए आसान नहीं था। कुछ ही अंशों को सब लोग समझ सकते थे और पूरे ग्रंथ के तत्त्व को समझने वाला तो अपने समय में केवल सिंहभूपाल ही था। इसलिए 'संगीतसुधाकर' के द्वारा उसने 'संगीतरत्नाकर' को ऐसा राजपथ बनाया जिस पर चल कर सभी लोग संगीत-रूपी रत्नाकर तक पहुँच सकें।

सिंहभूपाल ने इस तथ्य को भी स्पष्ट रूप से प्रकट किया है कि किसी विषय के बारे में थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त करके भी स्वतंत्र ग्रंथ की रचना करना आसान है किन्तु किसी अन्य व्यक्ति के किसी सरल ग्रंथ की भी व्याख्या करना तो दूर, उसकी व्याख्या की योजना बनाना भी अत्यन्त कठिन काम है। फिर 'संगीतरत्नाकर' जैसे ग्रंथ की व्याख्या करना तो और भी कठिन है जिसमें संगीतशास्त्र के सारे ग्रंथों को निचोड़ कर रख दिया गया हो। लेकिन सिंहभूपाल ने सभी उपलब्ध शास्त्रग्रंथों का अध्ययन और मंथन किया तथा शास्त्रज्ञों के साथ विचार-विमर्श करके स्पष्टीकरण किया। उसके समय में लक्ष्य और लक्षण का संबंध-विच्छेद हो गया था, यह उसके इस कथन से व्यक्त होता है कि लक्ष्य के बिना शास्त्रकारों में प्रौढ़ता नहीं आती और शास्त्रज्ञान के बिना संगीतज्ञ असंगत बातें कह जाते हैं। किन्तु वह स्वयं लक्ष्य और लक्षण दोनों का ज्ञाता था इसलिए ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की व्याख्या करने के लिए वह अधिकारी व्यक्ति था। यद्यपि उसने इस व्याख्याग्रंथ की रचना स्वान्तःसुखाय और लोककल्याण की भावना से ही की किन्तु द्वेष में विकृत भावना से भर कर जो लोग विकृत निन्दा और आलोचना करते हों उनका मुँह बन्द करने में भी यह ग्रंथ पूरी तरह समर्थ है।

सिंहभूपाल ने अपने ग्रंथ के आरंभ में चार मंगलाचरण श्लोक लिखे हैं जिनमें से पहला कालियमर्दक कृष्ण के प्रति है। इसमें कालियमर्दन के समय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वेणु से उत्पन्न गीत-वाद्य और नाचते हुए कृष्ण की भंगि-विशेप से 'संगीत' को प्रकट करते हुए पद्मलोचन त्रैलोक्यपति विष्णु से रक्षा की प्रार्थना की है। दूसरे श्लोक में श्री-निधान लक्ष्मी की, तीसरे में गणेश की और चौथे में पार्वती की वंदना की है।

सिंहभूपाल राजा अनंत अथवा अनपोत के पुत्र थे जो रेचल्ल वंश में उत्पन्न हुए थे। इनकी राजधानी राजाचल थी और १४ वीं सदी का उत्तरार्ध इनका काल माना जाता है।

'कलानिधि' के आरंभ के चार श्लोक भी देवस्तुति विषयक हैं। इनमें से पहले श्लोक में शंकर की, दूसरे में गणेश की, तीसरे में सरस्वती की और चौथे में शंकर की अथवा शंकर-रूप गुरु की वंदना की गई है। पहले श्लोक के बारे में यह उल्लेखनीय है कि जैसे सिंहभूपाल ने कृष्ण के स्तुति-श्लोक में कृष्ण में ही संगीत के तीनों अंगों की उत्पत्ति की कल्पना की है उसी प्रकार कल्लिनाथ ने शंकर के शरीर में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का पोषण होने से शंकर की वंदना की है। कानों से लटकते हुए कंबल और अश्वतर नामक दो गंधर्व-रूप कुंडलों द्वारा शंकर की स्तुति में गाए जाने वाले गीत के अमृत का आस्वादन करते हुए शिव का सिर हिलने से उसमें स्थित गंगा की तरंगों से पाट-रूप वाद्याक्षर उत्पन्न हो रहे हैं तथा चंद्रमा भी सिर हिलने से कला-कलाप करता हुआ सा प्रतीत होता है जिसमें नृत्य करते हुए ब्रह्मांड के एक खंड के दर्शन होते हैं। गीत, वाद्य और नृत्य के ऐसे आश्रय-रूप शरीर वाले भवानीपति शंकर की वंदना की है।

सिंहभूपाल की तरह कल्लिनाथ ने भी ग्रंथ का आरंभ करने से पहले अपने राज्य, नगर, राजा, वंश और स्वयं अपना संक्षिप्त परिचय दिया है जो विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि कल्लिनाथ प्रसिद्ध विजयनगरम् साम्राज्य में इम्मडि देवराय के राज्यकाल में महामंत्री था। इसका काल १४४६—१४६५ ई० माना गया है इसलिए कल्लिनाथ भी १५ वीं सदी के उत्तरार्ध में थे। यह राज्य अपने उत्कर्ष काल में धन-धान्य, श्री-वैभव से परिपूर्ण था। राजधानी विद्यानगरी (विजयनगर) अनेक सुंदर स्थानों से युक्त थी और इसके शासक यादववंशीय राजा अत्यन्त प्रतापवान् थे जिनकी कीर्ति दिग्-दिगंत में फैली हुई थी। विजयनगर का विद्यानगरी नाम इस तथ्य का सूचक है कि दर्शनीय होने के साथ-साथ विजयनगर विद्या का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

केंद्र भी था। कल्लिनाथ के आश्रयदाता इम्मडि देवराय स्वयं साहित्य, संगीत और कलाओं के ज्ञाता थे तथा उनकी राजसभा में ऐसे धुरंधर विद्याधर, कलाधर और संगीतज्ञ थे जो श्रेष्ठ विद्या प्रेमियों, कला-मर्मज्ञों और संगीत-रसिकों को आनंद प्रदान करते थे। कल्लिनाथ उस सभा में सर्वश्रेष्ठ थे।

कल्लिनाथ संगीतशास्त्र के प्रकांड पंडित और उत्तम कोटि के वाग्गेयकार थे। उनके सामने अन्य वाग्गेयकार नतमस्तक होते थे। उन्होंने अपने समय में उपलब्ध सभी संगीतशास्त्र-ग्रंथों का अध्ययन करके उनका सार ग्रहण करके लक्ष्य और लक्षण, दोनों पर आधारित टीका लिखी। अपने लिए 'अभिनवभरताचार्य' विशेषण का प्रयोग इसका सूचक है कि भरत ने 'नाट्यशास्त्र' लिखकर जो अद्वितीय कार्य किया वैसा ही अद्वितीय और कठिन कार्य 'संगीतरत्नाकर' की टीका लिख कर उन्होंने भी किया।

अपने पितामह वल्लभेश्वर का परिचय देते हुए उनका यह कथन कि ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य की संपदा से उनका क्या वर्णन हो सकता है, कल्लिनाथ की महत्ता का भी सूचक है कि वे ऐसे कुल में उत्पन्न हुए थे। कल्लिनाथ का उपास्य देव ही संगीत था अर्थात् वे संगीत के शास्त्र और क्रिया की ही निरंतर साधना में लीन रहते थे इसलिए उनके आश्रयदाता के हृदय में उनके लिए अत्यंत आदर का भाव था। इसी कारण राजा ने बहुत आदरपूर्वक उनसे अनुरोध किया था कि वे 'संगीतरत्नाकर' पर टीका ग्रंथ की रचना करें।

'संगीतरत्नाकर' के प्रथम श्लोक की टीका के शुरू में कल्लिनाथ का अंतिम श्लोक इस प्रकार है :—

अतः स कल्लिनाथार्यो रत्नाकरनिबंधनम्।
कलानिधिं निबध्नाति लक्ष्यलक्ष्माविरोधतः ।।

इसमें जो रूपक बांधा गया है उसके द्वारा यह व्यंजित होता है कि रत्नाकर अर्थात् सागर को पार करना असंभव है और उस पर सेतु बनाना भी संभव नहीं। लेकिन जैसे श्री रामचन्द्रजी ही सेतु बाँधने में तथा सागर को पार करने में समर्थ हुए उसी प्रकार 'संगीतरत्नाकर' को समझना भी कल्लिनाथ के काल में असंभव हो गया था लेकिन एकमात्र वही उसके तत्त्व को जानते थे इसलिए उन्होंने 'कलानिधि' टीका की रचना की जिसकी सहायता से कोई भी 'रत्नाकर' को समझ सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'संगीतरत्नाकर' की दोनों टीकाओं के प्रारंभिक श्लोकों में अपने कुल का तथा अपना निर्भीक परिचय जहाँ टीकाकारों की प्रौढ़ता, विद्वत्ता, प्रतिभा और आत्मविश्वास को प्रकट करता है वहाँ अन्यपुरुष क्रिया पदों का प्रयोग उनकी निरभिमानिता का द्योतक है। 'अहं' या उत्तम पुरुष क्रिया पदों का प्रयोग क्वचित् ही किया गया है लेकिन जहाँ भी हुआ है उनकी महत्ता का दर्शन कराता है, गर्वोक्ति का सूचक नहीं है।

उपर्युक्त तथ्य शाङ्गंदेव के बारे में तो और भी अधिक सही है क्योंकि प्रथम पदार्थसंग्रह प्रकरण में १५ से १९ श्लोकों के बीच जिन पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है उनके ग्रंथों और मतरूपी पयोनिधि का अगाध ज्ञानरूपी मथानी से मंथन करके उन्होंने उनका साररूप जो नवनीत प्राप्त किया उसे 'संगीतरत्नाकर' के रूप में निबद्ध किया था। उनमें से अनेकों के ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं होते, किन्हीं के ग्रंथ खंडित हैं, कुछ के फुटकर अंश अन्य ग्रंथों में उद्धरणों के रूप में प्राप्त हैं तथा कुछ शास्त्रकारों के तो नामोल्लेख से ही संतोष करना पड़ता है।

उपसंहार

नर्तनाध्याय के अंतिम छह श्लोकों में शाङ्गंदेव ने ग्रंथ का उपसंहार बड़े सुन्दर ढंग से किया है। केवल दोषदर्शन करने वालों के प्रति बड़ा सूक्ष्म कटाक्ष इस पंक्ति में है—'युष्मत्क्षोदक्षमं वस्तु किमत्रास्ति जगत्त्रये'। अर्थात् आप तो दोष निकालने में सक्षम हैं इसलिए तीनों लोकों में आपके सामने कौन-सी वस्तु टिक सकती है! अत्यन्त विनय के साथ ग्रंथकार ने विद्वान् पाठकों से 'अपील' की है क्योंकि सच्चे विद्वज्जन दूसरों के अणु के समान गुणों को भी पहाड़ के समान समझते हैं—'गुणोऽणुरप्यद्रिसमो भवत्सु'। संतों द्वारा प्रेम पूर्वक किसी ग्रंथ का पठन-पाठन ही लेखक के लिए सच्चा पुरस्कार होता है। मुनियों के मार्ग—'सन्मार्ग'—का अनुगमन करने वाले व्यक्ति पर तो सज्जनों का 'निसर्गतः' (स्वाभाविक रूप से) स्नेह रहता है। भगवान् राम 'प्रज्ञा' के वैभव से नहीं बल्कि सेवा तथा भक्ति के कारण कपीश्वर हनुमान् से आनंदित होते थे, इसलिए अंत में ग्रंथकार ने कहा है कि 'संगीतरत्नाकर' के लेखन की प्रवृत्ति विद्यादर्प के कारण नहीं हुई बल्कि विद्वज्जनों के मन में मेरा आवास हो इसके लिए यह ग्रंथ पाथेय मात्र है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनका यह कथन सर्वथा सत्य है। इस ग्रंथ की रचना करके ग्रंथकार विद्वानों के मानस में सदा के लिए अमर हो गए।

नर्तनाध्याय के १६४२ श्लोकों के बाद सिंहभूपाल की टीका प्राप्त नहीं होती इसलिए यह पता नहीं चलता कि उन्होंने टीका का समापन कैसे किया होगा। किन्तु मंगलाचरण की भाँति कल्लिनाथ का उपसंहार भी सार्थक और मूलग्रंथ के महत्त्व पर प्रकाश डालने वाला है। श्री के विलास से विलसित सप्ताध्यायी 'संगीतरत्नाकर'-रूप उदधि को लक्ष्य तथा लक्षण के विस्तृत ज्ञानरूप मथानी से मथ कर 'कलानिधि' के रूप में जानने की इच्छा रखने वालों के लिए उसके अर्थ को स्पष्ट करके रख दिया है। ऐसा महत्कार्य करते हुए, संपूर्ण टीकाग्रंथ में अपने पाँडित्य का पूर्ण परिचय देते हुए भी, 'संगीतरत्नाकर' पर टीका के अंत में टीकाकार की विनम्रता की पराकाष्ठा इन श्लोकों में प्रकट हुई है :—

नदी तद्रूपतामेति प्रविष्टांबुनिधिं यथा।
ज्ञानलेशो मयाप्येवं सर्वज्ञेषु निवेदितः॥

यथाकाशो महान्भूमीरेणूनामवकाशदः।
तथा मज्ज्ञानलेशानां सर्वज्ञा यूयमाश्रयाः॥

एवं रत्नाकरोन्नीतं शुक्तिमुक्ताफलं मया।
सर्वज्ञाः स्वगुणैरेतद्भूषयन्तु कृपान्विताः॥

एवं समृद्धसंगीतरत्नाकरकलानिधौ।
सुधास्वादेन सुधियामानंदश्चिरमेधते॥

अर्थात् जैसे नदी सागर में मिल कर तद्रूपता को प्राप्त करती है उसी प्रकार मैंने भी ज्ञान का जो लेश मेरे पास था उसे 'संगीतरत्नाकर' में मिलाकर सर्वज्ञों के लिए निवेदित कर दिया (और तद्रूपता प्राप्त कर ली। तद्रूपता का अर्थ है 'वही रूप होना')। अथवा जैसे महान् आकाश धूलिकणों को अपने में आश्रय देता है उसी प्रकार मेरे ज्ञान के कणों के आश्रय आप लोग हों। नदी का सागर में मिलना और धूलि कणों का आकाश में आश्रय पाना अहं के त्याग और महानता का वाचक होता है। 'एवं रत्नाकरोन्नीतं ... ... कृपान्विताः' श्लोक में कल्लिनाथ ने अपने कार्य की कठिनता का संकेत देते हुए कहा है कि उन्होंने 'रत्नाकर' में से सीप और मोती सभी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निकाल दिए। अब पाठक 'अपने गुणों से' उन्हें भूषित करें अर्थात् जिनकी जैसी मति होगी वे उतना ही ग्रहण करेंगे। उपर्युक्त श्लोक दार्शनिक पुट के साथ-साथ साहित्यिक सौंदर्य से भी भरपूर हैं जिनका आनंद सहृदय पाठक सहज ही ले सकते हैं।

शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' की रचना करके जैसा कठिन और विलक्षण कार्य किया वह इसकी 'रत्नाकर' संज्ञा के अनुरूप है। किन्तु सिंहभूपाल और कल्लिनाथ ने उसे अपने ज्ञान की मथानी से मथ कर क्रमशः 'सुधाकर' और 'कलानिधि' (चन्द्रमा रूप) टीकाओं की रचना करके पाठकों के लिए ग्रंथ के अमृत की प्राप्ति का साधन उपलब्ध कराया। सागर के भीतर छिपे 'अमृत' को बाहर निकाला अथवा सागर पार करने के लिए 'सेतु' की रचना की अथवा जंगल के बीच बनी पगडंडी को 'राजपथ' बना कर सबके लिए सुलभ किया। इन सभी दृष्टियों से शार्ङ्गदेव के साथ-साथ सिंहभूपाल और कल्लिनाथ भी सदा अमर रहेंगे। वास्तव में संगीतशास्त्र के क्षेत्र में इन्हें 'त्रयी' कहा जाय तो अनुचित नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

डॉ० सुभद्रा चौधरी ३ वर्ष महात्मा गाँधी के सान्निध्य में रहीं।

पाँच वर्ष तक स्व० पं० ओम्कारनाथ ठाकुर से गायन की शिक्षा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 'म्यूज़िकॉलोजी' में स्नातकोत्तर शिक्षा।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ में १९७४ से 'म्यूज़िकॉलोजी' में 'लैक्चरार' और १९८५ से 'रीडर' तथा म्यूज़िकॉलोजी विभाग की अध्यक्षा।

'भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान' पुस्तक तथा लगभग ४५ पर्चों और लेखों का प्रकाशन। 'संगीत में अनुसन्धान की समस्याएँ और क्षेत्र' पुस्तक का संपादन।

'अखिल भारतीय ग्राम सहयोग समाज' के माध्यम से १० वर्षों तक पूर्णकालिक सघन समाजसेवा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai